दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

कबीर की भाषा का भाषावैज्ञानिक
एवं काव्यशास्त्रीय अध्ययन

कबीर की भाषा

कबीर की भाषा का भाषावैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्रीय अध्ययन

महेन्द्र

गुरु गोब्रिंद तौ एक हैं, दूजा सब आकार।
आपा मेटै हरि भजै, तब पावै दीदार ॥ १-२८ ॥
नां कछु किया न करहिंगे, नां करनैं जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर ॥ ८-१ ॥

प्राक्कथन

भाषा का अध्ययन दो दृष्टियों से हो सकता है -- भाषा-वैज्ञानिक तथा काव्य-शास्त्रीय। इन्हीं दोनों आधारों पर प्रस्तुत प्रबन्ध में कबीर की भाषा का अध्ययन दो खंडों में किया गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध की योजना इस प्रकार है—

विषय-सूची के पश्चात विषय प्रवेश है जिसमें कबीर की भाषा के विषय में दिए गए विद्वानों के विभिन्न मत हैं साथ ही प्रस्तुत अध्ययन के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। उसके पश्चात प्रथम खंड, द्वितीय खंड तथा तृतीय खंड हैं। प्रथम खंड में कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन, तथा द्वितीय खंड में काव्यशास्त्रीय अध्ययन है। तृतीय खंड में कबीर की भाषा-शक्ति और भाषा का सांस्कृतिक पक्ष अंश हैं।

भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन—ध्वनि-विचार, रूप-विचार, वाक्य-विचार और शब्द-समूह—इन चार शीर्षकों में विभक्त है। ध्वनि-विचार में लेखन प्रणाली तथा उच्चारण दोनों आधारों पर ध्वनियों का विश्लेषण किया गया है। स्वर और व्यंजनों के विस्तृत अध्ययन के पश्चात कबीर की भाषा की 'संधि' और 'संगम' सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा 'आक्षरिक संरचना' का भी उल्लेख है। रूप-विचार में शब्द-रचना, संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, विशेषण, क्रिया, अव्यय, बलात्मक रूप तथा पुनरावृत्ति पर विचार किया गया है। वाक्य-विचार में पद-क्रम, अन्वय, लोप, गठन और भाव इन पाँच आधारों पर कबीर की वाक्य-रचना का विश्लेषण है। शब्द-समूह में ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक—इन दोनों दृष्टियों से कबीर की शब्दावली का संकेत किया गया है।

काव्यशास्त्रीय अध्ययन का सम्बन्ध भाषा की आन्तरिक विशेषताओं से है। इन विशेषताओं को—शब्द-शक्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, प्रतीक और प्रतीक योजना तथा रीति, वृत्ति, गुण—इन छः शीर्षकों में रखकर वर्णित किया गया है। शब्द-शक्ति, ध्वनि और वक्रोक्ति के उन्हीं भेदों के आधार पर कबीर की भाषा के सौष्ठव का वर्णन है जिनका भाषा से सम्बन्ध है। इसी प्रकार अलंकारों में शब्दालंकारों के साथ-साथ उन अर्थालंकारों के उदाहरण भी कबीर के काव्य से दिए गए हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार का शब्द, या वाक्य विन्यास से सम्ब-

न्धित सौन्दर्य विद्यमान है। प्रतीक और प्रतीक-योजना अंश में प्रतीक का स्वरूप स्पष्ट करके प्रतीक या प्रतीक-योजना के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है जिससे इस विषय का स्पष्ट संकेत मिलता है कि कबीर ने किन-किन स्रोतों से प्रतीकों को ग्रहण किया है। इसी अंश में कबीर की साम्यमूलक और विरोधमूलक प्रतीक-योजनाओं का भी विवेचन है। तदनन्तर रीति, वृत्ति की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालते हुए माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण-व्यंजक-वर्णों के आधार पर कबीर-काव्य से उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं।

तृतीय खंड में दो भाग हैं। (क) भाग में कबीर की भाषा-शक्ति का विवेचन है जिसमें भाषा के काव्य-सौष्ठव पर प्रकाश डाला गया है। (ख) भाग में भाषा का सांस्कृतिक पक्ष वर्णित किया गया है।

इन तीनों खंडों के पश्चात उपसंहार है जिसमें सम्पूर्ण अध्ययन के निष्कर्ष रखे गए हैं। अन्त में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में कबीर द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की सूची है तथा दूसरे में सहायक-ग्रन्थ सूची दी गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध जनवरी सन् १९६५ में पूर्ण हो गया था तथा उसी वर्ष दिल्ली विश्वविद्यालय से दिसम्बर मास में उपाधि भी प्राप्त हो गई थी, किन्तु अनेक उलझनों के कारण प्रकाशन में व्यवधान पड़ता रहा। इस बीच कबीर की भाषा विषयक दो स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। (१) माताबदल जायसवाल कृत 'कबीर की भाषा' (२) भगवत प्रसाद दुबे कृत 'कबीर काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन'। दोनों में ही भाषा के केवल भाषा-वैज्ञानिक पक्ष का निरूपण है। प्रबन्ध की विश्लेषण-पद्धति इन दोनों ही ग्रंथों से सर्वथा भिन्न है तथा भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के साथ काव्यशास्त्रीय अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध श्रद्धेय डॉ० विजयेन्द्र स्नातक तथा श्रद्धेय डॉ० भोलानाथ तिवारी के निर्देशन में लिखा गया है। वस्तुत: इन दोनों की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही मुझे इस कार्य में सफलता प्राप्त हो सकी है। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष गुरुवर डॉ० नगेन्द्र जी के सम्मुख मैं नतमस्तक हूं। शिष्य होने के नाते मैं अपने अधिकार का उपयोग सदैव करता रहा हूं। प्रबन्ध के कार्यकाल में महानन्द मिशन कॉलेज, गाजियाबाद के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० जयचन्द्र राय ने अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए हैं, उनके सम्मुख मैं सदैव प्रणत हूं। श्रद्धेय डॉ० पारसनाथ तिवारी को किन शब्दों में धन्यवाद दूं? प्रस्तुत प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' पर आधारित है। पाठ सम्बन्धी तथा अर्थ-सम्बन्धी अनेक उलझनों को सुलझाने में उन्होंने विशेष सहायता दी है। उनकी सहृदयता मेरे लिए प्रेरक सिद्ध हुई है।

अन्त में उन सभी गुरुजनों एवं मित्रों के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं जिन्होंने

समय-समय पर मेरी सहायता की है। मैं उन सभी विद्वानों का भी अभारी हूं जिनकी रचनाओं से मुझे इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई है।

प्रकाशन एवं मुद्रण की दिशा में जो तत्परता 'शब्दकार' के संचालक श्री जवाहर चौधरी ने तथा रूपक प्रिंटर्स के श्री राममूर्ति तथा सन्तोषकुमार ने दिखाई है उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। पूर्ण सावधानी रखने पर भी मुद्रण की जो अशुद्धियां रह गई हों उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

—महेन्द्र

हिन्दी विभाग
पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज
चित्रगुप्त रोड, नई-दिल्ली

विषय-सूची

विषय प्रवेश १७-२१

खंड १ कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन २५-२०२

१. ध्वनि-विचार २५-५२

१.० अनुलेखन पद्धति (Orthography) २५-२७

१.१ ध्वनि-समूह २७

१.१.१ स्वर २७

१.१.२ व्यंजन २७

१.२ स्वर २७-३५

१.२.१ प्रयोग २७-२८

१.२.२ मूल संयुक्त २८

१.२.३ अनुनासिक २८-२९

१.२.४ उच्चारण २९-३१

१.२.५ स्वर परिवर्तन ३१-३२

१.२.६ स्वरानुक्रम (Vowel-clusters) ३२-३५

१.३. व्यंजन ३५-४६

१.३.१. प्रयोग ३५-३७

१.३.२. चिह्न और उच्चारण ३७-३८

१.३.३. व्यंजन-परिवर्तन ३८-३९

१.३.४. व्यंजन-दीर्घता (Consonantal-length) ४०-४१

१.३.५ संयुक्त व्यंजन (Compound Consonant) ४१-४६

१.४ सन्धि ४६-४७

१.५ संगम (Juncture) ४७-४८

१.६ आक्षरिक संरचना (Syllabic structure) ४८-५०

१.७ स्वरानुक्रम तथा संयुक्त व्यंजनों के कोष्ठक ५१-५२

२. रूप-विचार ५३-१७३
२.१ शब्द-रचना ५३
२.१.० शब्द के दो प्रकार ५३
२.१.१ रूढ़ ५३
२.१.२ यौगिक ५३-५४
२.१.३ रचनात्मक उपसर्ग ५४-५८
२.१.४ रचनात्मक प्रत्यय ५९-६१
२.२ संज्ञा ६२-७४
२.२.१ विभिन्न स्वरों से अन्त होने वाले शब्द ६२-६४
२.२.२ संज्ञा के प्रकार ६४-६७
२.२.२.१ व्यक्ति वाचक, २.२.२.२ जाति वाचक
२.२.२.३ भाव वाचक
२.२.३ लिंग ६८
२.२.४ वचन ६९
२.२.५ कारक-रूप-रचना ६९-७४
२.३ सर्वनाम ७५-१०३
२.३.१. पुरुषवाचक (उत्तम पुरुष; मध्यम पुरुष; अन्य पुरुष, दूरवर्ती निश्चय वाचक, नित्य सम्बन्धी) ७५-९०
२.३.२ निश्चयवाचक ९०-९३
२.३.३ सम्बन्धवाचक ९३-९६
२.३.४ प्रश्नवाचक ९७-९९
२.३.५ अनिश्चयवाचक ९९-१०१
२.३.६ निजवाचक १०१-१०२
२.३.७ आदरवाचक १०२-१०३
२.४ परसर्ग १०४-१०८
२.४.१ कर्म कारक १०५
२.४.२ करण कारक १०५-१०६
२.४.३ सम्प्रदान कारक १०६
२.४.४ अपादान कारक १०६
३.४.५ सम्बन्ध कारक १०६-१०७
२.४.६ अधिकरण कारक १०७-१०८
२.४.७ सम्बोधन कारक १०८
२.४.८ दो पर सर्गों का एक साथ प्रयोग १०८

२.५ विशेषण १०६-१२०
  २.५.१ गुणवाचक १०६
  २.५.२ परिमाणवाचक १०६-११०
  २.५.३ संख्यावाचक ११०-११६
    २.५.३.१ निश्चित, २.५.३.२ अनिश्चित
  २.५.४ सर्वनामिक विशेषण ११६-११८
  २.५.५ विभिन्न सर्वनामों का विशेषणवत् प्रयोग ११८-१२०
२.६ क्रिया १२१-१५१
  २.६.१ धातु १२१-१२८
  २.६.२ सहायक-क्रिया १२८-१३४
  २.६.३ कृदन्त १३४-१३८
  २.६.४ काल-रचना १३८-१४८
    २.६.४.१ मूलकाल १३८-१४६
    २.६.४.२ संयुक्तकाल १४६-१४८
  २.६.५ संयुक्त क्रिया १४८-१५०
  २.६.६ प्रेरणार्थक क्रिया १५०-१५१
  २.६.७ वाच्य १५१
२.७ अव्यय १५२-१६५
  २.७.१ क्रिया-विशेषण १५२-१६१
  २.७.२ सम्बन्ध-बोधक १६१-१६३
  २.७.३ समुच्चय-बोधक १६३-१६५
  २.७.४ विस्मयादि-बोधक १६५
२.८ बलात्मक रूप १६६-१६७
  २.८.१ अवधारणात्मक १६६
  २.८.२ समावेशित रूप १६६-१६७
  २.८.३ प्रतिबन्धित रूप १६७
२.९ पुनरावृत्ति १६८-१७३
  २.९.१ कृदन्त १६८-१६९
  २.९.२ संज्ञा १७०
  २.९.३ क्रिया-विशेषण १७०-१७१
  २.९.४ विशेषण १७१
  २.९.५ सर्वनाम १७१
  २.९.६ समुच्चयबोधक १७१
  २.९.७ क्रिया १७१

२.६.८ विस्मयादि-बोधक १७२

२.६.६ तीन बार आवृत्ति १७२

२.६.१० अन्य प्रकार की पुनरावृत्ति १७२-१७३

२.६.११ वाक्य की पुनरावृत्ति १७३

३. वाक्य-विचार १७४-१८४

३.१ पद-क्रम १७४-१७८

३.१.१ उद्देश्य-विधेय सम्बन्धी १७५-१७६

३.१.२ विशेषण-विशेष्य सम्बन्धी १७६

३.१.३ अव्यय सम्बन्धी १७६-१७७

(क) क्रिया-विशेषण, (ख) सम्बन्ध-बोधक

(ग) समुच्चय-बोधक, (घ) विस्मयादि बोधक

३.१.४ परसर्ग सम्बन्धी १७७-१७८

३.२ अन्वय (Concord) १७८-१८०

३.२.१ कर्त्ता और क्रिया का अन्वय १७८

३.२.२ कर्म और क्रिया का अन्वय १७८-१७६

३.२.३ विशेषण और विशेष्य का अन्वय १७६

३.२.४ सम्बन्धकारक परसर्ग और सम्बद्ध संज्ञा का अन्वय १७६-१८०

३.३ लोप १८०-१८१

३. ३. १ परसर्ग-लोप १८०

३. ३. २ क्रिया-लोप १८०-१८१

३. ३. ३ समुच्चयबोधक-लोप १८१

३. ३. ४ संज्ञा शब्द-लोप १८१

३. ४ गठन १८१-१८४

३. ४. १ सरल वाक्य १८२

३. ४. २ संयुक्त वाक्य १८२-१८४

(क) मिश्रित वाक्य १८२-१८३

(१) संज्ञा उपवाक्य, (२) विशेषण उपवाक्य, (३) क्रिया-विशेषण उपवाक्य

(ख) जटिल वाक्य १८ -१८४

(१) पूर्ण जटिल वाक्य, (२) संयुक्त जटिल वाक्य

३. ५ भाव १८५

४. शब्द-समूह १८६-२०२

४. १ ऐतिहासिक दृष्टि से १८६-१६६

४. १. १ तत्सम १८६-१८७

४. १. २ तद्भव १८७-१८८
४. १. ३ देशज १८८-१९०
(१) अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्द, (२) अनुकरणात्मक शब्द
४. १. ४ विदेशी १९०-१९५
(१) फारसी, (२) अरबी, (३) तुर्की
४. १. ५ मिश्रित शब्द १९५
४. २ सामाजिक या सांस्कृतिक संकेतों की दृष्टि से १९६-२०२
(१) सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द १९६
(२) वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन तथा रंग की सूचक शब्दावली १९७
(३) खाद्य और पेय पदार्थों के सूचक शब्द १९७
(४) गृहस्थी की उपयोगी वस्तुओं तथा स्थानों के सूचक शब्द १९७-१९८
(५) शरीर के विभिन्न अंगों की सूचक शब्दावली १९८
(६) पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष आदि की सूचक शब्दावली १९८-१९९
(७) जाति, व्यापार, व्यवसाय, सिक्के, धातु आदि की सूचक शब्दावली १९९-२००
(८) योगसाधना से सम्बन्धित शब्द २००
(९) पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों की सूचक शब्दावली २००-२०१
(क) पुल्लिग (ख) स्त्रीलिंग
(१०) स्थान, कालविभाजन, दिशा, नक्षत्र आदि से सम्बन्धित शब्दावली २०१-२०२
(११) वाहन तथा मनोविनोद के साधनों से सम्बन्धित शब्द २०२
खंड २ कबीर की भाषा का काव्यशास्त्रीय अध्ययन २०३-२७४
१. शब्द-शक्ति २०६-२१३
(१) अभिधा—अभिधा का महत्व, २०६-२०८
(२) लक्षणा २०८-२१२
(क) रूढ़ि २०९
(ख) प्रयोजनवती २०९-२१२
गौणी लक्षणा, शुद्धा लक्षणा, उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, सारोपा लक्षणा, साध्यवसाना लक्षणा

(३) व्यंजना २१२-२१३

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना २१२

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना २१३

२. ध्वनि—ध्वनि का स्वरूप तथा उसके भेद २१४-२१६

(१) अविवक्षितवाच्य-ध्वनि २१६-२१८

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि २१७

(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि २१७-२१८

(२) विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि २१८-२२०

(क) शब्द-शक्ति-उद्‌भव वस्तु-ध्वनि २१९

(ख) शब्द-शक्ति-उद्‌भव अलंकार-ध्वनि २१९-२२०

३. वक्रोक्ति—वक्रोक्ति का स्वरूप तथा उसके भेद २२१-२२३

(१) वर्णविन्यास-वक्रता २२३-२२४

(२) पदपूर्वार्ध-वक्रता २२४-२२६

(१) रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता २२४

(२) पर्याय-वक्रता २२४

(३) उपचार-वक्रता २२४-२२५

(४) विशेषण-वक्रता २२५

(५) संवृति-वक्रता २२५-२२६

(६) वृत्ति-वक्रता २२६

(७) लिंगवैचित्र्य-वक्रता २२६

(८) क्रियावैचित्र्य-वकता २२६

(३) पदपरार्ध-वक्रता २२७-२२८

(१) कालवैचित्र्य-वक्रता २२७

(२) वचन-वक्रता २२७

(३) पुरुष-वक्रता २२७

(४) उपग्रह-वक्रता २२७-२२८

(५) प्रत्यय-वक्रता २२८

उपसर्ग-वक्रता तथा निपात-वक्रता २२८-२२९

४. अलंकार— २३०-२४०

अलंकार का स्वरूप, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के विभाजक सिद्धान्त, अलंकारों की उपयोगिता; २३०-२३५

अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, वीप्सा, श्लेष, तुल्ययोगिता, कारक दीपक, देहलीदीपक, परिकर, परिकरांकुर, भेदकातिशयोक्ति, कारणमाला, एकावली २३५-२४०

५. प्रतीक और प्रतीक योजना २४१-२६८
प्रतीक का स्वरूप, प्रयोजन तथा प्रतीकों के
विकास का संक्षिप्त इतिहास २४१-२५६
वेदों में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना २४५-२४७
उपनिषदों में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना २४७-२४६
पुराण साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना २४६-२५०
बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना २५०-२५२
सिद्ध साहित्य के प्रतीक और उनकी योजना २५२-२५५
नाथ साहित्य के प्रतीक और उनकी योजना २५५-२५८
कबीर द्वारा व्यवहृत प्रतीकों के स्रोत २५८-२५६
कबीरदास द्वारा प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना २५६-२६८
प्रतीकों के विभिन्न वर्ग २६०-२६१
साम्यमूलक प्रतीक-योजना २६१-२६५
(क) योगसाधनात्मक पारिभाषिक प्रतीकों के माध्यम से २६१-२६२
(ख) संख्यावाची शब्दों से युक्त प्रतीकों के माध्यम से २६२-२६३
(ग) रूपक, अन्योक्ति के रूप में प्रयुक्त भावमूलक
प्रतीकों के माध्यम से २६३-२६५
विरोधमूलक प्रतीक-योजना २६५-२६८
६. रीति, वृत्ति और गुण २६६-२७४
रीति-वृत्ति का स्वरूप तथा उनकी व्यावहारिकता २६६-२७१
गुण का स्वरूप २७१-२७२
माधुर्यगुण-व्यंजक-वर्ण २७२-२७३
ओजगुण-व्यंजक-वर्ण २७३
प्रसादगुण-व्यंजक-वर्ण २७४
खंड ३ २७५-२६५
(क) कबीर की भाषा-शक्ति २७७-२६०
(ख) कबीर की भाषा का सांस्कृतिक पक्ष २६१-२६५
उपसंहार २६६-३००
परिशिष्ट १ कबीर द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की सूची ३०१-३०५
(क) मुहावरे ३०१-३०३
(ख) लोकोक्तियां ३०३-३०५
परिशिष्ट २ सहायक-ग्रन्थ सूची ३०६-३१२

संक्षेप तथा विशेष चिह्न

एक व०	—	एक वचन
बहु व०	—	बहु वचन
पु०	—	पुल्लिग, पुरुष
स्त्री०	—	स्त्रीलिंग
सं०	—	संज्ञा
सर्व०	—	सर्वनाम
वि०	—	विशेषण
क्रि० वि०	—	क्रिया विशेषण
भूत०	—	भूतकालिक कृदन्त
दे०	—	देखिए
<	—	पर रूप से पूर्व रूप के परिवर्तन को बताता है।
>	—	पूर्व रूप से पर रूप के परिवर्तन को बताता है।
~	—	अथवा
√	—	धातु

(क० ग्र० के जो उदाहरण दिए गए हैं उनका रूप इस प्रकार है—र०—रमैनी, चौ० र०—चौंतीसी रमैनी, सा०—साखी, पदों के लिए कोई चिह्न नहीं दिया गया है। पद, रमैनी में पहली संख्या पद-संख्या की है तथा दूसरी पंक्ति की, साखी में पहली संख्या अंग की है, दूसरी दोहे की तथा तीसरी पंक्ति की; चौंतीसी रमैनी में पहली संख्या रमैनी की दूसरी पंक्ति की है।)

ग्रंथों के संकेताक्षर

क० ग्र०	—	कबीर ग्रन्थावली — सं. डॉ० पारसनाथ तिवारी
का० द०	—	काव्यदर्पण
का० प्र०, वि०	—	काव्यप्रकाश, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर
गो०	—	गोरखबानी
चि०	—	चिन्तामणि
सा० द०	—	साहित्यदर्पण (विमला टीका)
हि० का० धा०	—	हिन्दी काव्यधारा
हि० ध्व०	—	हिन्दी ध्वन्यालोक
हि० व० जी०	—	हिन्दी वक्रोक्तिजीवित
हि० व्या०, का० प्र० गु०	—	हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु
हि० व्या०	—	हिन्दी व्याकरण, दुनीचन्द
हि० सा० इ०	—	हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
G. H. L., K.	—	A Grammar of the Hindi Language by Kellogg
O. D. B. L.	—	Origin and Development of Bengali Language

विषय-प्रवेश

सामान्य भाषा या बोली का अध्ययन तो व्याकरणों (ब्रजभाषा व्याकरण) एवं इतिहासों (हिन्दी भाषा का इतिहास) में स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में होता रहा है; किन्तु साहित्यसेवियों या उनकी कृतियों की भाषा आलोचनात्मक या इतिहास-ग्रन्थों के अंश रूप में ही भाषा-शैली शीर्षक के अन्तर्गत विवेचित होती रही है। इधर कुछ वर्षों से कवि या पुस्तक-विशेष को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में विचार किया जाने लगा है। इस दिशा में पृथ्वीराज रासो की भाषा, तुलसीदास की भाषा, सूर की भाषा, जायसी की भाषा आदि ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी परम्परा का एक प्रयास है जिसमें मध्ययुगीन निर्गुण संत काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर की भाषा का अध्ययन किया गया है।

कबीर की भाषा के अध्ययन का प्रारम्भ यों तो कबीर की वाणियों के प्राचीनतम ग्रन्थ 'बीजक' से ही माना जा सकता है जिसका प्रकाशन सन् १८६८ ई० में हुआ था; किन्तु यथार्थतः उसके अध्ययन का श्रेय विचारदास शास्त्री को दिया जा सकता है, जिन्होंने 'बीजक' की भूमिका में कबीर की भाषा पर भी प्रकाश डाला। सन् १९२६ में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी अपने शोध-प्रबन्ध में प्रासंगिक रूप से कबीर की भाषा पर विचार किया। इसके पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाश में आया जिसमें उन्होंने कबीर की भाषा के भाषा-वैज्ञानिक तथा काव्यशास्त्रीय दोनों पक्षों से सम्बद्ध प्रश्नों की ओर संकेत किया है। इससे कुछ ही वर्ष पूर्व सन् १९२३ में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर के १०० पदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित कराया था जिससे विद्वानों का ध्यान कबीर की ओर आकृष्ट हुआ। तब से लेकर आज तक कबीर से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, जिनका उल्लेख परिशिष्ट में कर दिया गया है। प्रारम्भ में संत साहित्य या निर्गुण काव्यधारा के अध्ययन के माध्यम से कबीर की भाषा के अनेक पक्षों पर विचार प्रस्तुत किए गए। बाद में स्वतंत्र रूप से कबीर पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए जिनमें भाषा-सम्बन्धी कुछ मतों तथा अलंकार, प्रतीक आदि काव्यशास्त्रीय विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इन सभी ग्रन्थों में कहीं किसी एक पक्ष को लेकर और कहीं दूसरे पक्ष को लेकर कबीर की भाषा के सौष्ठव का संकेत मात्र कर दिया गया है।

हिन्दी साहित्य की अनेक समस्याओं के साथ ही कबीर की भाषा की समस्या भी बड़ी विवादास्पद रही है। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। इन मतों के आधार पर स्पष्टतः विद्वानों के दो पृथक् वर्ग किए जा सकते हैं। एक वर्ग उन विद्वानों का है जो कबीर को किसी एक भाषा का कवि मानते हैं, दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जिन्होंने कबीर की भाषा में विभिन्न बोलियों का मिश्रण माना है। दूसरे वर्ग के विद्वानों की संख्या अधिक है। कबीर को एक भाषा का कवि मानने वालों में निम्नलिखित मत द्रष्टव्य हैं—

सबसे अधिक प्रबल शब्दों में सूर्यकरण पारीक ने 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा पर विचार करते हुए अपना मत दिया कि "कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसा ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसाकि ढोला-मारू काव्य के कर्त्ता को।"[१] डॉ० बाबूराम सक्सेना ने कबीर को 'अवधी का प्रथम सन्त कवि'[२] कहा। 'बीजक' की भाषा का संकेत करते हुए विचारदास ने लिखा है—"इस ग्रन्थ को कबीर साहब ने पूर्वी भाषा में कहा है···जैसाकि उनका वचन है 'बोली हमरी पूर्व की हमें लखे नहिं कोय। हमको तो सौई लखै, धुर पूरब का होय।' इसके अनुसार ग्रन्थ में संयुक्त प्रान्तीय अवधी भाषा का बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर आदि ज़िलों की भाषा का अधिक समावेश है। इसकी भाषा ठेठ प्राचीन पूर्वी है जिसको सर्वसाधारण हिन्दी जानने वाले भी नहीं समझ सकते हैं।"[३] विचारदास शास्त्री के इस कथन का आधार निश्चय ही कबीर की वह पंक्ति है जिसका उन्होंने कथन के मध्य में उल्लेख किया है। इस पंक्ति के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। श्री परशुराम चतुर्वेदी नें स्पष्ट संकेत किया है कि "साखी का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।"[४] विचारदास के कथन से मिलती-जुलती बात रेवरेंड अहमदशाह ने भी प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि कबीर की बोली 'बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आसपास की है।'[५] 'भोजपुरी के कवि और काव्य' नामक ग्रन्थ में श्री दुर्गाशंकरप्रसादसिंह ने लिखा है कि "कबीर आदि सन्तों की रचनाएँ जो मुख्यतः भोजपुरी में थीं, अवधी की रचनाएँ समझी गईं।"[६] डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी संकेत किया है : "वास्तव में कबीर की मातृभाषा बनारसी बोली थी, जो

---

१. पृ० १३१
२. दक्खिनी हिन्दी, पृ० ३२
३. बीजक, पृ० ३७
४. कबीर-साहित्य की परख, पृ० २१०
५. दी बीजक आफ क़बीर, पृ० २९
६. पृ० ६

भोजपुरी का ही एक रूप है।"[1] मातावदल जायसवाल ने खड़ी वोली को ही कबीर ग्रंथावली की मूलाधार बोली स्वीकार किया है, तथा कबीर की काव्य-भाषा को तत्कालीन हिन्दवी की संज्ञा दी है।[2]

अनेक बोलियों का मिश्रण मानने वाले विद्वानों की संख्या अधिक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि "बीजक की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजावी मिली खड़ी बोली है, पर रमैनी और सवद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।"[3] शुक्लजी ने बुद्धचरित की भूमिका में भी इसी प्रकार की बात कही है। वे लिखते हैं : "कबीरदास ने यद्यपि पंचरंगी मिली-जुली भाषा का व्यवहार किया है जिसमें ब्रजभाषा क्या, उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा-पूरा मेल है जो पंथ वालों की सधुक्कड़ी भाषा हुई, पर पूरबी भाषा की झलक उसमें अधिक है।"[4] प्रासंगिक रूप से डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी कबीर की भाषा पर विचार किया है। उनका मत है कि भोजपुरिया प्रदेश के होते हुए भी कबीर ने तत्कालीन हिन्दुस्तानी कवियों की तरह ब्रजभाषा तथा कभी-कभी अवधी का भी प्रयोग किया। उनकी ब्रजभाषा में कभी कभी पूर्वी रूप (भोजपुरी) झलक जाता है; किन्तु जब वे अपनी भोजपुरी बोली में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पक्ष की भाषा के तत्त्व पाय: दिखाई पड़ते हैं।"[5]

हिन्दी भाषा के विकास पर विचार करते हुए एक अन्य ग्रन्थ में डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है, "भारत के महान् सन्त कवि कबीर (पन्द्रहवीं शती) के प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थों में उपलब्ध उनके काव्य की भाषा (सोलहवीं शती) सूरदास की सी विशुद्ध ब्रजभाषा न होकर एक मिश्रित बोली है। वह हिन्दी (हिन्दुस्थानी) तथा ब्रजभाषा का एक मिश्रित रूप है।"[6] कबीर अथवा कबीर-साहित्य से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों में भी कबीर की भाषा को मिश्रित कहकर वर्णित किया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' की भूमिका में श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि "कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है···कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रिया पद, कारक चिह्नादि

---

१. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० २८ (प्रथम खण्ड); हिन्दी अनुशीलन, वर्ष २, अंक ३; 'कबीर की भाषा' लेख।

२. कबीर की भाषा, पृ० २२९-२३१

३. हि० सा० इ०, पृ० ८०

४. बुद्धचरित, पृ० १४

५. O. D. B. L., Introduction, P. 99.

६. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० २०९-२१०

भी कई भाषाओं के मिलते हैं, क्रिया पदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं।"[१] इसी प्रकार 'सन्त कबीर' की भूमिका में डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिन्दी रूप ही लिए हुए है। उसमें स्थान-स्थान पर पंजाबी प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है।"[२] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी भाषा-वैविध्य के अनेक उदाहरणों का उल्लेख करते हुए कबीर की भाषा में अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पंजाबी तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखलाया है।[३] कुछ ही दिन पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ में डॉ० भगवतप्रसाद दुबे ने कबीर ग्रंथावली की भाषा ब्रज मानी है तथा उसमें पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की बोलियों के रूपों का सहायक रूप में प्रयोग माना है।[४]

इस सम्पूर्ण विवरण से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि कबीर की भाषा का प्रश्न हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन का बड़ा विवादास्पद विषय रहा है। कुछ विद्वानों ने तो कबीर की भाषा को काव्य की भाषा ही स्वीकार नहीं किया। मूलतः यह विवाद तब तक रहा जब तक कबीर का व्यवस्थित पाठ नहीं था। 'बीजक,' 'कबीर-ग्रन्थावली' तथा 'संत कबीर' में से किसी एक को आधार बनाकर विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किए। थोड़ा-बहुत विवेचन समग्र रूप से डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रन्थ 'कबीर और उनका काव्य' में अवश्य किया है; किन्तु उसमें भी संकेत मात्र ही प्राप्त होते हैं। इधर पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के पाठ का निर्णय किया है। अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में इसे ही प्रमाणिक माना जाएगा। इस कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कबीर की भाषा का अध्ययन करने के लिए इसी ग्रन्थ को आधार-स्वरूप ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का महत्त्व निम्नलिखित बातों के कारण है—

(१) कबीर के वैज्ञानिक पाठ के उपलब्ध हो जाने पर भाषा-सम्बन्धी विवाद का निश्चित हल प्रस्तुत करने का इसमें प्रयास किया गया है।

(२) लगभग १००० ई० से १५०० ई० तक की भाषा के स्वरूप-निर्धारण की आवश्यकता है। कबीर उसी काल के कवि हैं। इस कारण कबीर की भाषा के अध्ययन द्वारा भाषा के तत्कालीन स्वरूप के निर्धारण में विशेष सहायता मिल सकती है।

(३) लगभग १००० ई० के अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से आधुनिक भारतीय

---

१. पृ० ५७

२. पृ० २२

३. कबीर-साहित्य की परख, पृ० २१०-२१३

४. कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, पृ० २६१

भाषाओं का विकास प्रारम्भ हुआ तथा लगभग १५०० ई० तक उन भाषाओं का रूप स्पष्ट हुआ। अतः इन पाँच सौ वर्षों के बीच जितने भी कवि हुए हैं, उनकी भाषा संधिकालीन है। विभिन्न व्याकरणिक प्रवृत्तियों के बीज उनकी भाषाओं में हैं। कबीर भी उसी काल के कवि हैं इस कारण अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली इन तीन भाषाओं के आगे के विकास के अध्ययन की दृष्टि से तथा इनकी प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से कबीर की भाषा का यह अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

(४) प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा कबीर की कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

(५) 'कबीर की भाषा-शक्ति' तथा 'भाषा के सांस्कृतिक पक्ष' का इस प्रबन्ध में पृथक् से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड १

कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

प्रथम खंड में कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन —

(१) ध्वनि-विचार

(२) रूप-विचार

(३) वाक्य-विचार

(४) शब्द-समूह

इन चार शीर्षकों में रखकर किया जा रहा है।

१. ध्वनि-विचार

१.० अनुलेखन-पद्धति (Orthography)

लेखन-प्रणाली की दृष्टि से कबीर के काव्य में निम्नलिखित ध्वनियों का प्रयोग मिलता है :—

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, अैं, ओ, औ

व्यंजन—

(१) स्पर्श—

कंठ्य — क् ख् ग् घ्

मूर्द्धन्य— ट् ठ् ड् ढ्

दन्त्य — त् थ् द् ध्

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ्

(२) स्पर्श संघर्षी—च् छ् ज् झ्

(३) अनुनासिक—ण् न् म् (अनुस्वार)

(४) अन्तस्थ—य् र् ल् व्

(५) ऊष्म—ष् स् ह्

(६) उत्क्षिप्त—ड़् ढ़्

लिपि कथ्य भाषा (Spoken Language) को सुरक्षित रखने का बड़ा ही अपूर्ण साधन है। क्योंकि उसमें कथ्य भाषा की अखंड्य ध्वनि (Supra segmental phoneme) सम्बन्धी सूक्ष्मताएँ बिल्कुल ही नहीं आ पातीं। कबीर की भाषा के अध्ययन का आधार, जैसाकि भूमिका में लिख दिया गया है, डॉ० पारस-

नाथ तिवारी द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रन्थावली' ही है। अतः इस प्रकार की सूक्ष्मताओं का उल्लेख करना सम्भव ही नहीं है। कबीर का रचना-काल पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी है। तत्कालीन तथा इससे पूर्व के अन्य लिपिबद्ध काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कबीर की भाषा के ध्वनि-समूह पर विचार करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में बहुत सीमा तक लिपि का ही आधार ग्रहण किया गया है। इस कारण अनुलेखन-पद्धति-सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है।

'अै'

कबीर से पूर्व के या समकालीन ग्रन्थों में यह 'ऐ' रूप में प्राप्त होता है।[1] कबीर के काव्य में केवल दो उदाहरण 'ऐ' रूप में लिखे गए हैं—ऐंड़ो[2], ऐसी[3]। शेष स्थानों पर 'अै' लिपि का ही प्रयोग किया गया है।

अनुस्वार (ं)

ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इन पाँचों के लिए अनुस्वार का प्रयोग हुआ है।

श्

लिपि में इसका प्रयोग नहीं है किन्तु कबीर की 'चौंतीसी रमैनी', जिसमें हर वर्ण के अनुसार छंद कहे गए हैं, में 'स' के लिए 'स', 'ष' के लिए 'ख' और 'श' के लिए 'स' आया है। वैसे भी कबीर के पदों और साखियों में सभी प्रकार के शब्दों में 'श' के स्थान पर 'स' ही मिलता है।

ष्

संयुक्त व्यंजनों में यह विद्यमान है। पृथक् से अधिकांश रूप में जैसाकि ऊपर संकेत किया गया है, 'स' ही लिखा गया है। केवल एक उदाहरण है जिसमें ष मिलता है—'बिष'[4]।

क्ष्

इसके विषय में भी कह देना आवश्यक है, क्योंकि चौंतीसी रमैनी में इसे पृथक् से लिखा गया है। वैसे यह संयुक्त व्यंजन है और लिपि रूप में भी कबीर के काव्य में इसका प्रयोग नहीं है, किन्तु चौंतीसी रमैनी में इसके लिए 'ष' का प्रयोग किया गया है।

---

१. (क) ज्ञानेश्वरी—'ऐसा', 13-719d, (Linguistic Peculiarities of JNANESVARI), P- 255.
(ख) वर्ण-रत्नाकर—ऐन्द्रालिका, पृ० ६, पं० ६
(ग) कीर्तिलता—ऐसो, ४-१०५

२. ७३-२ ३. सा० ७-८-१

४. सा० ५-१२-१

एि[1]

लिपि में यह प्रयोग अनोखा है। डॉ० पारसनाथ तिवारी से पत्र-व्यवहार करने पर ज्ञात हुआ कि यह छपाई की अशुद्धि है। इसे 'ए' ही होना चाहिए।

छन्द की आवश्यकतानुसार ध्वनियों में जोपरिवर्तन किए गए हैं उनके उदाहरण आगे यथास्थान दिए गए हैं।

१.१ ध्वनि-समूह

१.१.१ स्वर—

(१) ह्रस्व—

अ, आँ इ, ई॑, उ, ऊँ, एँ, ओ॑

(२) दीर्घ—

आ, ई, ऊ, ए, अै, ओ, औ

१.१.२ व्यंजन—

(१) स्पर्श—

कंठ्य—क् ख् ग् घ्

मूर्द्धन्य—ट् ठ् ड् ढ्

दन्त्य—त् थ् द् ध्

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ्

(२) स्पर्श संघर्षी—च् छ् ज् झ्

(३) अनुनासिक—ङ्, ञ्, ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह्

(४) अन्तस्थ—य् र् र्ह् ल् ल्ह् व्

(५) ऊष्म—श् स् ह्

(६) उत्क्षिप्त—ड़् ढ़्

१.२ स्वर—

स्वरों का विशेष विचार प्रयोग, मूलसंयुक्त, अनुनासिक, उच्चारण, स्वर परिवर्तन तथा स्वरानुक्रम शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है—

१.२.१ प्रयोग—प्रयोग की दृष्टि से ई, इ, ए, अै, अ, आ, औ, ओ, उ, ऊ ह्रस्व और दीर्घ स्वर शब्द की आदि, मध्य एवं अन्त स्थितियों में पाए जाते हैं। विभिन्न स्थितियों में इन स्वरों की उपस्थिति के उदाहरण अगले पृष्ठ पर दि जा रहे हैं—

---

१. 'धोएि' सा० २-४४-२

स्वर	आदि	मध्य	अंत
ई	ईमांन[१]	सीतल[२]	कमोदनी[३]
इ	इला[४]	जियरा[५]	समाधि[६]
ए	एरंड[७]	सनेह[८]	झूठे[९]
अै	अैसा[१०]	मैदांन[११]	गै[१२]
अ	अकेला[१३]	कमल[१४]	चंद[१५]
आ	आसा[१६]	डार[१७]	पियासा[१८]
औ	औगुन[१९]	कौड़ी[२०]	गौ[२१]
ओ	ओसनि[२२]	लोचन[२३]	जोड़नहारौ[२४]
उ	उदर[२५]	सुखमन[२६]	सुरतानु[२७]
ऊ	ऊजल[२८]	सूरज[२९]	बालू[३०]

१.२.२ **मूल संयुक्त**—आज की परिनिष्ठित हिन्दी की भाँति ही कबीर-काव्य में भी केवल 'अै' और 'औ' दो संयुक्त स्वर हैं, शेष मूल हैं ।

१.२.३ **अनुनासिक**—कबीर-काव्य में निम्नलिखित स्वरों के अनुनासिक रूप प्राप्त हो जाते हैं । आदि, मध्य और अंत स्थितियों में इनके प्रयोग के विभिन्न उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

अनुनासिक स्वर	आदि	मध्य	अंत
ईं	ईंधन[३१]	—	दुलहिनीं[३२]
इं	इंद्रादिक[३३]	आवहिंगे[३४]	मोहिं[३५]

१. १७२-४ २. सा० ९-२८-१ ३. सा० २-२६-१
४. ११३-४ ५. ३९-८ ६. ५७-४
७. १५७-५ ८. १७८-३ ९. ६२-१
१०. १३-७ ११. सा० १४-६-२ १२. सा० ४-३-१
१३. ६८-८ १४. २४-२ १५. ९२-५
१६. २९-४ १७. ११२-३ १८. १३१-६
१९. सा० ६-५-१ २०. ३९-८ २१. १५१-४
२२. सा० ३-१९-२ २३. १०-४ २४. ११३-६
२५. र० ५-२ २६. ५१-६ २७. १२८-८
२८. सा० २०-३-१ २९. १३०-१२ ३०. ६९-९
३१. सा० ३१-२८-१ ३२. १५-१
३३. "अर (?) इंद्रादिक बर ब्रह्मादिक ते बाघिनि घरि खाया।" १६५-७
३४. ५७-१ ३५. २-३

एं	—	बलैंडा[1]	पावहिंगे[2]
अैं	ऍंड़ो[3]	मैंवासी[4]	आवैं[5]
अं	अंम्रित[6]	भंवरा[7]	कहं[8]
आं	आंनि[9]	रांम[10]	रसनां[11]
औं	औंधा[12]	सौंपा[13]	चाखौं[14]
ओं	ओंकार[15]	इंगोंट[16]	—
उं	उंदरी[17]	—	कबहुं[18]
ऊं	ऊंचा[19]	सूंघत[20]	दैहूं[21]

१.२.४ उच्चारण

'अ'

कबीर-काव्य में शब्द के प्रारम्भ और मध्य में 'अ' पूर्णतः स्पष्ट उच्चरित होता है[22] किन्तु शब्दों के अन्त में इसकी स्थिति विचारणीय है। वास्तव में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्ण रूप से विकास नहीं हो पाया था। उस काल की भाषा में कुछ प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश की शेष थीं और कुछ विभिन्न भाषाओं की पृथक्-पृथक् विकसित हो रही थीं। कबीर ने यद्यपि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में काव्य-रचना की, किन्तु फिर भी लोकभाषा के कवि होने के कारण इस दृष्टि से उनमें बहुत-सी प्राचीन और नवीन विशेषताओं

---

१. ५२-३ २. ५७-२

३. 'ऐं' में जो लिपि परिवर्तन है उसके लिए दे० अनुलेखन पद्धति 'अैं' अंश, ७३-२

४. ४-६ ५. ३३-१ ६. २-२

७. ७५-१ ८. ३-७ ९. १-२

१०. १-१० ११. ६-३ १२. १२२-७

१३. सा० १४-२३-२ १४. ६-३ १५. र० १-१

१६. ६०-३

१७. 'उंदरी बपुरी मंगल गावै कछुआ संख बजावै।' ११४-६

१८. १७-६ १९. ५८-८ २०. २-४

२१. ७-१

२२. यद्यपि प्रारम्भ और मध्य 'अ' में मात्रा का अन्तर प्रतीत होता है; किन्तु कबीर के समय में उसका कैसे उच्चारण होता था, यह कहना कठिन है। आज भी इस सूक्ष्मता को केवल ध्वनियंत्रों द्वारा ही देखा जा सकता है।

का मिश्रण पाया जाता है। तत्कालीन कुछ अन्य भाषाओं के स्वरूप को देखने से 'अ' की स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है। तत्कालीन बँगला में अन्त्य 'अ' कहीं शेष था और कहीं लुप्त हो गया था जैसाकि डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने शोध-प्रबंध में लिखा है—"यह अन्त्य 'अ' का लोप पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में होना प्रतीत होता है।"[१] वर्ण-रत्नाकर ग्रन्थ की भूमिका में बँगला के साथ मैथिली के विषय में भी डॉ० चटर्जी ने संकेत किया है कि बोलचाल की मैथिली में सोलहवीं शती के प्रारम्भ में तथा बँगला में पन्द्रहवीं शती के मध्य में अन्त्य 'अ' का लोप दृष्टिगत होता है।[२] कबीर-काव्य में अन्त्य 'अ' कहीं उच्चरित होता है और कहीं नहीं। सामान्यतया जहाँ अन्त में संयुक्त व्यंजन है वहाँ 'अ' भी उच्चरित होता है जैसे—हंस, ब्रह्म, इन्द्र, आदि; किन्तु जहाँ संयुक्त व्यंजन नहीं है वहाँ उच्चरित नहीं होता। जैसे—दुख़, वियोग, सुख, जुग, चतुर आदि।

आ, ई, ऊ, ए, ओ

कबीर के काव्य में ये ध्वनियाँ इसी रूप में लिखी गई हैं; किन्तु कहीं-कहीं इन ध्वनियों का उच्चारण दीर्घ न होकर ह्रस्व रूप में हुआ है। ऐसे स्थानों पर इन्हें क्रमशः आॅ, ई॔, ऊॅ, एॅ, ओॅ रूप में लिखकर बताया जा सकता है। आधुनिक भाषाविज्ञान की शब्दावली के अनुसार ये ध्वनियाँ क्रमशः आ, ई, ऊ, ए, ओ की ही संध्वनि (Allophones) हैं। यथा—

आॅ—हंम बासी उस देश के, **जहां** जाति-पांति कुल नाहिं।[३]

ई॔—जन-जन कौ मन राखतां, बेस्वा रहि **गई** बाँझ।[४]

ऊॅ—करता की गति अगम है **तू** चलि अपनैं उनमांन।[५]

एॅ—इही भरोसे जे रहे, **ते** बूड़े काली धार।[६]

ओॅ—तुझ तुरत छड़ाऊं **मेरो** कह्यौ मांनि।[७]

---

१. "Early middle bengali Period; 1300-1500 A. C.
Final <<a>> seems to have become quiescent <<-a/>> by the middle of the 15th century,"
O. D. B. L. pt. 1; S, K. chatterji, p. 132.

२ "The dropping of the final unaccented —ă seems to have been established in spoken Maithili by the begining of the 16th century: in Bengali, it certainly did by the middle of the 15th."
Varna-Ratnakara; Introduction XXXIX.

३. सा० १०-१४-१

४. सा० ११-४-२

५. सा० १०-१२-१

६. सा० २६-१-२

७. २६-६

ऋ

कवीर के काव्य में 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है। उड़िया तथा मराठी में इसका उच्चारण 'रु' है। जैसाकि डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने संकेत किया है कि यह 'रि' उच्चारण बहुत प्राचीन है। बँगला में भी इसी प्रकार का 'रि' उच्चारण उपलब्ध होता है।[१] इस आधार पर कहा जा सकता है कि जहाँ लिपि में 'रि' दिया गया है वहाँ तो उच्चारण स्पष्ट ही है, जहाँ 'ऋ' है वहाँ भी इसका उच्चारण 'रि' के समान ही है अर्थात् 'सृष्टि'[२] और 'हृदय'[३] का रूप उच्चारण में 'स्रिष्टि' और 'ह्रिदय' ही है।

१.२.५ स्वर-परिवर्तन

(१) कबीर के काव्य में स्वर-परिवर्तन-सम्बन्धी प्रमुख दिशाएँ निम्न हैं :—

(१) स्वरागम—

वृथा > अबिरथा[४]
दर्शन > दरसन[५]
लहर > लहरि[६]

(२) स्वरलोप—

माता > मात[७]
शंका > संक[८]

(३) स्वरों की अनुनासिकता—

कमान > कमांन[९], गुमान > गुमान[१०]

(४) मात्रा-भेद— मात्रा की आवश्यकता के कारण कबीर ने कहीं दीर्घ को ह्रस्व और कहीं ह्रस्व को दीर्घ कर दिया है—

(क) दीर्घ को ह्रस्व—शंका > संक[११]
(ख) ह्रस्व को दीर्घ—कबीर > कबीरा[१२], विचार > बिचारा[१३]

---

1. ' This <<ri>> pronunciation is a very old one, and frequently in the inscriptions, back to the oldest ones,...that <<ri>> was the recognised value for <<r>> in the late MIA period in Bengal " O. D. B. L., pt. I, p. 356.

२. १८१-४ ३. १४६-१० ४. १६१-८
५. १५-११ ६. ६२-२ ७. ७३-६
८. सा० १२-४-१ ९. २५-४ १०. १६५-१३
११. सा० १२-४-१ १२. २००-२ १३. ११८-१

(२) कबीर के काव्य में उपलब्ध स्वर-सम्बन्धी कुछ प्रमुख परिवर्तन निम्न-लिखित हैं—

आ>अ	सेवा>सेव[१]
अय>अै	संशय>संसै[२]
ए>ई	कनेर>कनीर[३]
उ>ऊ	उत्तम>ऊतिम[४]
ऋ>रि	अमृत>अंम्रित[५] कृपा>क्रिपा[६], गृह>ग्रिह[७]
अव>औ	भव>भौ[८]
औ>अव	औलिया>अवलिया[९]
अ>आ	अवधूत>आवधू[१०]

१.२.६ स्वरानुक्रम (Vowel-clusters)—

(क) कबीर-काव्य में साथ-साथ आने वाले स्वरों के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इनमें अधिक संख्या दो स्वरों के साथ-साथ प्रयोग की है। सम्पूर्ण कबीर-काव्य में जो रूप मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :—

अअ—निरअथि[११]	अए—भए[२१]
अआ—अनआया[१२]	आइ—माई,[२२] नाइक[२३]
अइ[१३]—भइ[१४] जइहौ[१५]	आई—पाई[२४] रैनाईर[२५]
अई—भई[१६]	आउ—पसाउ,[२६] जुझाउर[२७]
अउ—पांचउ,[१७] तरउवा[१८]	आऊ—लदाऊ[२८]
अऊ—तऊ[१९] अऊत[२०]	आए—पाए,[२९] चराएहु[३०]

---

१. ६३-६ २. १६-२ ३. सा० १५-५०-२
४. ११०-५ ५. २-२ ६. २५-१०
७. १३-५ ८. १८८-६ ९. १०२-३
१०. ८८-४ ११. र० १७-११ १२. सा० १५-५७-१
१३. एक से अधिक उदाहरण क्रमशः अंत्य, मध्य और आदि प्रयोग के कारण दिए गए हैं।
१४. ६६-५ १५. ५४-१ १६. १५-४
१७. ५-३ १८. १२१-३ १९. २०-७
२०. सा० ४-३८-२ २१. १६७-२ २२. १००-३
२३. १०-१ २४. ६-५ २५. सा० २-६-१
२६. ५४-२ २७. ५९-३ २८. १७६-४
२९. ६-२ ३०. १८८-८

इअ—दुतिअ,[१] जिअत[२]
इआ—बावरिआ,[३] बिआपै[४]
इउ—पिउ[५]
इए—लिए[६]
इअँ—जिअँ[७]
इऔ—लिऔ[८]
ईअ—जीअ[९]
ईआ—पीआ[१०]
ईउ—जीउ[११]
ईए — कीए[१२]
उअ—सुअटा[१३]
उआ—मुआ,[१४] चुआवा[१५]
उइ—दुइ[१६]
उई—रुई[१७]
उए—मुए,[१८] मुएहु[१९]
उअँ—चुअँ[२०]
उओ—मुओ[२१]
ऊआ—हूआ[२२]
ऊए—मूए[२३]
एइ—देइ,[२४] सेइया[२५]
एई—देई[२६]
एउ—जैदेउ[२७]
एऊ—जनेऊ[२८]
ओआ—रोआ[२९]
ओइ—कोइ,[३०] होइगी[३१]
ओई—वहनोई[३२]
ओउ—दोउ[३३]
ओऊ—कोऊ[३४]
ओए—धोए[३५]

इन उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त निम्न उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ तीन एवं चार स्वरों का अनुक्रम दृष्टिगत होता है :—

अँइए—जइए[३६] अइअँ —जइअँ[३७]

---

१. ६७-८ २. १२४-१ ३. ८४-१०
४. ३६-२ ५. ११-१ ६. ४-५
७. सा० २-१-२ ८. २५-६ ९. १३२-२
१०. ५५-१ ११. ४०-२ १२. २६-६
१३. ९-४ १४. ४६-७ १५. १३३-६
१६. २१-५ १७. सा० १५-७१-२ १८. ८५-३
१९. ६९-६ २०. १३३-६ २१. ६४-२
२२. ६०-५ २३. ८५-३ २४. ३४-७
२५. सा०२६-६-२ २६. १२८-६ २७. ४५-५
२८. र० ६-४ २९. ६०-६ ३०. ३-१
३१. १४-७ ३२. १४०-४ ३३. ३२-३
३४. २४-५ ३५. सा० २-४४-२ ३६. १२३-४
३७. २९-५

अईआ—भईआ[१]	इआउ—निआउ[६]
अएउ—भएउ[२]	एइए—सेइए[७]
आइए—पाइए[३]	ओइए—रोइए[८]
आइअँ—जाइअँ[४]	ओइअँ—सोइअँ[९]
इआइ—पतिआइ[५]	इअइअँ—पतिअइअँ[१०]

(ख) इन स्वरानुक्रमों के सानुनासिक रूप भी प्राप्त होते हैं। कहीं तो पहला स्वर अनुनासिक है, कहीं दूसरा और कहीं दोनों ही। इसी आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) पहला स्वर अनुनासिक—

आंइ—डांइनि[११]	आंई—झांई[१२]

(२) दूसरा स्वर अनुनासिक—

अइं—लहरइं[१३]	आएं—सुनाएं[२४]
अईं—भईं[१४]	इअं—अभिअंतरि[२५]
अउं—रहउं,[१५] बदउंगा[१६]	इआं—पनिआं,[२६] गिआंन[२७]
अऊं—नऊं[१७]	इउं—दोनिउं[२८] चिउंटी[२९]
अएं—गएं[१८]	इऊं—पिऊं[३०], जिऊंगा[३१]
आइं—पाइं,[१९] जाइंगे[२०]	
आउं—जाउं[२१]	
आऊं—जाऊं,[२२] आऊंगा[२३]	

---

१. १३५-६ २. २० १-४ ३. ३-८
४. ३९-३ ५. सा० ७-१०-१ ६. १८३-१
७. १०१-१ ८. सा० १९-३-१ ९. सा० ३-४-१
१०. २९-५ ११. २-५ १२. सा० २-३६-१
१३. ३६-५ १४. ९५-६ १५. ९-३
१६. १७८-३ १७. ६९-२ १८. ६२-३
१९. १-३ २०. सा० ४-१६-२ २१. ५३-४
२२. ४-१ २३. १९३-१ २४. १६८-३
२५. ४९-३ २६. १३७-२ २७. १३३-९
२८. १०-१२ २९. सा० १०-८-१ ३०. सा० २-४४-२
३१. १९३-१

इएं —लिएं[१]	उई —कुई[७]
इअैं —चिड़िअैं[२]	उएं —मुएं[८]
ईऊं —जीऊं[३]	ऊएं —मूएं[९]
ईएं—कीएं[४]	एउं —देउं[१०]
उआं—हुआं[५]	ओऊं—जोऊं[११]
उइं —भुइं[६]	ओएं—खोएं[१२]

(३) दोनों स्वर अनुनासिक—

अंईं इहंईं[१३]	आंउं —नांउं[१६]
आंइं—ठांइं[१४]	आंऊं —जिमांऊं[१७]
आंईं—तांईं[१५]	आंएं —ठांएं[१८]

तीनों स्वरों के प्रयोग में अन्तिम स्वर कहीं-कहीं सानुनासिक है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के दो उदाहरण प्राप्त होते है :

इआएं—पिआएं[१९] इएउं—किएउं[२०]

१.३ व्यंजन—

व्यंजनों का विशेष विचार प्रयोग, चिन्ह और उच्चारण, व्यंजन-परिवर्तन, व्यंजन दीर्घता तथा संयुक्त व्यंजन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

१.३.१ **प्रयोग**—प्रयोग की दृष्टि से कबीर-काव्य में उपलब्ध व्यंजनों की आदि, मध्य और अन्त स्थितियों में उपस्थिति के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

व्यंजन	आदि	मध्य	अन्त
क	कमल[२१]	सूकर[२२]	फूँक[२३]
ख	खेत[२४]	मेखुली[२५]	मुख[२६]

---

१. २६-३ २. सा० १५-५४-१ ३. १६०-८
४. १७७-५ ५. सा० १४-७-१ ६. १४६-६
७. १३१-५ ८. ५५-५ ९. ६८-८
१०. ४२-७ ११. १५-३ १२. सा० १५-३७-१
१३. १७७-१२ १४. सा० ४-४-१ १५. ११-३
१६. २२-१ १७. १३१-८ १८. सा० ४-४-१
१९. १६८-४ २०. ११-३ २१. २४-२
२२. २०-७ २३. सा० १-५-२ २४. ९१-१
२५. १३३-४ २६. १९-१

व्यंजन	आदि	मध्य	अन्त
ग	गरीब[१]	जगत[२]	जोग[३]
घ	घट[४]	रघुपति[५]	अघ[६]
ट	टीका[७]	पटंबर[८]	कपट[९]
ठ	ठग[१०]	मिठाई[११]	झूठ[१२]
ड	डाल[१३]	पंडित[१४]	खड[१५]
ढ	ढोल[१६]	ढंढोरतां[१७]	—
त	तन[१८]	सीतल[१९]	सूत[२०]
थ	थाहा[२१]	कोथली[२२]	हाथ[२३]
द	दया[२४]	बिदेस[२५]	पद[२६]
ध	धार[२७]	माधव[२८]	दूध[२९]
प	पवन[३०]	गोपाल[३१]	धूप[३२]
फ	फल[३३]	गुफा[३४]	—
ब	बाज[३५]	कबीर[३६]	गालिब[३७]
भ	भगत[३८]	बभनीं[३९]	लोभ[४०]
च	चरन[४१]	बिचार[४२]	लालच[४३]

---

१. ४२-१ २. ४९-१ ३. १०-११
४. २-६ ५ ८६-२ ६. १४५-७
७. १४३-३ ८. ६५-५ ९. १०-६
१०. ४९-१ ११. २२-६ १२. ९०-७
१३. सा० ३०-१३-२ १४. ८५-८ १५. ३४-११
१६. १४-२ १७. सा० ९-३२-२ १८. ४-४
१९. सा० ९-२८-१ २०. ८९-७ २१. ४३-७
२२. सा० ३१-१५-१ २३. ९४-३ २४. १५-९
२५. सा० १८-८-१ २६. १०-६ २७. १०-८
२८. ३२-७ २९. १६८-४ ३०. ५७-४
३१. १५५-१२ ३२. र० २-४ ३३. १०-१२
३४. १२२-५ ३५. १३७-४ ३६. १-१०
३७. १७०-५ ३८. १-४ ३९. १२८-३
४०. २५-४ ४१. १०-१५ ४२. ४-४
४३. ७४-३

छ	छाया[1]	कछुआ[2]	गोवछ[3]
ज	जीव[4]	काजल[5]	गाज[6]
झ	झोली[7]	संझा[8]	बांझ[9]
ण	—	हणवंत[10]	गण[11]
न	नर[12]	कनक[13]	तन[14]
म	मन[15]	अमर[16]	करम[17]
य	यह[18]	सियार[19]	हिय[20]
र	रतन[21]	नरक[22]	अधर[23]
ल	लोक[24]	आलम[25]	काल[26]
व	वार[27]	देवकी[28]	देव[29]
ष	षंडै[30]	ओषद[31]	बिष[32]
स	सनेह[33]	जसरथ[34]	रस[35]
ह	हरि[36]	लहरि[37]	मोह[38]
ड़	—	पुड़िया[39]	पेड़[40]
ढ़	—	गाढ़ी[41]	गढ़[42]

१.३.२ चिह्न और उच्चारण --

'ङ्' 'ञ्',

कबीर के काव्य में ये दोनों व्यंजन लिपि में नहीं हैं। इनके स्थान पर अनु-

---

१. ७८-३ २. ११४-६ ३. र० २०-७
४. ३६-७ ५. १६५-३ ६. सा ३-१८-२
७. सा० २-५-१ ८. ७२-३ ९. ६४-४
१०. १९८-५ ११. १३३-४ १२. ३१-४
१३. सा० ३०-१०-१ १४. ४-४ १५. १-७
१६. ४४-३ १७. १०-३ १८. १०-१३
१९. ७१-६ २०. र० १९-३ २१. ६०-१
२२. ६९-२ २३. १४६-६ २४. ३-२
२५. ६६-३ २६. २०-४ २७. ३६-५
२८. १५८-९ २९. ३१-३ ३०. ११९-४
३१. ८-३ ३२. सा० ५-१२-१ ३३. १७८-३
३४. १५८-५ ३५. १७-५ ३६. ११-१
३७. २४-४ ३८. ४-६ ३९. सा० १५-४-१
४०. ३८-५ ४१. १६५-३ ४२. २५-१

स्वार (ं) का प्रयोग किया गया है किन्तु संयुक्त व्यंजन के उच्चारण में ये शेष हैं—

ङ्—पंकज (पङ्कज्),[१] गंगा (गङ्गा)[२]
ञ्—पिंजरु (पिञ्जरु)[३] बंछित (बञ्छित्)[४]
कोष्ठ में उच्चारण रूप दिए गए हैं।

'न्,' 'म्'

इन दोनों व्यंजनों के लिए इन चिन्हों के अतिरिक्त अनुस्वार (ं) का प्रयोग भी कबीर ने किया है। चिन्ह या अनुस्वार के उच्चारण में अन्तर नहीं है—

न्—कंत,[५] कीन्हीं[६]
म्—कुंभ,[७] कुम्हार[८]

ष्

उच्चारण की दृष्टि से 'ष' ध्वनि आज की तरह ही 'श' है। कबीर ने इस ध्वनि का बहुत ही कम प्रयोग किया है, जैसे—अ्रष्ट[९]; लिपि में इस ध्वनि के लिए 'ख्' तथा 'स्' का प्रयोग किया गया है तथा 'ष्' रूप लिपि में 'ख्' तथा 'क्ष' के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—

'ष्' के लिए 'ख्'—संतोखु[१०] (संतोष)
'ष्' के लिए 'स्'—बरस[११] (वर्ष)
'ष्' का 'ख्' के लिए—षंडै[१२] (खंडै)
'ष्' का 'क्ष्' के लिए—षष्षा[१३] (क्षक्षा)

१.३.३ व्यंजन-परिवर्तन—

तद्भव शब्दों में तत्सम तथा आधुनिक काल में प्रयुक्त शब्दों की तुलना में जो व्यंजन-परिवर्तन कबीर-काव्य में उपलब्ध होते हैं उनमें से प्रमुख नीचे दिये जा रहे हैं—

क>ख — केवर्त>खेवट[१४] (केवट)
>ग — प्रकाश>परगासु,[१५] सेवक>सेवग,[१६] रक्त>रगत[१७]
>य — अंगिका>अंगिया[१८]

---

१. ३०-४ २. १-५ ३. ६-४
४. ४७-४ ५. सा० ११-७-१ ६. १-७
७. ३४-८ ८. सा० १२-१-२ ९. १०८-४
१०. २५-६ ११. ८३-३ १२. ११६-४
१३. चौ० र० ४०-१ १४. १२०-४ १५. ८०-६
१६. ६३-६ १७. १२४-४ १८. सा० ११-१६-१

झ>ज	झूठा>जूठ[1]
ड़>र	बेड़ा>भेरा[2]
ण>न	गुण>गुन[3], चरण>चरन[4]
द>क	छिद्र>छेक[5]
>ज	दुर्योधन>जरिजोधन[6]
>ड	दंड>डंड[7]
भ>ब	बेड़ा>भेरा[8]
म>व	आवागमन>आवागवन[9]
य>ज	यज्ञ>जग्नि[10] योग>जोग[11]
र>ल	डाल>डार[12]
व>ब	वस्तु>बस्तु[13]
>भ	गह्वर>गहभरा[14]
>उ	सुखदेव>सुखदेउ[15]
श>स	आशा>आसा,[16] प्रकाश>परगासु[17]
ष>ख	संतोष>संतोखु[18]
>स	वर्ष>बरस[19]
क्ष>क्ख	अक्षर>अक्खिर[20]
>ख	प्रत्यक्ष>प्रतखि[21]
>छ	लक्ष्मी>लछिमी[22]
ज्ञ>ग्य	ज्ञान>ग्यांन[23]

इनमें द>क परिवर्तन सबसे विचित्र है। अन्य सामान्य हैं।

किन्तु ये प्रयोग कबीर की अपनी विशेषता नहीं कहे जा सकते। कबीर के समकालीन अन्य कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के परिवर्तन उपलब्ध हो जाएँगे। अतः इन्हें तत्कालीन भाषा की सामान्य विशेषता मानना समीचीन होगा।

---

१. १९२-३ २. सा० १-१०-२ ३. १०-१५
४. र० १३-१ ५. सा० १-९-२ ६. १५५-१६
७. सा० १६-६-२ ८. सा० १-१०-२ ९. ४०-६
१०. ३३-४ ११. १०-११ १२. ११२-३
१३. ७२-५ १४. सा० १४-३९-१ १५. १९८-५
१६. २९-४ १७. ८०-६ १८. २५-९
१९. ८३-४ २०. चौ० र० ४१-१ २१. १८७-१०
२२. ३५-७ २३. ४-२

१.३.४ व्यंजन—दीर्घता (Consonantal-length).

कबीर-काव्य में व्यंजन-दीर्घता के उदाहरण भी प्राप्त हो जाते हैं। इसीको कुछ विद्वान 'द्वित्व व्यंजन' (Double consonant) के नाम से भी पुकारते हैं।[१]

कबीर के पदों तथा साखियों में कुछ व्यंजनों की दीर्घता के उदाहरण विद्यमान हैं य, र, ल, श, ष, ह को छोड़कर शेष व्यंजनों का दीर्घ रूप चौतीसी रमैनी में है। 'य' के लिए ज, तथा श के लिए स का प्रयोग है। इन्हें पृथक् दो वर्गों में विभाजित कर नीचे प्रस्तुत किया गया है :—

(१) पदों तथा साखियों में प्राप्त व्यंजन-दीर्घता :—

क्क—मक्के[२]	न्न—धन्नि[८]
ग्ग—सरग्गि[३]	प्प—छप्पन[९]
ज्ज—मज्जनि[४]	म्म मरम्म[१०]
ट्ट—अघट्ट[५]	ल्ल—अल्लाह[११]
त्त—सत्तरि[६]	व्व—अव्वलि[१२]
द्द—हद्द[७]	

(२) चौतीसी रमैनी में उपर्युक्त व्यंजन—दीर्घता तो है ही, इसके अतिरिक्त अन्य व्यंजन-दीर्घता के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

ख्ख—खख्खा[१३]	ठ्ठ—ठठ्ठा[१८]
घ्घ—घघ्घा[१४]	ड्ड—डड्डा[१९]
च्च—चच्चा[१५]	ढ्ढ—ढढ्ढा[२०]
छ्छ—छछ्छा[१६]	थ्थ—थथ्था[२१]
झ्झ—झझ्झा[१७]	ध्ध—धध्धा[२२]

---

१. भाषा-विज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० १२६

२. १९३-४　　३. सा० २-२०-१　　४. ८४-५

५. सा० १-१५-१　　६. ४२-३　　७. सा० ६-२१-१

८. ११-५　　९. ४२-४　　१०. सा० २-३५-२

११. ८७-६　　१२. १८५-३　　१३. चौ० र० ७-१

१४. चौ० र० ९-१　　१५. चौ० र० ११-१　　१६. चौ० र०१२-१

१७. चौ० र० १४-१　　१८. चौ० र० १७-१　　१९. चौ०र० १८-१

२०. चौ० र० १९-१　　२१. चौ०र० २२-१　　२२. चौ० र० २४-१

फ्फ —फफ्फा[1]
ब्ब—वब्बा[2]
म्म—मम्मा[3]
स्स—सस्सा[4]
ष्ष[5]—षष्षा[6]

इनमें अल्पप्राण और महाप्राण दोनों प्रकार के व्यंजनों की दीर्घता के उदाहरण हैं। जो महाप्राण व्यंजनों की दीर्घता के उदाहरण हैं उनमें मध्य का महाप्राण व्यंजन अल्पप्राण रूप में उच्चरित होता है। जैसे—खख्खा, घघ्घा, छछ्छा, थथ्था आदि का उच्चारण क्रमशः खक्खा, घग्घा, छच्छा, थत्था रूप में होता है।

व्यंजन-दीर्घता के सभी रूप शब्द के मध्य में आते हैं। अघट्ट, तत्त, भिन्न, हद्द, मरम्म रूपों में अन्तिम 'अ' उच्चरित होता है।

१.३.५ संयुक्त व्यंजन (Compound consonant)

व्यंजन-दीर्घता के साथ संयुक्त व्यंजन के उदाहरण भी कबीर के काव्य में हैं।[7] सुविधा के लिए इन्हें भी निम्न विभिन्न वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) अल्पप्राण स्पर्श+स्ववर्गीय महाप्राण स्पर्श

क्ख · अक्खर[8]
च्छ—पच्छिमि[9]
ज्झ—तुज्झ[10]
त्थ—समरत्थ[11]
द्ध—मद्धिम[12]

ये सभी शब्द के मध्य में प्रयुक्त होते हैं जहाँ कहीं अन्त में हैं भी उनमें 'अंत्य' स्वर शेष है।

(२) र या ल+व्यंजन

र्प—सर्प[13]

१. चौ० र० २७-१ २. चौ० र० २८-१ ३. चौ० र० २९-१

४. चौ० र० ३६-१; ३८-१

५. ऐसा प्रतीत होता है यहाँ 'ष' 'क्ष' के लिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि 'ष' के लिए पूर्व 'स' का प्रयोग है।

६. चौ० र० ४०-१

७. इन्हें कुछ विद्वानों ने व्यंजन संयोग भी कहा है—दे० लेख—हिन्दुस्तानी, पृ० १०४

८. २१-५ ९. १७७-११ १०. सा० २-२५-१

११. सा० ९-३२-१ १२. १८२-५ १३. १२०-४

र्ब—निर्बंध[१]
र्म—धर्म[२]
र्य—डार्यौ[३]
ल्य—ल्यौ[४] मिल्यौ[५]

केवल 'ल्य' शब्द के प्रारम्भ और मध्य में, शेष शब्द के मध्य में प्रयुक्त होते हैं।

(३) स+व्यंजन

(अ) जो केवल शब्द के मध्य में आते हैं—

स्ट—अदिस्ट[६]
स्त—मस्तकि,[७] सास्त्र[८]
स्थ—अवस्था[९]
स्न—बिस्नु[१०]

(आ) जो शब्द के प्रारम्भ और मध्य दोनों में आते हैं—

स्य—स्यार,[११] डस्यौ[१२]
स्र—स्रवनूं[१३] आस्रम[१४]
स्व—स्वाद,[१५] बेस्वा[१६]

(४) व्यंजन+य

(अ) जो शब्द के प्रारम्भ में आते हैं—

क्य—क्या[१७]
छ्य—छ्यांनवै[१८]
प्य—प्यारी[१९]
म्य—म्यांन[२०]

(आ) जो शब्द के मध्य में आते हैं :—

ख्य—देख्यौ[२१]
च्य—रच्यौ[२२]

---

१. १-६ २. सा० १५-३३-१ ३. २३-३
४. ३५-६ ५. ३६-६ ६. सा० १०-१६-२
७. ८-५ ८. र० १४-५ ९. ६९-८
१०. ९०-८ ११. १२०-५ १२. ३६-५
१३. ४१-४ १४. र० १४-४ १५. २५-५
१६. सा० ३-२०-२ १७. २३-५ १८. ६६-४
१९. २-३ २०. ८७-६ २१. १०९-७
२२. १०-३

ट्य—प्रगट्यौ[1]
डय—छांड्यौ[2]
ढ्य—बाढ्यौ[3]
ण्य—बिण्यांणी[4]
थ्य—मिथ्या[5]
भ्य—जिभ्या[6]
र्य—डार्यौ[7]
ह्य—रह्यौ[8]

(इ) जो शब्द के प्रारम्भ और मध्य दोनों में आते हैं—

ग्य—ग्यांन,[9] मांग्या[10]
ज्य—ज्यौं,[11] भज्यौ[12]
त्य—त्यौं,[13] मृत्यु[14]
द्य—द्यौहाड़ी,[15] बिद्या[16]
ध्य—ध्यांन[17] बांध्यौ[18]
न्य—न्यारा,[19] संन्यासी[20]
ब्य—ब्यापक,[21] अनब्यावर[22]
ल्य—ल्यौ,[23] चल्यौ[24]
स्य—स्याम,[25] डस्यौ[26]

(५) व्यंजन+र

(अ) जो शब्द के प्रारम्भ में आते हैं :—

प्र—प्रीतम[27]
भ्र—भ्रिंगी[28]
ह्र—ह्रिदै[29]

---

१. २६-१० २. १५-४ ३. १५-११
४. ९३-२ ५. ४४-३ ६. ३४-१२
७. २३-३ ८. २१-२ ९. ४-२
१०. १५९-३ ११. ७-२ १२. ६३-७
१३. ७-२ १४. र० १२-२ १५. सा० १-१९-१
१६. १०१-३ १७. ५६-३ १८. ४१-६
१९. १४-४ २०. १९८-४ २१. १७-२
२२. सा० १३-३-१ २३. ३५-९ २४. ८३-१०
२५. ८७-६ २६. ३६-५ २७. ६-१
२८. १-१ २९. २३-६

(आ) जो शब्द के मध्य में आते हैं—

घ्र—गंघ्रब[१]

ज्र—वज्र[२]

(इ) जो शब्द के प्रारम्भ और मध्य में आते हैं—

क्र—क्रोध,[३] चक्र[४]

ग्र—ग्रेह[५] संग्रह[६]

त्र—त्रिभुवन[७] चात्रिग[८]

द्र—द्रुगम[९] निद्रा[१०]

ध्र—ध्रिग,[११] गंध्रब[१२]

ब्र—ब्रत,[१३] सोब्रन[१४]

म्र—म्रिगछाला,[१५] संम्रथ[१६]

(६) व्यंजन+व

(अ) जो शब्द के प्रारम्भ में आते हैं :—

क्व—क्वांरी[१७]

ख्व—ख्वार[१८]

ग्व—ग्वालन[१९]

ज्व—ज्वाला[२०]

द्व—द्वारै[२१]

ह्व—ह्वैला[२२]

(आ) जो शब्द के मध्य में आते हैं—

त्त्व—तत्त्व[२३]

(७) अनुनासिक+व्यंजन

(अ) ङ+व्यंजन

ङ्क—पंकज[२४]

---

१. १४९-८ २. र० १८-१ ३. ३-४
४. ११५-६ ५. १०-३ ६. ८९-३
७. ४७-४ ८. ६६-८ ९. १३०-३
१०. १५-६ ११. र० १७-८ १२. १३३-४
१३. ७७-३ १४. सा० ३३-७-३ १५. २४-४
१६. सा० ११-८-१ १७. १६०-३ १८. सा० २१-२२-१
१९. र० ३-४ २०. सा० ९-३०-२ २१. ३३-२
२२. १६६-३ २३. सा० १६-१४-१ २४. ३०-४

ङ्ख—पंख[१]
ङ्ग—गंगा[२]
ङ्घ—लंघी[३]
ये शब्द के मध्य में आते हैं।

(आ) ञ+व्यंजन
ञ्च—कंचन[४]
ञ्छ—बंछित[५]
ञ्ज—पिंजरु[६]
ञ्झ—मंझै[७]
ये शब्द के मध्य में आते हैं।

(इ) ण+व्यंजन
ण्य—बिण्यांणी[८]
ण्ठ—बैकुंठ[९]
ण्ड—पंडित[१०]

(ई) न+व्यंजन
(क) जो शब्द के मध्य में आते हैं :—
न्त—संतोख[११]
न्थ—कंथा[१२]
न्द—अंदेह,[१३] इंद्री[१४]
न्ध—अंधरै[१५]
न्स—संसा[१६]
(ख) जो शब्द के प्रारम्भ और मध्य में आते हैं :—
न्य—न्यारा[१७] तीन्यूं[१८]

(उ) म+व्यंजन
(क) शब्द के प्रारम्भ में—

---

१. १-३ २. १-५ ३. १-६
४. ५७-५ ५. ४७-४ ६. ९-४
७. ११२-६ ८. ९३-२ ९. २९-२
१०. १०१-३ ११. २५-९ १२. १५१-४
१३. १३-३ १४. ४१-४ १५. २३-८
१६. १०-१६ १७. १४-४ १८. १०७-६

म्य—म्यानैं[१]

(ख) शब्द के मध्य में—

म्प—संपति[२]

म्ब—बारंबार[३]

म्म—कुंभ[४]

(ग) शब्द के प्रारम्भ और मध्य में—

म्र—म्रिगछाला,[५] संम्रथ[६]

(८) शेष संयुक्त व्यंजन—

क्त—मुक्ति[७]

प्त—चित्रगुप्त[८]

ब्द—सब्द[९]

ष्ट—अष्ट[१०]

ह्म—ब्रह्मा[११]

ये सभी शब्द के मध्य में आते हैं।

१.४ सन्धि—

कबीर-काव्य में 'संयुक्त शब्दों' (Compounds) का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। जो संयुक्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनमें सन्धि सम्बन्धी निम्नलिखित दो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगत होती हैं :—

(१) प्रायः संस्कृत की परम्परानुसार दूसरे शब्द का पहला स्वर प्रथम शब्द के अन्तिम स्वर से मिल जाता है—

परमातम[१२] देवाधिदेव,[१३] गंगोदिक[१४]।

किन्तु कहीं-कही दोनों शब्द बिना किसी सन्धि के ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं—

अभिअंतरि,[१५] पर अपबादहिं[१६]।

(२) आधुनिक हिन्दी में 'कभी', 'जभी', 'तभी' रूपों में 'ब+ह' की

---

१. ८७-६ २. २०-३ ३. ३१-४
४. ३४-८ ५. २४-४ ६. ६६-२
७. १४४-१० ८. ५६-७ ९. सा० १८-१०-२
१०. १०८-४ ११. ५-५ १२. सा० २७-२-२
१३. २६-११ १४. १६६-५ १५. १३०-१०
१६. ४०-५

सन्धि है। इस प्रकार की प्रवृत्ति कबीर-काव्य में नहीं। यह सन्धि कबीर के बाद की है। कबीर-काव्य में इन रूपों का सन्धियुक्त प्रयोग ही नहीं हुआ है। इसके विपरीत 'ब' और 'ह' पृथक् रखे गए हैं। जैसे—

जबहीं,[1] तबहीं,[2] आदि।

१.५ संगम—

कबीर-काव्य में ध्वनि सम्बन्धी एक अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है और वह है संगम या विराम का लोप (juncture)। शब्द के बीच में विराम बड़ा सार्थक होता है इसीलिए अब विद्वान इसे ध्वनिग्राम में भी स्थान देने लगे हैं। कबीर-काव्य में इस दृष्टि से उच्चारण में विराम का न होना और अर्थ समझने में उसे मान लेने की आवश्यकता स्पष्ट है—

"माया **मुई न** मन मुआ, मरि-मरि गया सरीर।"[3]

'मुई' और 'न' के मध्य विराम-लोप के कारण अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती; किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ 'न' शब्द से मिलकर बहुवचन का संकेत करता दिखाई पड़ता है जबकि वहाँ उसका उपयोग निषेधार्थ ही है—

"और पंखेरू पी गए, हंस न बोरे चंच।"[4]

'हंस' और 'न' के बीच से विराम-लोप कर देने पर छन्द की लय में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा; किन्तु तब इसका अर्थ 'हंसों' हो जाएगा और यह प्रयोग निषेधार्थक नहीं रहेगा। अर्थ की दृष्टि से इन दोनों के मध्य में विराम अपेक्षित है। इसके विपरीत—

"लालन की ओबरी नहीं, हंसन की नहिं पांति।"[5]

उदाहरण में 'हंसन' के मध्य विराम देने से यह बहुवचन रूप नहीं रहेगा। अर्थ की दृष्टि से यहाँ विराम-लोप ही उपयुक्त है। इसी प्रकार—

"**नैन न** आवै नींदरी, **अंग न** जामैं मासु।"[6]

'नैन न' तथा 'अंग न' के मध्य विराम-लोप कर देने से दोनों ही रूप बहुवचन के हो जाएंगे। विराम होने पर ये निषेधात्मक हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित उदाहरण—

"नैंनन देखत यह जगु जाई।"[7]

में 'नैंनन' के मध्य विराम देने से यह बहुवचन रूप 'नैंन' 'न' निषेधात्मक हो

---

१. १९९-६ २. सा० १५-११-२ ३. सा० ३१-२७-१
४. सा० ३१-२५-२ ५. सा० ४-१८-१ ६. सा० ४-१५-२
७. ७९-३

जाएगा। अर्थ की दृष्टि से यहाँ विराम लोप ही अपेक्षित है।

१.६ आक्षरिक संरचना (Syllabic structure)—

कबीर के काव्य की आक्षरिक संरचना को निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है। स्वर के लिए 'स' तथा व्यंजन के लिए 'व' संकेत दिए गए हैं—

एकाक्षर—

स—ई,[१] ए[२]
स व—इन[३]
स व व—अंग[४]
व स—जो[५]
व स व—मूल[६]
व व स—क्या[७]
व व स व—क्रोध[८]

द्वयक्षर—

स-व स—आसा[९]
स- व स व—आसन[१०]
स-स—आए[११]
स-व व स व—आस्रम[१२]
स व-व स व—अदबुद[१३]
व स-स—रुई[१४]
व स-व स—चाकी[१५]
व स-व स व—खसम[१६]
व स-व स व व—बसंत[१७]
व स-व व स—इंद्र[१८]

---

१. १०५-१ २. १२-३ ३. १०-१२
४. १६०-८ ५. ११-५ ६. ३५-४
७. ८२-४ ८. ३-४ ९. २९-४
१०. १४२-५ ११. ५-२ १२. र० १४-४
१३. सा० ७-८-१ १४. सा० १५-७१-२ १५. सा० १६-५-१
१६. २१-३ १७. १४१-३ १८. १५९-६

व स-स व—व्राइक[1]
व स व-व स—सर्प[2]
व स व-व स व—सुंदर[3]
व स व-व व स—मंत्र[4]
व व स-व स—ग्यांनीं[5]
व व स-व स व—ब्यौपार[6]
व व स व-व स व—ग्रभबास[7]

त्र्यक्षर—

स-व ऱ-व स—अवधि[8]
स-व स-स—अढ़ाई[9]
स-व स-व स—उजारा[10]
स-व स-व स व—अकारथ[11]
स व-व स-स—इकताई[12]
स व-व स-व स—उपकारी[13]
स व-व व स-व स व—इंद्रादिक[14]
व स-व स-स—भलाई[15]
व स-व स-व स—गनेसा[16]
व स-व स-व स व—सनातन[17]
व स-व स व-व स व—डिगंबर[18]
व स-स-व व स—गाइत्री[19]
व स व-व स-व स व—चकनांचूर[20]
व स व-व व स-व स व—चंद्रमां[21]

---

१. सा० २६-२२-१ २. १२०-४ ३. ६४-५
४. १६७-२ ५. ४८-४ ६. सा० ८-१०-१
७. १७५-७ ८. २०-४ ९. १११-५
१०. ८०-६ ११. ७३-१० १२. ५३-५
१३. ६१-५ १४. १६५-७ १५. ६६-४
१६. १०३-३ १७. १०७-७ १८. १६१-३
१९. १९६-३ २०. सा० २०-२-१ २१. १५५-५

चतुरक्षर—

स-व स-व स-व स—अबिनासी[1]
स-व स-व स-व स व—आवागवन[2]
व स-व स-व स-स—कठिनाई[3]
व स-व स-व स-व स—दुराचारी[4]
व स-व स व-व स-व स—मारनहारा[5]
व स व-व स-व स-व स—द्वारावती[6]

पंचाक्षर—

स-व स-स व-व स-व स—अभिअंतरा[7]
व स व-व स व-व स व-व स-व स—जनमांवनहारी[8]

---

१. ५-८ २. ४१-६ ३. स
४. सा० १५-७३-२ ५. सा०२-३४-२ ६. र
७. १३०-८ ८. १६०-३

१.७ स्वरानुक्रम तथा संयुक्त व्यंजनों के कोष्ठक

स्वरानुक्रम के कोष्ठक

	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
अ	×	×	×	×	×	×	×			
आ			×	×	×	×	×			
इ	×	×			×		×	×		×
ई	×	×			×		×			
उ	×	×	×	×			×	×	×	
ऊ		×					×			
ए			×	×	×	×				
ओ		×	×	×	×	×	×			

	आ	इ	उ	ए	ऐ
अइ				×	×
अई	×				
आए			×		
आइ				×	×
इआ		×	×		
एइ				×	
ओइ				×	×
इअइ					×

	अं	आं	इं	इ	ईं	ई	उं	ऊं	एं	ऐं
अं					×					
अ			×		×		×	×	×	
आं			×	×	×	×	×	×	×	
आ			×				×	×	×	
इ	×	×					×	×	×	×
ई								×	×	
उ			×		×				×	
ऊ									×	
ए							×			
ओ								×	×	
इआ									×	
इए							×			

26

(स्वरानुक्रमों के उदाहरणार्थ दे० १.२.६

संयुक्त व्यंजनों के कोष्ठक

	क	ख	ग	घ	च	छ	ज	झ	ट	ठ	ड	त	थ	द	ध	न	प	ब	भ	म	य	र	व	स
क		×										×									×	×	×	
ख																					×		×	
ग																					×	×	×	
घ																						×		
ङ	×	×	×	×																				
च						×															×			
छ																					×			
ज								×													×	×	×	
ञ					×	×	×	×																
ट																					×			
ण										×	×										×			
त													×								×	×	×	
थ																					×			
द															×						×	×	×	
ध																					×			
न												×	×	×	×						×			×
प												×									×	×		
ब														×							×	×		
भ																					×	×		
म																	×	×	×		×	×		
र																	×	×		×	×			
ल																					×			
(श) ष									×															
स									×			×	×			×					×	×	×	
ह																				×	×	×	×	
ड़																					×			
ढ़																					×			

(संयुक्त व्यंजनों के उदाहरणार्थ दे० पृ० १.३.५)

२. रूप-विचार

रूप-विचार की दृष्टि से कबीर की भाषा का अध्ययन—शब्द-रचना, संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग, विशेषण, क्रिया, अव्यय, बलात्मक रूप और पुनरावृत्ति—इन नौ शीर्षकों में रखकर किया जा रहा है।

२.१ शब्द-रचना

२.१.० शब्द दो प्रकार के होते हैं—

(१) रूढ़ और (२) यौगिक। कबीर के काव्य में दोनों प्रकार के शब्द हैं।

२.१.१ रूढ़—जैसे कर,[१] खेत,[२] गुन,[३] तप[४] आदि।

२.१.२ यौगिक—जैसे अविरथा,[५] कहता,[६] दिखावनहार,[७] भवचक्र[८] आदि। कबीर के काव्य में यौगिक शब्दों की रचना निम्न प्रकार से की गई है—

(क) मूल (Roots) में एक या एक से अधिक प्रत्यय[९] (affixes) जोड़कर।

(ख) दो या अधिक शब्दों के मिलाने से।

(ग) शब्दों की आवृत्ति से।

२.१.२.१ मूल में एक या एक से अधिक प्रत्यय (affixes) जोड़कर—

बि (उपसर्ग) + ग्यांन (मूल) = बिग्यांन[१०]

भला (मूल) + ई (प्रत्यय) = भलाई[११]

जनम् (मूल) + आंवन (प्रत्यय) + हारी (प्रत्यय) = जनमांवनहारी[१२]

कबीर के काव्य में प्राप्त उपसर्ग और प्रत्ययों के लिए देखिए—२. १. ३, २. १. ४.

२. १. २. २. दो या अधिक शब्दों के मिलाने से—इस प्रकार के संयुक्त शब्दों को समास कहा जाता है। समास के प्रमुख चार भेद हैं—बहुब्रीहि, द्वन्द्व, तत्पुरुष और अव्ययीभाव। कबीर के काव्य में इनके उदाहरण निम्न हैं—

बहुब्रीहि—चतुरभुज,[१३] सहसबांह[१४] आदि।

---

१. १६६-६   २. ६१-१   ३. १०-१५

४. ३३-४   ५. र० १६-१   ६. १७०-१

७. सा० १-१३-२   ८. सा० १५-६-२

९. यहाँ प्रत्यय का प्रयोग उपसर्ग तथा प्रत्यय दोनों के लिए किया गया है।

१०. १५७-८   ११. ६६-४   १२. १६०-३

१३. ७७-१   १४. १५५-१६

द्वन्द्व—तन मन,[१] दुख सुख,[२] पाप पुन्नि[३] आदि ।
तत्पुरुष—भवनपति,[४] राजदुवारै[५] लोकाचारु[६] आदि ।
अव्ययीभाव—भरपूरा,[७] हररोज,[८] आदि ।

कबीर-काव्य में सबसे अधिक प्रयोग तत्पुरुष का है। तत्पुरुष का एक भेद, कर्मधारय माना जाता है। उसके रूप भी यहां विद्यमान हैं, जैसे—परमातम[९] परमानंद[१०] आदि। कर्मधारय का भेद द्विगु है। उसके भी रूप यहाँ प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—त्रिगुण[११] आदि।

२.१.२.३ शब्दों की आवृत्ति से—कबीर के काव्य में उपलब्ध इस प्रकार के शब्दों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) पुनरुक्ति—घटघट,[१२] धीरै-धीरै,[१३] रांम-रांम[१४] आदि ।
(ख) समानार्थक आवृत्ति—जरि-वरि,[१५] हिलमिल[१६] आदि ।
(ग) निरर्थक आवृत्ति—काछि-कूछ,[१७] टालैटूलै[१८] आदि ।

२.१.३ रचनात्मक उपसर्ग—

ऐतिहासिक दृष्टि से उपसर्ग के दो वर्ग किए जा सकते हैं—१. तत्सम, २. तद्भव।[१९] भाषाओं के आधार पर इन दोनों रूपों का—'संस्कृत से आए हुए,' तथा 'अरबी फारसी से आए हुए'— इन दो शीर्षकों में विवेचन प्रस्तुत करना सुविधाजनक होगा। संस्कृत से तथा अरबी फारसी से आए तत्सम या तद्भव उपसर्गों मे भी कुछ ऐसे होते है जो केवल तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होते हैं, कुछ केवल तद्भव में तथा अन्य दोनों में।

कबीर की भाषा में प्रयुक्त समस्त उपसर्गों का विवेचन इसी सैद्धान्तिक आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. ३६-५ २. २५-३ ३. २५-३
४. सा० ८-१४-१ ५. सा० २१-१८-२ ६. ७७-४
७. १०२-६ ८. ८७-१ ९. सा० २७-२-२
१०. १४१-५ ११. ५३-७ १२. १५५-१७
१३. सा० १०-१२-२ १४. सा० २८-१-१ १५. सा० ३०-१७-२
१६. सा० ७-४-२ १७. ८६-७ १८. सा० १६-१५-१
१९. यहाँ तत्सम और तद्भव शब्द रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। अरबी फारसी के ऐसे शब्दों को भी जो या तो ज्यों के त्यों अथवा बिगड़कर प्रयुक्त हुए हैं, क्रमशः तत्सम और तद्भव माना गया है।

२.१.३.१ तत्सम उपसर्ग—

(क) संस्कृत से आए हुए—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के उपसर्ग हैं—(१) जो तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होते हैं। (२) जो तत्सम, तद्भव दोनों में प्रयुक्त होते हैं। (३) जो केवल तद्भव शब्दों में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) तत्सम शब्दों में—कबीर में इस प्रकार के उपसर्ग केवल दो ही हैं—

नि—(भीतर, नीचे, बाहर)
निदान[1]
अधि—(स्थान से)
अधिकारी[2]

(२) तत्सम तथा तद्भव शब्दों में—कबीर की भाषा में इस प्रकार के उपसर्गों की संख्या सबसे अधिक है—

अ—(निषेध)
तत्सम—अचल[3]
तद्भव—अकाज[4]
अन्—(अभाव)
तत्सम—अनंत[5]
तद्भव—अनंगु[6]
कु—(बुरा)
तत्सम—कुरूप[7]
तद्भव—कुबुधि[8]
निर्—(निषेध)
तत्सम—निरंतर[9]
तद्भव—निरंतरि[10]
प्र—(अधिक)
तत्सम—प्रताप[11]
तद्भव—प्रकास[12]
प्रति—(समान)

---

१. सा० १४-३-२ २. र० ११-२ ३. १-७
४. सा० ३-१८-१ ५. ११२-३ ६. १२१-२
७. ६४-५ ८. २५-५ ९. सा० ९-१६-१
१०. १४३-८ ११. ७३-३ १२. र० १८-५

तत्सम—प्रतिपाल[1]
तद्भव—प्रतिपारा[2]

सम्—(अच्छा)
तत्सम—संगति[3]
तद्भव—संजोग[4]

स—(सहित)
तत्सम—सरस[5]
तद्भव—सहेली[6]

सु—(अच्छा)
तत्सम—सुमति[7]
तद्भव—सुक्रित[8]

(३) तद्भव शब्दों में—

अभि—(ओर)
अभिमांन[9]

अव—(हीन)
अवगुन[10]

आ—(ओर, समेत)
आरंभै[11]

उप—(निकट, सदृश)
उपकारी[12]

(ख) अरबी फारसी से आए हुए—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के उपसर्ग हैं—(१) जो फारसी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होते हैं। (२) जो फारसी के तत्सम एवं तद्भव दोनों ही में प्रयुक्त होते हैं। (३) जो अरबी फारसी के शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के तद्भव शब्दों में भी प्रयुक्त होते हैं। उदारणार्थ—

(१) तत्सम शब्दों में—

ना—(अभाव)
नापाक[13]

---

१. १५-१ २. ३८-४ ३. २५-१०
४. सा० १४-२७-१ ५. चौ० र० ३३-१ ६. १०९-४
७. सा० ४-२२-२ ८. ८३-८ ९. १०-६
१०. ३७-२ ११. चौ० र० २२-२ १२. ६१-५
१३. १८३-९

(२) तत्सम, तद्भव दोनों में—
वे—(बिना)
तत्सम—बेहाल[1]
तद्भव—बेखबरु[2]
(३) संस्कृत के तद्भव शब्दों में—
तद्भव—बेकांम[3]

२.१.३.२ **तद्भव उपसर्ग**—कबीर की भाषा में इसके अन्तर्गत एक ही प्रकार के उपसर्ग प्रयुक्त हुए हैं और वे संस्कृत से आए हुए।

संस्कृत से आए हुए—इसके अन्तर्गत प्रयुक्त उपसर्गों के चार पृथक् वर्ग हैं—(१) जो तत्सम शब्दों के साथ प्रयुक्त हुए हैं। (२) जो तत्सम, तद्भव दोनों में प्रयुक्त हुए हैं। (३) जो केवल तद्भव में प्रयुक्त हुए हैं। (४) जो तद्भव और अनुकरणात्मक शब्दों में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ—

(१) तत्सम शब्दों में—कबीर की भाषा में इनकी संख्या सबसे कम है—
निह—(निषेध)
निहफल[4]
(२) तत्सम, तद्भव दोनों में—
अन—(बिना)
तत्सम—अनहित[5]
तद्भव—अनजांनैं[6]
औ—(हीन, निषेध)
तत्सम—औघट[7]
तद्भव—औगुन[8]
दुर—(बुरा, कठिन)
तत्सम—दुरमति[9]
तद्भव—दुरलभ[10]
निर—(निषेध)
तत्सम—निरधन[11]
तद्भव—निरगुन[12]

---

१. १३-८ २. ८७-५ ३. सा० ३-६-२
४. १८६-४ ५. र० १७-७ ६. सा० ४-२७-१
७. चौ० र० ६-२ ८. सा० ६-५-२ ९. र० १९-६
१०. ३३-५ ११. २२-६ १२. १२३-८

बि—(निषेध, अभाव)

तत्सम—बिकराल[1]

तद्भव—बिग्यांन[2]

(३) तद्भव शब्दों में—

दु—(दो)

दुचिते[3]

दू—(हीन)

दूबरी[4]

भर—(पूरा)

भरपूरा

(४) तद्भव और अनुकरणात्मक शब्दों में—कबीर की भाषा में केवल एक उपसर्ग इस प्रकार का है—

नि—(रहित)

तद्भव—निडर[6]

अनुकरणात्मक—निधड़क[7]

२.१.३.३ संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन निम्न रूप में रखा जा सकता है :—

- उपसर्ग—
  - —तत्सम
    - —संस्कृत से आए हुए—
      - —तत्सम शब्दों में (नि, अधि)
      - —तत्सम, तद्भवदोनों में (अ, अन्, कु, निर्, प्र, प्रति, सम्, स, सु)
      - —तद्भव शब्दों में (अभि, अव, आ, उप)
    - —अरबी फारसी से आए हुए—
      - —तत्सम शब्दों में (ना)
      - —तत्सम, तद्भव दोनों में (बे)
      - —संस्कृत के तद्भव शब्द में (बे)
  - —तद्भव—संस्कृत से आए हुए—
    - —तत्सम शब्दों में (निह)
    - —तत्सम, तद्भव दोनों में (अन, ओ दुर, निर, बि)
    - —तद्भव शब्दों में (दु, दू, भर)
    - —तद्भव, अनुकरणात्मक दोनों में (नि)

---
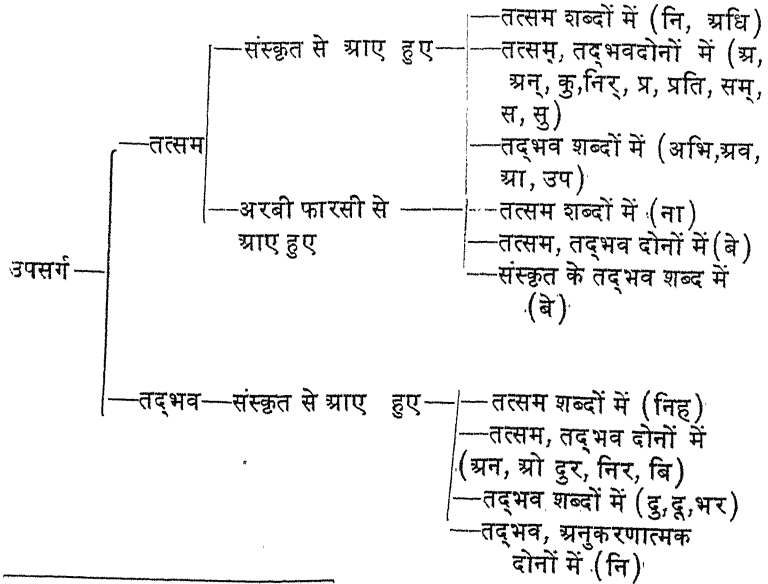
१. १५५-१२ २. १५७-८ ३. ५२-३

४. सा० १६-३-१ ५. १०२-६ ६. चौ० र० १८-३

७. सा० १६-१७-१

२.१.४ रचनात्मक प्रत्यय—

कबीर-काव्य में शब्द-रचना के निमित्त विभिन्न प्रत्ययों को भी शब्द के आगे लगाया गया है। इस प्रकार के प्रत्ययों का उल्लेख आगे व्याकरणिक विवेचन में यथास्थान किया गया है। शब्द-रचना की प्रवृत्ति का निर्देश करने के लिए यहाँ कुछ प्रत्ययों का उल्लेख किया जा रहा है :—

—अंत,—अत,—अतु (वर्तमानकालिक कृदन्त) इसके अन्य रूप '—त,' '—तां,' '—ता', '—ते' आदि भी हैं।

हसंत[1]
करत[2]
कहतु[3]

—अप (भाववाचक)
सायानप[4]

—अपौ (भाववाचक)
अपनपौ[5]

—आ (भूतकालिक कृदन्त, संज्ञा, विशेषण)
फूला[6]
लोभा[7]
मैला[8]

—आई, —ई (भाववाचक)
सेवकाई[9]
संतई[10]

—इ (पूर्वकालिक कृदन्त)
कहि,[11] देखि[12]

—इक (कर्तृवाचक)
बधिक[13]

—इनि, इनीं (संज्ञा)
ठगिनि[14]

---

१. सा० २३-२-१ २. ३७-२ ३. ९०-२
४. चौ० र० १०-२ ५. र० ८-७ ६. ८३-४
७. १९३-३ ८. ५८-७ ९. ७-४
१०. सा० ४-२-१ ११. १०-१४ १२. २-५
१३. सा० ५-६-२ १४. १६३-१

रागिनीं,[1] तरंगिनीं[2]

—इबा, —इबे, —इबौ (क्रियार्थक संज्ञा)

पढ़िबा[3]

कहिबे[4]

पढ़िबौ[5]

—इया (दीर्घरूप)

नगरिया[6]

—ए, —ऐ (भूत० तथा पूर्वकालिक कृदन्त)

मारे[7]

लै[8]

—औनां (संज्ञा)

खिलौनां[9]

—कार (कर्तृवाचक)

पैंकाकार[10]

—त (वर्तमानकालिक कृदन्त) दे०—अंत

होत[11]

—ता (भाववाचक)

सीतलता[12]

—तां,—ता,—ते (कृदन्त) दे०—अंत

मरतां[13]

करता[14]

चलते[15]

—न (क्रियार्थक संज्ञा)

देखन[16]

—नां,-नीं ((क्रियार्थक संज्ञा)

होनां[17]

---

१. ८६-८ २. ५७-७ ३. सा० २१-३४-१
४. सा० ६-२-२ ५. सा० ३३-२-१ ६. ६५-१
७. ६६-६ ८. ६-४ ९. १८६-३
१०. सा० २१-१७-१ ११. सा० ८-११-१ १२. सा० ४-२-२
१३. सा० १६-१-१ १४. १७८-४ १५. सा० १०-६-२
१६. सा० ६-२५-१ १७. ८२-३

होनीं[१]

—पन,-पनां (भाववाचक)

बालपन[२]

बालपनां[३]

—पा (भाववाचक)

बुढ़ापा[४]

—वां,-वा (दीर्घ रूप)

क्रिसनवां[५]

पखेरुवा[६]

—वारा,-वारी,-वारे (कर्तृवाचक)

रखवारा[७]

रखवारी[८]

रखवारे[९]

—हार,-हारा,-हारी,-हारै,-हारो,-हारौ (कर्तृवाचक)

चालनहार[१०]

जिवावनहारा[११]

जनमांवनहारी[१२]

राखनहारै[१३]

जांननहारो[१४]

राखनहारौ[१५]

---

१. ६०-५ २. ८३-३ ३. १३६-३

४. ६८-४ ५. ४१-६ ६. सा० १६-३७-१

७. १६२-३ ८. १२०-२ ९. ६१-५

१०. सा० १६-३२-१ ११ १०६-२ १२. १६०-३

१३. सा० १५-५४-१ १४. १७६-२ १५. २६-६

२.२ संज्ञा

२.२.१ कबीर-काव्य में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए तथा औ से अन्त होने वाले संज्ञा शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनमें पुल्लिग, स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के शब्द हैं। इनका उल्लेख आगे किया जा रहा है—

	पु०	स्त्री०
अ	—चक्र,[१] दंत[२]	
आ	—केरा,[३] चितेरा,[४] धंधा[५]	माला,[६] बसुधा,[७] तृस्ना[८]
इ	—जलनिधि,[९] रबि[१०]	अगिनि,[११] कटि,[१२] रैनि[१३]
ई	—हाथी,[१४] साथी[१५]	अंगुरी,[१६] पिरथिमीं,[१७] बाड़ी[१८]
उ	—पसु,[१९] बिंदु[२०]	बस्तु[२१]
ऊ	—आंसू,[२२] जनेऊ[२३]	तराजू[२४]
ए	—पांडे[२५]	
औ	—	लौ[२६]

(१) अकारान्त संज्ञा शब्द[२७]—कबीर द्वारा प्रयुक्त अकारान्त शब्दों के उदाहरण निम्न हैं :—

अंग,[२८] चक्र[२९] आदि।

(२) आकारान्त संज्ञा शब्द—कबीर-काव्य में दो प्रकार के आकारान्त संज्ञा शब्दों का प्रयोग है। एक वे जो मूल रूप में आकारान्त हैं। जैसे :—

---

१. ३२-४ २. सा० ११-७-२ ३. सा० २४-२-१
४. चौ० र० ३-२ ५. १८६-५ ६. १७५-४
७. सा० २०-८-२ ८. सा० ३१-२७-२ ९. ९-२
१०. १०३-३ ११. ९-१ १२. १४४-५
१३. १४-२ १४. ८९-३ १५. सा० ७-४-१
१६. सा० २५-७-१ १७. सा० ३०-८-२ १८. ११२-४
१९. ६७-५ २०. १८१-५ २१. ७२-४
२२. सा० २-४९-१ २३. र० ६-४ २४. सा० १५-७६-२
२५. १९६-२ २६. ४-३
२७. वैसे तो बहुत-से अकारान्त शब्दों की अन्तिम 'अ' ध्वनि लुप्त हो गई है जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, फिर भी यहाँ उन्हीं अकारान्त शब्दों का उल्लेख किया गया है जिनमें अंत्य स्वर शेष हैं।
२८. १६०-८ २९. ३:-४

केरा[1] (केला), चितेरा[2] बसुधा,[3] माला[4] आदि।

दूसरे वे हैं जो मूलतः अन्य स्वरान्त हैं किन्तु तुक या मात्रा को पूर्ण करने के निमित्त आकारान्त कर लिए गए हैं जैसे :—

अंगा[5] (अंग), अकासा[6] (आकाश), उपदेसा[7] (उपदेश) आदि।

(३) इकारान्त संज्ञा शब्द—कबीर-काव्य में प्राप्त इकारान्त संज्ञा शब्दों को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में शुद्ध इकारान्त शब्द हैं जैसे :—

जलनिधि,[8] रबि,[9] अगिनि,[10] कटि,[11] सकति[12] आदि।

दूसरे वर्ग में वे संज्ञा शब्द हैं जिन्हें इकारान्त कर लिया गया है जैसे :—

नारि[13] (नारी)

(४) ईकारान्तर संज्ञा शब्द—ईकारान्त शब्द भी दो प्रकार के हैं। एक वे जो मूल रूप में ईकारान्त हैं जैसे—

अँगुरी,[14] कांमिनीं,[15] पिरथिमीं[16] आदि।

दूसरे वे जिन्हें आवश्यकतानुसार ईकारान्त बना लिया गया है जैसे :—

नागिनी[17] (नागिन) आदि।

(५) उकारान्त संज्ञा शब्द[18]—उकारान्त संज्ञा शब्दों के भी दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में शुद्ध उकारान्त संज्ञा शब्द हैं जैसे :—

पसु[19] बिंदु[20], विस्तु[21] आदि।

दूसरे वर्ग में उकार की तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुसार बना लिए गए शब्द हैं। जैसे—

अनंगु[22] (अनंग), घरु[23] (घर) रामु,[24] (राम) आदि।

---

१. सा० २४-२-१ २. चौ० र० ३-२ ३. सा० २०-८-२
४. १७५-४ ५. ७९-५ ६. ३४-७
७. १९७-२ ८. ९-२ ९. १०३-३
१०. ९-१ ११. १४४-५ १२. २५-१०
१३. १९-४ १४. सा० २५-७-१ १५. सा०३०-८-२
१६. सा० २५-१६-१ १७. सा० ३०-२-१
१८. 'उकार' की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश काव्य से चली आती है, रीतिकालीन काव्य तक यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से विद्यमान है। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में भी विकृत उकारान्त रूप प्राप्त हो जाते हैं। कबीर-काव्य में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति विद्यमान है। ऐसे रूप विकृत ही कहे जाएंगे।
१९. ६७-५ २०. १८१-५ २१. ७२-६
२२. १२१-२ २३. ७९-१ २४. २०.१०

(६) ऊकारान्त संज्ञा शब्द— कबीर-काव्य में प्रयुक्त ऊकारान्त शब्दों के भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग उन शब्दों का है जो मूल रूप में ऊकारान्त हैं जैसे—

आंसू,[१] जनेऊ,[२] तराजू[३] आदि।

दूसरा वर्ग उनका है जिन्हें ऊकारान्त बना लिया गया है। जैसे :—

अंकुरू[४] (अंकुर), बिंदू[५] (बिंदु) आदि।

(७) एकारान्त संज्ञा शब्द—कबीर-काव्य में एकारान्त संज्ञा शब्द बहुत कम हैं :—

पांडे[६]

(८) औकारान्त संज्ञा शब्द - शुद्ध औकारान्त संज्ञा शब्द कबीर-काव्य में एक ही है :—

लौ[७]

—ऐ,—ओ से अन्त होने वाले रूप नहीं हैं। ऐसे संज्ञा शब्द अवश्य हैं जो विभिन्न प्रत्यय लगाकर अथवा अन्य प्रकार से ऐकारान्त तथा ओकारान्त बना लिए गए हैं। जैसे—परचै[८] जुलाहो।[९]

२.२.२ संज्ञा सामान्यतः तीन प्रकार की होती हैं[१०]—व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक।

२.२.२.१ **व्यक्तिवाचक**—कबीर-काव्य में प्रयुक्त प्रमुख व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द इस प्रकार है[११]—

अल्लह,[१२] आदम,[१३] इंद्र,[१४] ऊधौ,[१५] कंसा,[१६] कबीर,[१७] कुबेर,[१८] केसव,[१९] केतु,[२०]

---

१. सा० २-४९-१ २. र० ६-४ ३. सा० १५-७६-२

४. १९८-४ ५. सा० १८-११-२ ६. १६६-२

७. ४-३ ८. १६५-९ ९. १११-२

१०. 'संज्ञा दो प्रकार की होती है (१) पदार्थवाचक, (२) भाववाचक। पदार्थवाचक संज्ञा के भेद हैं—(१) व्यक्तिवाचक (२) जातिवाचक। —हि० व्या०, का० प्र० गु०, पृ० ६५।

११. संज्ञा शब्दों का विस्तृत वर्गीकरण 'शब्द-समूह' में किया गया है। विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का यहां उल्लेख नहीं किया गया है। जैसे 'सहज' 'अष्ट गगन' आदि (सा० ३४-१-२; १०८-४)। प्रवृत्ति-संकेत करने के निमित्त यहां कुछ प्रसिद्ध व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों का ही उल्लेख किया है।

१२. ८७-९ १३. ४२-६ १४. १४९-७

१५. १९८-५ १६. ११७-५ १७. १-१०

१८. १५५-९ १९. १६३-३ २०. १४-३

क्रिसन,[1] गंध्रब,[2] गनेसा,[3] गरुड़,[4] गोपाल,[5] गोपीचंदा,[6] गोबिंद,[7] गोरखनाथ[8] चतुरभुज,[9] जरिजोधन,[10] जसरथ,[11] जैदेउ,[12] ध्रू (ध्रुव),[13] नंद,[14] नरसिंघ,[15] नरहरि,[16] नारद,[17] प्रह्लाद,[18] बलि,[19] बिधाता,[20] बिधि,[21] बिभीखन,[22] बिरंचि,[23] बिस्नु,[24] ब्रह्म,[25] भरथरी,[26] महादेव,[27] महेस,[28] माधौ,[29] मुरारी,[30] रघुनाथ,[31] रघु-राइ,[32] रघुपति,[33] रहिमांन,[34] रांम,[35] रावन,[36] संडैमरकै,[37] सनक,[38] सनंदन,[39] संकर,[40] सारिंगधर,[41] सालिगरांम,[42] सिंभु,[43] सिव,[44] सुकदेव,[45] सुखदेउ,[46] सुदांमां,[47] स्याम,[48] हणवंत,[49] हनुमत,[50] हरि,[51] हरिनांकस;[52]

अनगु,[53] मदन,[54] मनमथ;[55]

काली,[56] गनिका,[57] जसवै,[58] दुरगा,[59] देवै,[60] पारबती,[61] बिदेही,[62] भवांनीं[63] राधा,[64] रुकमिनि,[65] लखमी;[66]

गंगा,[67] जमनां,[68] सरसती;[69]

---

१. १५८-७ २. १३३-४ ३. १०३-३
४. १५३-४ ५. १५५-१२ ६. ४८-७
७. २३-१० ८. १७५-५ ९. ७७-१
१०. १५५-१६ ११. १५८-५ १२. ४८-३
१३. ४८-५ १४. १५४-१ १५. २६-११
१६. १०-६ १७. ५३-१ १८. २६-३
१९. र० ३-५ २०. सा० १७-४-२ २१. २०-९
२२. ४८-५ २३. ४८-४ २४. ९०-८
२५. १०-१३ २६. ४८-७ २७. १५५-३
२८. १४७-४ २९. ३६-१ ३०. १७१-५
३१. २४-५ ३२. ७०-६ ३३. ८६-२
३४. सा० ९-३३-२ ३५. १-१० ३६. ७३-६
३७. २६-५ ३८. ४३-५ ३९. ४३-५
४०. १८१-७ ४१. १३१-१२ ४२. र० ३-६
४३. सा० ९-२४-२ ४४. ४३-५ ४५. ९०-४
४६. १९८-५ ४७. ४५-५ ४८. ८७-६
४९. १९८-५ ५०. १०३-४ ५१. ७-३
५२. २६-१० ५३. १२१-२ ५४. ४३-३
५५. र० ९-६ ५६. सा० ४-३४-२ ५७. २०-५
५८. र० ३-३ ५९. १५५-४ ६०. र० ३-३
६१. १०३-३ ६२. र० ७-८ ६३. १६३-३
६४. १५८-७ ६५. १३१-१० ६६. १५५-९
६७. १-५ ६८. १०१-२ ६९. १४९-७

कलियुग,[१] कलउ,[२] द्वापर,[३] त्रेता,[४] सतजुग;[५]

अगमपुर,[६] अमरापुर,[७] जमपुर,[८] नरक,[९] पातालि,[१०] बैकुंठ,[११] सरग,[१२] सिवपुरी;[१३]

कबिलास,[१४] काबा,[१५] कासी,[१६] गंडक[१७] (वन), गया,[१८] गोकुल,[१९] गोबरधन,[२०] जगन्नाथ,[२१] द्वारावती,[२२] द्वारिका,[२३] नंदन,[२४] बद्री[२५] (नाथ), बनारस,[२६] मक्के[२७] मगहर,[२८] मथुरा,[२९] मलयागिरि,[३०] मांनसरोवर,[३१] लंका,[३२] सुमेर।[३३]

२. २. २. २. **जातिवाचक**—जातिवाचक संज्ञा शब्दों के विषय में पृथक् से कहना महत्त्वपूर्ण नहीं। इनका उल्लेख लिंग, वचन और कारकों में किया गया है।

२. २. २. ३. **भाववाचक**—भाववाचक संज्ञा शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। कबीर-काव्य में प्रयुक्त भाववाचक संज्ञा शब्दों की रचना निम्न प्रकार से हुई है—

(१) **जातिवाचक संज्ञा से**—

(क) '—ई' प्रत्यय जोड़कर—
संतई[३४]

(ख) '—आई' प्रत्यय जोड़कर—
सेवकाई[३५]

(ग) '—पन' अथवा '—पनां' प्रत्यय लगाकर—
बालपन,[३६] बालपनां[३७]

(घ) '—पा' प्रत्यय संयुक्तकर—
बुढ़ापा[३८]

---

१. सा० २१-२६-१ २. १४३-६ ३. १४३-६
४. १४३-५ ५. १४३-५ ६. ५९-७
७. सा० ३-२१-२ ८. १४-३ ९. ६९-२
१०. १५६-३ ११. २९-२ १२. १५७-९
१३. ४६-४ १४. १५५-३ १५. सा०२०-१०-१
१६. सा० २०-१०-१ १७. र० ३-६ १८. ३५-८
१९. १०-१ २०. १६५-८ २१. र० ३-८
२२. र० ३-८ २३. सा० ४-२३-१ २४. १५४-१
२५. र० ३-७ २६. ४६-२ २७. १९३-४
२८. ६४-४ २९. १३१-६ ३०. १७५-५
३१. २८-२ ३२. ९६-५ ३३. १५७-७
३४. सा० ४-२-१ ३५. ७-४ ३६. ८३-३
३७. १३९-३ ३८. ९८-४

(च) '—औरी' प्रत्यय के योग से—
ठगौरी [१]

(२) **विशेषण से**—

(क) आकारान्त विशेषण शब्दों में '—ई' जोड़कर—
चिकनाई,[२] बड़ाई,[३] भलाई[४]

(ख) व्यंजनांत में '—आई' जोड़कर—
अधिकाई,[५] कठिनाई,[६] चतुराई[७]

(ग) '—पन' अथवा '—पनां' प्रत्यय जोड़कर—
कड़वापन,[८] बड़ापनां,[९]

(घ) '—ता' प्रत्यय लगाकर—
सीतलता[१०]

(च) अन्तिम 'आ' के स्थान पर 'अप' जोड़कर—
सयानप[११]

(३) **सर्वनाम से**—

'—पौ' लगाकर—
अपनपौ[१२] आपनपौ[१३]

(४) **क्रिया से**—

'—ई' प्रत्यय जोड़कर—
पछिताई[१४]

(५) **भाववाचक संज्ञा से पुनः निर्माण**—

'—आई' प्रत्यय जोड़कर—
सरनाई[१५]

---

१. ४६-१ २. ३४-१२ ३. ६७-८
४. ६६-४ ५. २०-२ ६. सा० ३-५-१
७. सा० २५-१७-१ ८. १७१-४ ९. सा० २२-१-१
१०. सा० ४-२-२ ११. चौ० र० १०-२ १२ र० ७-१
१३. सा० २३-८-१ १४. १६४-८ १५. ५९-८

२.२.३. लिंग

कबीर-काव्य में पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों लिंगों का प्रयोग हुआ है। लिंग-परिवर्तन से सम्बन्धित निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं—

(क) आकारान्त पुल्लिग संज्ञा तथा विशेषण शब्दों में अन्तिम 'आ' को —ई करके—

भंवरा[1]— भंवरी[2]

अंधा[3]—अंधी,[4] अकेला[5]—अकेली[6]

(ख) व्यंजनान्त में '—इनीं' लगाकर—

राग[7]— रागिनीं,[8]

'—इनीं' का '—इनि' रूप भी जोड़ा गया है—

ठग[9]—ठगिनि[10]

(ग) स्वरान्त में अन्तिम 'अ' के स्थान पर '—इनीं' लगाकर—

सर्प[11]—सर्पिनीं[12]

(घ) ईकारान्त शब्दों में 'ई' के स्थान पर '—इनि' लगाकर—

जोगी[13] जोगिनि[14]

(च) कहीं-कहीं अन्तिम 'वा' के स्थान पर 'ई' लगाकर भी स्त्रीलिंग रूप बनाए गए हैं—

चकवा[15]—चकई,[16]

(छ) आकारान्त शब्दों में अन्तिम 'आ' के स्थान पर '—इया' जोड़ा गया है—

बेटा[17]—बिटिया[18]

(ज) कहीं-कहीं दोनों लिंगों में सर्वथा भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—

राजा[19]—रांनीं[20]

---

१. ७५-१ २. ७५-२ ३. १८६-६
४. सा० १८-६-१ ५. ६८-८ ६. १६०-६
७. ८६-८ ८. ८६-८ ९. ४९-१
१०. १६३-१ ११. १२०-४ १२. सा० ३०-१८-१
१३. ४३-६ १४. १६३-५ १५. ११४-८
१६. सा० २-४-१ १७. सा० १६-४०-१ १८. ११०-४
१९. ४-६ २०. ९२-३

२.२.४ वचन

कबीर-काव्य में दो वचनों का प्रयोग हुआ है—एकवचन और बहुवचन। वचन सम्बन्धी नियम निम्न हैं :—

(क) अधिकांश शब्दों में '—न' प्रत्यय जोड़कर बहुवचन बनाए गए हैं। उकार बहुला प्रवृत्ति होने के कारण इसका रूप '—नु' भी प्राप्त होता है—

आंखिन,[१] दिनन,[२] गगनु[३]

'—न' का कहीं रूप '—नि' भी हो गया है—

मिरगनि[४]

(ख) ईकारान्त शब्दों में 'ई' के स्थान पर '—इयां प्रत्यय लगाकर—

कलियां[५]

(ग) प्रायः मूल शब्द परिवर्तन न कर के 'बहुवचन' रूप संख्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त कर दिया गया है, जैसे—

सबडारी,[६] सभ लोग[७]

(घ) आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में अन्तिम 'या' के स्थान पर 'अँ' भी जोड़ा गया है—

चिड़िअँ[८]

(च) व्यंजनांत शब्दों में '—आं' प्रत्यय लगाया गया है—

गुणां,[९] भगतां[१०]

२.२.५ कारक-रूप-रचना

कबीर के काव्य में कारक-रूप-रचना निम्नलिखित प्रत्ययों को जोड़कर हुई है :—

---

१. १३७-२ २. ६-१ ३. १५६-३
४. ६१-१ ५. सा० १६-३४-१ ६. ३८-५
७. ८६-४ ८. सा० १५-५४-१ ९. १७६-१
१०. १६३-७

पुल्लिग

आकारान्त

	एक वचन	बहुवचन
मूल रूप	मूल रूप	×
विकृत रूप	मूल रूप, -ए, -ऐ	×
सम्बोधन	×	×

अकारान्त तथा व्यंजनान्त

मूल रूप	व्यंजनान्त~उ~अ	मूल रूप (उ~अ) —अन्
विकृत रूप	,, ,,	—औं, -अन्, -अनि, -आं —न्
सम्बोधन	मूल रूप (अकारान्त)-ऐ	—हु, -औ, -आ

स्त्रीलिंग

-इ, -ई से अन्त होने वाले शब्द

मूल रूप	मूल रूप	मूल रूप, -आं
विकृत रूप	,,	,, -अन्, -आं, अँ
सम्बोधन	×	×

पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों के अन्य स्वरांत शब्दों के रूप उपलब्ध नहीं हैं जो हैं प्रायः उसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं जैसे—चक्र, रवि, हाथी, आंसू, माला, बस्तु, तराजू, लौ आदि।

उपर्युक्त विभिन्न प्रत्ययों से जुड़कर बनने वाले रूपों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

पुल्लिग (आकारान्त)

एक वचन—

मूल रूप— कमोदिनीं जल हरि बसै, **चंदा** बसै अकास।[1]
जैहहि **आटा** लौंन ज्यौं, सोनां सवां सरीर।[2]

---

१. सा० २-२६-१ २. सा० १५-२५-२

विकृत रूप—हेरा रोटी कारनैं, **गला** कटावै कौंन ।[१]
बिनु **चंदा** उजियारी दरसै जहं तंह हंसा नजरि परै ।[२]
गले रांम की जेवरी, जित खैंचै तित जाउं ।[३]
लागु **गलै** सुनि बिनती मोरी ।[४]
टांचनहारै टांचिया दै छाती ऊपरि पाउ ।[५]

पुल्लिग (अकारान्त तथा व्यंजनान्त)

एक वचन—

मूल रूप— मां का **उदर** पिता का बिंदू ।[६]
चंद जाइगा सूर जाइगा ।[७]
संतौ धागा टूटा **गगन** बिनसि गया ।[८]
आकासि **गगनु** पातालि **गगनु** है ।[९]
विकृत रूप—जननीं **उदर** जनम का सूता ।[१०]
इहीं **उदर** कै कारनैं, जग जांचा निसि जांम ।[११]
घींन करम करि **उदरु** भरहि ।[१२]
साध संगति अरु **गुर** की क्रिपातैं पकर्‌यौ गढ़ को राजा ।[१३]
काया कलाली लाहनि मेलेउं **गुरु** का सबद गुड़ कीन्हां ।[१४]
भजि **गोबिंद** भूलि जनि जाहु ।[१५]
सम्बोधन—**गोबिंद** हंम अैसैं अपराधी ।[१६]
गोबिंदै तुम्हारै बनि कंदलि (कदली ?) मेरौ मन
अहेरा खेलै ।[१७]

बहुवचन—

मूल रूप—धरती पवन अकास जाहिंगे **चंद** जाहिंगे सूरा रे ।[१८]
लोगु भरमु का जांनैं मोरा ।[१९]
लोगन रांमु खिलौनां जांनां ।[२०]

१. सा० २१-३-२ २. १४५-४ ३. सा० ६-१-२
४. १६-३ ५. १८७-५ ६. र० ५-२
७. ६२-५ ८. ११३-१ ९. १५६-३
१०. र० १७-३ ११. सा० २१-२४-१ १२. १६६-५
१३. २५-१० १४. ५१-३ १५. ६३-१
१६. ४०-१ १७. १२१-१ १८. १०२-५
१९. १८९-२ २०. १८९-३

अंखियन तौ झांई परी, पंथ निहारि-निहारि ।[1]
अंखियां प्रेम कसाइयां, जग जानैं दूखड़ियांह ।[2]
चिड़िअैं खाया खेत ।[3]

कबीर-काव्य में प्राय: उपर्युक्त प्रत्यय जोड़कर रूप-रचना की गई है। कहीं-कहीं संज्ञा शब्दों के साथ शून्य परसर्ग या विभिन्न विभक्तियां भी जोड़ी गई हैं :—

शून्य परसर्ग—

कर्म कारक—संगि सखा बहु लिए **बाल** ।[4]
बैठि गुफा महिं सब **जग** देखै ।[5]
कउवा उड़ावत भुजा पिरांनीं ।[6]
करण कारक—जाकै **पाइं** जगत सभ लागै ।[7]
निसिबासर जो **रांम** ल्यौ लावै ।[8]
सम्बन्ध कारक—ताला बेलि होत **घट** भीतर ।[9]
अधिकरण कारक—रांम **चरन** चित आंन उदासी ।[10]
सम्बोधन—**देव** करहु दया मोहिं मारगि लावहु ।[11]
साधौ सो जन उतरै पारा ।[12]

विभक्तियां—

कर्म कारक— —इ-हिं
पसु न पेखै **आगि** ।[13]
धरती उलटि **अकासहिं** ग्रासै ।[14]
सो कस **गरबहिं** सकै सहारी ।[15]
खसमहिं छांड़ि दहूं दिसि धावा ।[16]
करण कारक— —इ
चेतनां होइ सु चेत लीजौ कबीर हरि कै **अंगि** लागा ।[17]

---

१. सा० २-३६-१ २. सा० २-२३-१ ३. सा० १५-१४-१
४. २६-३ ५. १२२-५ ६. ७०-५
७. १९६-४ ८. ३५-९ ९. १५-५
१०. २८-३ ११. १३२-१ १२. १९५-१
१३. ६७-५ १४. १२२-१२ १५. र० ७-६
१६. चौ० र० ७-१ १७. ११९-१०

आपादान कारक— —इ, -हुं

निडर होइ तौ **उरि** डर भागै ।[1]

रांम नांम जिन **मनहुं** बिसार्‌यौ ।[2]

सम्बन्ध कारक— —हिं

कहै कबीर सुनहु रे संतहु **खेतहिं** करहु निबेरा ।[3]

अधिकरण कारक— —इ,-ऐं~ऐ,-हिं

चंदा बसै **अकासि** ।[4]

दस मास माता **उदरि** राखा ।[5]

मिलि गया **आटैं** लौन ।[6]

पड़ा **कलेजै** छेक ।[7]

किया **करेजै** घाउ ।[8]

जैसें **जलहिं** तरंग तरंगिनीं ।[9]

इनमें आकारान्त में '-—ऐं' या '-ऐ' तथा व्यंजनान्त में '-इ' '—-हिं' जोड़ा गया है।

---

१. चौ० र० १८-२ २. ६८-७ ३. ४१-७
४. सा० २-२६-१ ५. ६०-४ ६ सा० १-२४-१
७. सा० १५-४७-१ ८. सा० २-२-१ ९. ७-५

२.३ सर्वनाम

२. ३. ० सर्वनाम के भेदों से सम्बन्धित सैद्धान्तिक विवाद में न पड़कर कबीर-काव्य में प्राप्त सर्वनामों को निम्नलिखित आठ भेदों में रखकर वर्णित किया जा रहा है :—

(१) पुरुषवाचक— मैं, मुझ, हौं, हउं, हंम, तूं, तुझ, तुम, तैं, थारौ, वह, सो, तिन, उस
(२) निश्चयवाचक— यह, ए, वह, उस, सो, तिन, इन
(३) सम्बन्धवाचक— जो, जिस, जे, जा, ज,
(४) नित्यसम्बन्धी— वह, सो, तिन, उस
(५) प्रश्नवाचक — कौंन, कवन, को, क्या
(६) अनिश्चयवाचक—कछु, काहू, कोई
(७) निजवाचक— आप, आपन, रउरा
(८) आदरवाचक— आप

२.३.१ पुरुषवाचक—

(क) **उत्तम पुरुष**—कबीर-काव्य में अधिकांशतः उत्तम पुरुष के एकवचन रूप ही मिलते हैं। बहुवचन में केवल एक रूप 'हमारी' है जिसका स्त्रीलिंग में प्रयोग हुआ है। बहुवचन रूप 'हम' का कवि ने सर्वत्र अपने लिए 'मैं' के स्थान पर प्रयोग किया है, इस कारण उसे भी, एकवचन रूप ही माना जाएगा। विभिन्न वचनों और कारकों में उसके रूप इस प्रकार हैं :

	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप—	मैं, हउं, हंम (हम) हौं	
	(बलात्मक—हमहीं, हमहुं, हंमहूं)	
विकृत रूप—	मुझ (मुझ मांहि, मुझ मैं, मुझ सौं) मुज्झ	
	मो (मोकउं, मोकौं, मोपै, मोसें)	
	(मोहि, मोहिसनां, मोहू)	
	(मोंमांहीं)	
	हंम (हंमकौं, हंमतैं)	
	(हमसूं, हमसौं, हमहिं, हमहूं)	
	हौं	

सम्बन्ध कारक—पु० मेरा (मेरै, मेरो, मेरौ)
मोर
मोरा (मोरै)
हमरा (हमरै, हमरौ)
हमार
हमारा (हमारे, हमारै)
स्त्री० मेरी (मेरै, मेरौ)
मोरी
हमरी
हमारी

'हम' मूल रूप का 'हंम' की अपेक्षा कम प्रयोग मिलता है।

उत्तम पुरुष का कारकीय प्रयोग

एकवचन

(१) **कर्त्ता कारक**—

मैं—मैं ताकौं सीस नवाऊं जी ।।[१]

हउं—तूं जलनिधि हउं जल का मींनु ।[२]

हंम—हंम न मरैं मरिहै संसारा ।[३]

हम—हम रांमहिं पावहिंगे ।[४]

'हीं' संयुक्त बलात्मक प्रयोग भी कबीर-काव्य में मिलता है—

हमहीं—एहि कहहिं बड़ हमहीं ।[५]

कर्मवाच्य के कारण एक रूप कर्ताकारक का हो गया है—

हमहुं—सो सुख हमहुं सांच करि जांनां ।[६]

'भी' संयुक्त रूप भी कबीर में प्रयुक्त हुआ है—

हंमहूं—हरि मरिहै तौ हंमहूं मरिहैं ।[७]

हौं—हौं चितवत हौं तोहि कौं ।[८]

(२) **कर्म कारक**—

मुज्झ—ऐसी बेदनि मुज्झ ।[९]

मोकउं—मोकउं कहा पढ़ावसि आल-जाल ।[१०]

---

१. ४-८ २. ९-३ ३. १०६-१
४. ५७-२ ५. १९९-५ ६. १५९-४
७. १०६-४ ८. सा० ११-६-१ ९. सा० २-२५-२
१०. २६-४

मोकौं—मोकौं यह अन्देह रे।[१]
मोहिं —तौ मोहिं मुकुति बतावहु।[२]
मोहू—एकै प्रांन बियापै मोहू।[३]
हंम—जिनि हंम जाए ते मुए।[४]
हंमकौं— हंमकौं लेइ पिछांनि।[५]
हमहिं—हमहिं छांड़ि कत चले हो निनारे।[६]

(३) **करण कारक**—

मुझसौं—मीरां मुझसौं यौं कहा।[७]
मोहिं—मति रे मंगावै मोहिं।[८]
मो पै—मो पै सहा न जाइ।[९]
मो सें—मो सें मुखहुं न बोलै।[१०]
एक रूप पुरानी बैसवाड़ी की 'सनां' विभक्ति के साथ भी प्रयुक्त हुआ है—
मोहिं सनां—सो समुझाइ कहहु मोहिं सनां।[११]
हमसौं—माया हमसौं यौं कहै।[१२]

(४) **सम्प्रदान कारक**—

मोकौं—सेजरिया बैरिनि भई मोकौं।[१३]
हंमकौं—हंमकौं दे उपदेस।[१४]
हमहिं—हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई।[१५]

(५) **अपादान कारक**—

हंमतैं—राखि लेहु हंमतैं बिगरी।[१६]
हमसूं-हमसूं बाघिनि न्यारी।[१७]

---

१. १३-३ २. ५४-३ ३. २० १-२
४. सा० १६-३२-१ ५. सा० ५-५-१ ६. १३९-३
७. सा० ४-१४-२ ८. सा० ३२-१६-२ ९. २-४०-२
१०. १३९-२ ११. १०३-२ १२. सा० ३१-२६-१
१३. १५-७ १४. सा० ५-३-१ १५. ६-५
१६. ४४-१ १७. १६५-१०

(६) सम्बन्ध कारक—

मेरा—मेरा मनु लागा तोहिं रे।[१]
मेरै—कहै कबीर मेरै सिर परि साहेब।[२]
मेरो—नाचु रे मन मेरो नट होइ।[३]
मेरौ—कहै कबीर मेरौ मन मांन्यौ।[४]
मोर—मन मोर रहटा रसनां पिउरिया।[५]
मोरा—हरि मोरा पिउ।[६]
मोरै—रांम देव मोरै पाहुनैं।[७]
हमरा—कहै कबीर हमरा गोबिंद।[८]
हमरै—तुम हमरै भरतार।[९]
हमरौ—तव हमरौ नांउं रांम राई हो।[१०]
हमार—कहा हमार मांनैं नहीं।[११]
हमारा—धंनि-धंनि भाग हमारा।[१२]
हमारे—कैसे खसम हमारे।[१३]
हमारै—परा हमारै बारि।[१४]

उपर्युक्त रूप सामान्य हैं। निम्नांकित रूप ऐसे हैं, जो मूलतः सम्बन्ध कारक के तो नहीं हैं, अपितु मूल या विकृत हैं, किन्तु इनका प्रयोग सम्बन्ध कारक के रूप में हुआ है—

असामान्य प्रयोग—

मुज्झ—ते ते बैरी मुज्झ।[१५]
मो—मो मनि मोही आस।[१६]
मोहिं—मोहिं समसरि पापी।[१७]
हंम—हंम घरि आए।[१८]
हौं—हौं अभिमान टेढ़ पगरी[१९]

---

१. १०-१ २. ४-८ ३. १४-१
४. ३१-६ ५. १३६-१ ६. ११-१
७. ५-४ ८. २३-१० ९. १५-८
१०. ५३-७ ११. र० १९-८ १२. ५-६
१३. १८८-८ १४. सा० १९-५-२ १५. सा० १४-३६-१
१६. सा० ३१-१६-१ १७. ३९-१० १८. ५-२
१९. ४४-२

(७) अधिकरण कारक

मुझ मैं—मुझ मैं रही न हूं ।[१]
मुझ मांहि—तौ सब औगुन मुझ मांहि ।[२]
मों मांहीं—ए संतति मों मांहीं ।[३]
हंम—जम हंम परी बिराइ ।[४]

उपर्युक्त विभिन्न रूपों में से, कुछ रूपों का प्रयोग स्त्रीलिंग के लिए भी किया गया है। उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) कर्त्ता कारक—

मैं—मैं जोबन मैंमाती ।[५]
हौं—हौं तेरी नारी ।[६]

(२) **सम्बन्ध कारक**—इस कारक के स्त्रीलिंग रूपों का निर्धारण सम्बद्ध शब्द के आधार पर किया गया है। कवि अपने लिए कहीं तो पुल्लिग का प्रयोग करता है कहीं स्त्रीलिंग का। इसी कारण आगे आने वाला सम्बद्ध शब्द यदि स्त्रीलिंग में है, तो उत्तम पुरुष का रूप भी स्त्रीलिंग का निर्धारित किया गया है। इन रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

मेरी—मेरी पटिया लिखि देहु स्रीगोपाल ।[७]
मेरै—नाउं मेरै माया नांउं मेरै पूंजी ।[८]
मेरौ—मेरौ चपल बुद्धि सौं कहा बसाइ ।[९]
मोरी—अब कहु रांम कवन गति मोरी ।[१०]
मोहिं—तूं अथाहु मोहिं थाह नांहिं ।[११]
हमरी—हमरी दृष्टि परै त्रिखि डांइनि ।[१२]

बहुवचन—कबीर-काव्य में बहुवचन का केवल एक रूप प्राप्त होता है और वह भी स्त्रीलिंग है—

(१) **सम्बन्ध कारक**—

हमारी—माली आवत देखि के, कलियां करैं पुकार
फूली फूली चुनि गईं, काल्हि हमारी बार ।[१३]

इस दोहे में 'कलियां' कर्ता है, उसके लिए दूसरी पंक्ति का 'हमारी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक ओर यह स्त्रीलिंग रूप है, दूसरी ओर 'कलियां' शब्द

---

१. सा० ३-६-१ २. सा० ६-५-२ ३. ४०-७
४. सा० ३२-७-१ ५. ५-४ ६. १३९-४
७. २६-४ ८. २२-४ ९. ४३-२
१०. ४६-१ ११. ४३-७ १२. १६२-८
१३. सा० १६-३४

बहुवचन होने के कारण इसे भी बहुवचन का ही माना जाएगा। इस प्रकार संपूर्ण कबीर-काव्य में इस अकेले उदाहरण का अपना विशेष महत्त्व है। विशेषकर उस स्थिति में जबकि अन्य कोई भी उत्तम पुरुष का रूप बहुवचन का नहीं है।

(ख) **मध्यम पुरुष**—

		एकवचन	बहुवचन
मूल रूप—		तुम, तुम्ह, तूं (तू), तैं, आप (आदरार्थी)	तुम
		(बलात्मक— तुहिं, तूही, तुहीं)	
विकृत रूप—		तुझ (तुझकौं, तुझहिं, तुझु, तुझै)	
		तुज्झ (तुज्झ सौं)	
		तुम (तुम तैं, तुम मांहैं, तुमहीं महिं, तुम से, तुमहिं, तुमही तैं)	
		तुम्ह (तुम्ह सौं)	
		तोहिं	
		तोहि	
	स्त्री०	तुमहिं, तोहिं	
सम्बन्ध कारक—	पु०	तुम्हरा (तुम्हरै)	
		तुम्हार (तुम्हारै)	
		तुम्हारा	
		तेरा (तेरे, तेरै, तेरौ)	तेरा
		तोर (तोरहि, तोरा)	
		तोहरि	
		थारौ	
	स्त्री०	तुम्हरी	
		तुम्हारी	
		तेरी	
		तोर (तोरी)	
		तोहरि	

'तू' मूल रूप का 'तूं' की अपेक्षा कम प्रयोग मिलता है।

'आप' के विभिन्न कारकीय प्रयोग पृथक् से आदरवाचक अंश में दिए गए हैं।

मध्यम पुरुष के कारकीय प्रयोग

एकवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

तुम—तुम हमरै भरतार।[१]

'हिं' संयुक्त बलात्मक प्रयोग भी कबीर-काव्य में मिलता है—

तुमहिं—तुमहिं सो कंत।[२]
तुम्ह—तुम्ह जिनि जांनौं गीत है।[३]
तूं—तूं सतिगुरु हउं नौतनु चेला।[४]

'हीं' या 'ही' संयुक्त बलात्मक रूप भी उपलब्ध होते हैं—

तूंही—तब लग तूहीं ब्याहि।[५]
तुहीं—जाकौं ठाकुर तुहीं सारिंगधर।[६]
तू—तू चितवत कछु और।[७]
तैं—तैं बन-बन सोध्यौ डार-डार।[८]

(२) कर्म कारक—

तुज्झ—सकूं न तुज्झ बुलाइ।[९]
तुझ—तुझ तुरत छड़ाऊं मेरो कह्यौ मांनि।[१०]
तुझ कौं—तेरा तुझ कौं सौपतां।[११]
तुझहिं—चलु रे बैकुंठ तुझहिं लै तारउं।[१२]
तुझु—रे महावत तुझु डारउं काटि।[१३]
तुझै—तुझै बिरांनी क्या परी।[१४]
तुमहिं—तुमहिं छांड़ि जानउं नहिं दूजी।[१५]
तुम्ह—जे (जउ ?) तुम्ह अपनैं जन सौं कांम।[१६]
तोहिं—अब तोहिं जांन न दैहूं रांम पियारे।[१७]
तोहि कौं—हौं चितवत हौं तोहि कौं।[१८]

---

१. १५-८ २. १९-४ ३. १०-१३
४. ६-५ ५. ११०-६ ६. १३१-१२
७. सा० ११-६-१ ८. ७५-३ ९. सा० २-३२-१
१०. २६-६ ११. सा० ६-२-२ १२. ८१-४
१३. २३-५ १४. सा० १५-१३-२ १५. २२-४
१६. २७-२ १७. ७-१ १८. सा० ११-६-१

(३) **करण कारक**—

तुज्झ सौं—ज्यौं मेरा मन तुज्झ सौं ।[१]
तुझ—जिय तरसै तुझ मिलन कौं ।[२]
तुमही तैं— तुमही तैं मेरौ निस्तार ।[३]
तुम तैं— तुम तैं काल न दूरी ।[४]
तुम से—छांड्यौ गेह नेह लगि तुमसे ।[५]
तुम्ह सौं—मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बनि नहिं आवै ।[६]
तोहिं—मेरा मनु लागा तोहि रे ।[७]

(४) **सम्बन्ध कारक**—

तुम्हरा—आहि मेरे ठाकुर तुम्हरा जोर ।[८]
तुम्हरै—कहै कबीर स्वांमीं तुम्हरै मिलन कौं ।[९]
तुम्हार—स्रवनन सुनियत सुजस तुम्हार ।[१०]
तुम्हारा—सो सभ रूप तुम्हारा ।[११]
तुम्हारै—मुरसिद पीर तुम्हारै है को ।[१२]
तेरा—कहै कबीर सोई जन तेरा ।[१३]
तेरे— वारी तेरे नांउं परि ।[१४]
तेरै—अल्लह रांम जिउं तेरै नांईं ।[१५]
तेरौ—इन्ह मैं कछु नांहिं तेरौ ।[१६]
तोर—हउं सुअटा तोर ।[१७]
तोरहि—तीनि देव प्रतखि तोरहि ।[१८]
तोरा— अब मोहिं रांम भरोसा तोरा ।[१९]
थारौ—तौ सूरा थारौ (तिहारौ) नांउं ।[२०]

---

१. सा० ६-८-१ २. सा० २-१८-२ ३. ४५-४
४. ६६-७ ५. १५-४ ६. १८४-१
७. १०-१ ८. २३-१ ९. १२४-८
१०. ४५-३ ११. १७७-१३ १२. १८४-४
१३. २८-६ १४. सा० ३-६-२ १५. १७७-१
१६. २०-४ १७. ९-४ १८. १८७-१०
१९. ३८-१ २०. चौ० र० ३२-२

असामान्य प्रयोग—

तुज्झ—ग्राइ न सक्कौं तुज्झ पै ।[१]

तुम—हंम तुम बीच भयौ नहिं कोई ।[२]

तुम्ह—तुम्ह विन दुखिया देह रे ।[३]

(५) **ग्रधिकरण कारक**—

तुम मांहैं—हंम तुम मांहैं एकै लोहू ।[४]

तुमहीं महिं—जो कछु खोजौ सो तुमहीं महिं ।[५]

बहुवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

तुम—लोका तुम ज कहत हौ नंद कौ नंदन ।[६]

(२) सम्बन्ध कारक—

तेरा—धन जोबन तेरा यहीं रहैगा ।[७]

यह दोनों ही रूप एकवचन के हैं, किन्तु अपवाद रूप बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं।

उपर्युक्त विभिन्न रूपों में से, कुछ रूपों का प्रयोग स्त्रीलिंग के लिए भी किया गया है। उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) कर्त्ता कारक—

तूं—तूं रे फिरै ग्रपरोगी।[८]

तू—क्यौं तू पकरै कांच ।[९]

(२) सम्बन्ध कारक —

तुमहिं—हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई ।[१०]

तुम्हरी—ग्रब तुम्हरी परतीति न होई ।[११]

तुम्हारी – सब कोइ कहै तुम्हारी नारी ।[१२]

तेरी – कला बदौं मैं तेरी ।[१३]

तोर—काजी बकिबो हस्ती तोर ।[१४]

---

१. सा० २-३२-१ २. १९-४ ३. १३-२
४. र० १-२ ५. १४२-२ ६. १५४-१
७. ६४-६ ८. १६१-४ ९. सा० २१-३०-२
१०. ६-५ ११. १९-५ १२. १३-३
१३. १४-६ १४. २३-२

तोरी—तोरी सदा न देहियां रे।[1]

तोहरि—तोहरि चाल पाइनहुं तैं भारी।[2]

असामान्य प्रयोग—

तोहिं—मोहिं तोहिं बराबरी कैसे कै बनहि।[3]

(ग) अन्य पुरुष, परवर्ती निश्चयवाचक अथवा नित्य सम्बन्धी सर्वनाम—इन तीनों का रूप-रचना-सादृश्य के कारण एक साथ ही उल्लेख किया जा रहा है। लिंग, वचन, कारक के अनुसार इन सर्वनामों में परिवर्तन पाया जाता है। कबीर-काव्य में उपलब्ध विभिन्न लिंगों, वचनों तथा कारकों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

	एकवचन	बहुवचन
मूलरूप—	सो, ओ, सु, वह (वहु)	तिन
	वा (वै, वो)	तिन्ह
	उन, तिनि, तेनि	ते
	ऊ	उनि
बलात्मक—	सोइ (सोई)	तिनहीं, तिनहुं
	ओही (ओहु)	तेई, तेऊ
	तिनहीं	उनहुं (उनहूं)
विकृत रूप—	ता (ताकर, ताका, ताके ताकै, ताकौं, ताको, तातैं, तापर, तामैं, तासौं, ताहि, ताही कै, ताही कौ ताही सौं)	उनकै
	तास (तास का, तास कौं, तासु, तासुका, तासुकौं)	तिनका (तिनकै, तिनकौं, तिनतैं, तिनमांहि, तिनसौं, तिनहिं, तिनहुं, तिनहुं का)
	तिस (तिसका, तिसहिं, तिसुमहिं)	तिनि
	तिहि (तिहिं, तिहि मांहि)	ते (तेहि)
	वा (वाके, वाकै, वाकौ, वासौं, वाही)	
	वो	
	ओपै	

१. ६६-२ २. १३६-४ ३. १६६-७

सु
उस
उन

'वा' मूल रूप केवल चार ही बार प्रयुक्त हुआ है जिनमें एक पुल्लिग का है, शेष तीन स्त्रीलिंग के हैं। ब्रज में 'वा' स्त्रीलिंग में ही आता है। इसका आशय यह हुआ कि कबीर में भी यह स्त्रीलिंग में ही है केवल एक प्रयोग होने के कारण यह अपवाद माना जा सकता है। अन्य उदाहरणों में 'वा' सार्वनामिक विशेषण की तरह ही प्रयुक्त हुआ है।

'उन', तिनि', 'तिनहीं' मूलतः बहुवचन के हैं। आदरार्थ होने के कारण ये एक वचन में प्रयुक्त हुए हैं।

कारकीय प्रयोग

एकवचन--

(१) कर्त्ता कारक—

उन—सोरह सहस गोपी उन भोगी।[१]
ओ —ओ खेलै सब हिन घट मांहीं।[२]
ओही—तब ओही ओहु एहु न होई।[३]
ओहु—ओहु कंत कहावै।[४]
'ओही' 'ओहु' रूपों में 'ही' बलात्मक रूप संयुक्त है।
तिनहीं—तिनहीं पाया निरंजन देव।[५]
तिनि—जिनि पीया तिनि जानां।[६]
तेनि—कौतिग दीठा तेनि।[७]
वह—वह भयौ कांम कौ कीरा।[८]
वहु—यहु अरु वहु जबहीं मिलैं।[९]
वा—वा हालै वा चीरिहै।[१०]
वै—मति वै धोए जाहिं।[११]
वो—नां वो ग्वालन कै संगि फिरिया।[१२]
सु—सूरा होइ सु परम पद पावै।[१३]

१. १५८-८ २. र० १६-४ ३. चौ० र० ३६-३
४. चौ० र० ३८-२ ५. ६३-६ ६. १३४-६
७. सा० ६-१५-२ ८. १५८-८ ९. चौ० र० ३५-२
१०. सा० २४-२-२ ११. सा० २-४४-२ १२. र० ३-४
१३. ११६-८

सो—सो जानै पीर।[१]
सोइ— नांम (रांम ?) भजा सोइ जीता रे।[२]
सोई - जो कुछ था सोई भया।[३]
ऊ—नां ऊ चढ़ै वहोरि।[४]

(२) कर्म कारक—

ताकौं—मैं ताकौं सीस नवाऊं जी।[५]
तासकौं—कबीर सेवै तास कौं।[६]
तासु—माया तासु न झोलै (देव)।[७]
तासु कौं— यहु मन दीजै तासु कौं।[८]
ताहि— ताहि न लिपै पुन्नि अरु पाप।[९]
तिहिं— जो छेड़ै तिहिं खाइ।[१०]
वा— वा जांनें यहु होइ।[११]
वाकौ— वाकौ बिख ब्यापै नहीं।[१२]
वाही— वावा वाही जानिए।[१३]
वो—जे वो एक न जांनियां।[१४]
सु—जिहि गढ़ गढ़ा सु गढ़ महिं पावा।[१५]

(३) करण कारक—

तातैं— तातैं सुख मांग्या नहिं भावै।[१६]
तासौं—कबीर तासौं प्रीति करि।[१७]
ताहि—ताहि रहै लौ लाइ।[१८]
ताही सौं—तू ताही सौं ल्यौं लाइ।[१९]
वासौं—सांची बात कहै जे वासौं।[२०]

(४) सम्प्रदान कारक—

ताकौं—ताकौं अचरजु काहो।[२१]
ताकौ—सोहं हंसा ताकौ जाप।[२२]

---

१. ८-२ २. ६४-२ ३. सा० ६-६-२
४. सा० १५-१८-२ ५. ४-८ ६. सा० ७-११-२
७. ३१-५ ८. सा० २४-१३-१ ९. १३०-१४
१०. सा० ३०-१८-१ ११. चौं० र० ३५-१ १२. ३४-१०
१३. चौं० र० ३५-१ १४. सा० ११-१०-२ १५. चौं० र० १६-२
१६. १५६-३ १७. सा० २४-५-१ १८. सा० ५-७-२
१९. सा० २६-७-२ २०. र० १०-७ २१. २००-३
२२. १३०-१४

(५) अपादान कारक—

तातैं—तातैं बिसरि गए रस और ।[१]

(६) सम्बन्ध कारक—

उस—उस रखवारा अउरो होवै ।[२]

उन - जे होते उन वास ।[३]

ताकर—ताकर हाल होइ अदभूता ।[४]

ताका—ताका करौ बिचारा ।[५]

ताके—ताके पग की पांनही ।[६]

ताकै—ताकै हिरदै आप ।[७]

ताकौ—ताकौ मन क्यौं डोलै ।[८]

तास—मरम न जांनैं तास ।[९]

तासका—अब घर जालौं तासका ।[१०]

तासु—कहै कबीर तासु मैं चेला ।[११]

तासुका—अमल मिटावौं तासु का[१२]

ताही कै—सो ताही कै पासि ।[१३]

ताही कौ—धन्नि जनम ताही कौ गनैं ।[१४]

तिसका—तिसका मरम न जांनां ।[१५]

वाके—वाके बढ़ै सवाई करमां ।[१६]

वाकै—वाकै ह्रिदै बसै भगवांन ।[१७]

वाकौ—नेक निचोइ सुधारस वाकौ ।[१८]

असामान्य प्रयोग—

वो—आदि अंत वो किनहुं न जांनां ।[१९]

तिस—जिस तूं तिस सब होइ ।[२०]

तिहि—तिहि निंदहिं जिन गंगा आंनीं[२१]

ता—ता संगि रमैं मुरारि ।[२२]

---

१. ५५-२ २. १६२-३ ३. सा० ४-१-२
४. र० ९-७ ५. १५८-२ ६. सा० ४-१३-२
७. सा० १५-१६-२ ८. ३१-१ ९. सा० ७-६-१
१०. सा० ५-१३-२ ११. ११२-८ १२. १५२-११
१३. सा० २-२६-२ १४. चौ० र० २०-२ १५. १८३-९
१६. र० ८-१ १७. २३-६ १८. १४६-२
१९. र० २-२ २०. सा० ८-८-१ २१. १६७-४
२२. ८२-९

(७) अधिकरण कारक—

ओपै —सुंदरि नांउं न ओपै ।[1]

तापर—तापर साजा रूप ।[2]

तामैं—तामैं बोहिथ रांम अधार ।[3]

तिसुमहिं—तिसुमहिं धार चुअै अति निरमल ।[4]

तिहिं—तिहिं चढ़ि रहा कबीर ।[5]

तिहि मांहिं—सकल मांड तिहि मांहिं ।[6]

बहुवचन—

(१) कर्ता कारक—

उनहुं—भगति करी मन उनहुं न जांनां ।[7]

उनहूं—तन भीतर मन उनहूं न पेखा ।[8]

उनि—उनि हरि पहिं क्या लीनां ।[9]

तिन – तिन बैकुंठ न जांनां ।[10]

तिनहीं—तिनहीं परम पदु पाया ।[11]

तिनहुं— कुदरति खोजि तिनहुं नहिं पावा ।[12]

तिन्ह —तिन्ह सुख नींद बिहाइ ।[13]

ते—कहै कबीर ते भए खालसै ।[14]

तेई—धन संचैं तेई मुए ।[15]

तेऊ—तेऊ उतरि पारि गए ।[16]

(२) कर्म कारक –

तिनकौं—तिनकौं देखि कबीर लजांनें ।[17]

तिनहिं—तिनहिं बिसारि और लग री ।[18]

तिनहुं —तिनहुं न भावै आंन ।[19]

ते—ते बाघिनि धरि खाया ।[20]

तेहिं—तेहि लखि भंवरा रह्यौ भूल ।[21]

---

१. १७६-१० २. सा० ३१-१५-१ ३. र० २०-६
४. १३३-६ ५. सा० २०-४-२ ६. सा० ७-११-१
७. ४८-३ ८. ४८-५ ९. ८६-८
१०. ८४-३ ११. ३२-६ १२. र० ६-१
१३. सा० ४-१२-१ १४. ८६-१० १५. सा० ३१-१२-२
१६. २०-६ १७. १६७-६ १८. ४४-४
१९. सा० २३-१-२ २० १६५-७ २१. ७५-५

(३) करण कारक—

तिन सौं—तिन सौं अंतर खोलि ।[1]

(४) सम्प्रदान कारक—

तिन कौं—तिन कौं क्रिपा भई है अपार ।[2]

तिनहीं कौं—दोइ कहैं तिनहीं कौं दो जग ।[3]

(५) अपादान कारक—

तिनतैं—तिनतैं सदा डरांनै रहिए ।[4]

(६) सम्बन्ध कारक—

उनकै—जिभ्या लेस लगै नहीं उनकै चिकनाई ।[5]

तिनका—तिनका नहीं पतिआरा ।[6]

तिनकै—तिनकै मैं बलिहारै जांउं ।[7]

तिनहुंका—भाग तिनहुंका हे सखी ।[8]

तिनि—जिनि जांनां तिनि निकटि है ।[9]

(७) अधिकरण कारक—

तिन मांहिं—भूत बसैं तिन मांहिं ।[10]

उपर्युक्त विभिन्न रूपों में से, कुछ रूपों का प्रयोग स्त्रीलिंग के लिए भी किया गया है—

एकवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

वह—वह बैठी हरिजस सुनैं ।[11]

वा—वा मांग संवारै पीव की ।[12]

सो—सो भी देखि डरी ।[13]

सोइ—सोइ रावन की साहिवी छिन मांहिं बिलानीं रे ।[14]

सोई—सोई नइ नइ जाइ ।[15]

(२) कर्मकारक—

ताहि—ताहि न कबहूं परिहरै ।[16]

---

१. सा० १५-७७-२ २. ४५-५ ३. ७६-२
४. १६७-२ ५. ३४-१२ ६. ८०-५
७. ३०-३ ८. सा० ४-३५-२ ९. २० ९-९
१०. सा० ४-६-२ ११. सा० २१-१०-२ १२. सा० ४-११-२
१३. २-५ १४. ६६-६ १५. सा० ८-३-२
१६. सा० ११-१४-२

(३) सम्बन्ध कारक—

ताकी—ताकी संगति रांम जी।[1]

तिसकी—तिसकी भाव भगति नहिं साधी।[2]

वाकी वाकी बिधवा कस न भई महतारी।[3]

असामान्य प्रयोग—

उस—उस रखवारा अउरो होवै।[4]

उसही—तौ उसही पुरिख कौं लाज।[5]

(४) अधिकरण कारक—

तामैं—तामैं ब्रह्म समांनां।[6]

बहुवचन —

(१) सम्बन्ध कारक—

तिनकी—तिनकी पदपंकज हम धूरि।[7]

२.३.२ निश्चयवाचक—

निश्चयवाचक सर्वनाम के दो भेद होते हैं—(१) निकटवर्ती (२) दूरवर्ती। दूरवर्ती सर्वनाम को अन्य पुरुष के रूपों से पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः उनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहां निकटवर्ती रूपों ही का विवेचन किया जाएगा। कबीर-काव्य में अधिकांशतः इनका प्रयोग विशेषण रूप में हुआ है। सर्वनाम में जो रूप मिलते हैं नीचे दिये जा रहे हैं—

निकटवर्ती

	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप—	इन, इह	
	एउ, एह (एहु)	ए (एहि)
	यह (यहु)	
बलात्मक—	इहै, एही	
विकृत रूप—	इस (इसहिं, इसका)	इन (इनका, इनतैं,
	एहि (एहि मांहि)	इनमहिं, इनहीं मांहि,

१. सा० ४-२८-२ २. ४०-२ ३. ६४-३

४. १६२-३ ५. सा० ११-८-२ ६. १८४-३

७. ३०-४

या (यातैं, याही तैं) इनमैं, इनि)
इन (इन तैं, इन्ह) इन्ह (इन्ह मैं)

विभिन्न कारकों में इनके प्रयोग इस प्रकार हैं। कहीं तो कारक-विभक्ति का लोप हो गया है और कहीं विद्यमान है।

कारकीय प्रयोग

एकवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

इन—इन दोनिउं फल पाइए।[१]
इह—इह कहिग्रै किसु मांहीं।[२]
एक पंक्ति में इसका बलात्मक प्रयोग भी विद्यमान है—
इहै—इहै प्रभू की बांनि।[३]
एउ—भूली मालिनीं है एउ।[४]
एह—संतनि का ग्रंग एह।[५]
एहु—तब ग्रोही ग्रोहु एहु न होई।[६]
इसी का 'ही' संयुक्त बलात्मक रूप 'एही' भी प्रयुक्त हुआ है—
एही—बोलनहारु परम गुर एही।[७]
यह—यह बातां की बात।[८]
उकार बहुला प्रवृत्ति के कारण इसका 'यहु' रूप कबीर-काव्य में अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ—
यहु—हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई।[९]

(२) कर्म कारक—

इसहिं—इसहिं तुरावहु घालहु सांटि।[१०]

(३) करण कारक—

इनतैं—इनतैं कहहु कवन है नींचा।[११]
यातैं—यातैं लौंगहिं फर नहिं लागै।[१२]

---

१. १०-१२ २. ११३-६ ३. सा० ३२-६-२
४. १८७-१ ५. सा० ४-२४-२ ६. चौ० र० ३६-२
७. १२६-३ ८. सा० २५-१७-१ ९. ६-५
१०. २३-५ ११. र० ७-४ १२. १५७-३

इसका 'ही' संयुक्त रूप भी प्रयुक्त हुआ है—

याही तैं—याही तैं जो अगम है ।[१]

(४) सम्बन्ध कारक—

इनकै—लागि रहे इनकै आसरमां ।[२]

यह प्रयोग बहुवचन का है। यहाँ यह आदरार्थ एकवचन में प्रयुक्त हुआ है ।

इन्ह—इन्ह दुखवो मति कोइ ।[३]

इसका—अब हंम इसका पाया भेउ ।[४]

या—कवीर या बिन सूरिवां ।[५]

(५) अधिकरण कारक—

कवीर-काव्य में एक ही दोहे में इस कारक का प्रयोग मिलता है और वह भी बलात्मक है—

एहि मांहिं—भूलि परै एहि मांहि ।[६]

बहुवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

ए—दाया धरम ग्यांन गुर सेवा ए सुपनंतरि नांहीं ।[७]

एहि-लुंचित मुंडित मोनि जटाधर एहि कहहिं सिधि पाई ।[८]

(२) करण कारक—

इनि —माया मोह धन जोबनां इनि बंधे सब लोइ ।[९]

(३) अपादान कारक—

इनतैं—इनतैं भागि बहुरि पुनि आगी ।[१०]

(४) सम्बन्ध कारक —

इनका— इनका इहै बिजोग ।[११]

असामान्य प्रयोग—

इन—इन संगि जनम गंवायौ ।[१२]

(५) अधिकरण कारक—

इन महिं—सो अक्खिर इन महिं नांहि ।[१३]

---

१. र० ३-१० २. र० ७-२ ३. सा० ४-१६-१
४. १६२-६ ५. सा० १४-६-२ ६. सा० १०-१३-२
७. ४०-८ ८. १६६-४ ९. र० १४-८
१०. र० १७-६ ११. सा० ३१-६-२ १२. ३६-४
१३. चौ० र० १-२

इसी का 'ही' संयुक्त रूप भी है—
इनहीं मांहि—सभ कछु इनहीं मांहि।[1]
इनमैं—इनमैं किनहुं न पाई।[2]
इन्ह मैं—इन्ह मैं कछु नांहिं तेरौ काल अवधि आई।[3]

२.३.३ सम्बन्धवाचक—

कबीर के काव्य में इस सर्वनाम के जो रूप उपलब्ध होते हैं वे निम्न हैं। इन्हें एकवचन और बहुवचन दो वर्गों में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है—

	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप—	जिन	जिन (जिनहिं, जिनहुं जिनि)
	जिनि	जिन्ह
	जिन्हि	जे
	जिहिं	
	जु	
	जे (जेहिं)	
	जो	
	ज	
विकृत रूप—	जा (जाका, जाकी, जाके, जाकै, जाकौं, जाकौ, जातैं, जामहिं, जामैं, जासु, जासौं, जाहि)	जा (जामैं)
	जिनि (जिनकी, जिहिं, जिहि)	जिनि (जिनि के)
	जिस (जिसकर, जिसका, जिसहिं)	जिन (जिनके जिनतैं जिन पर)
	जे (जेहिं, जेहि)	जिन्ह (जिन्ह के)
	ज	

इनमें 'जिन,' 'जो,' मूल रूप तथा 'जा,' 'जाकै,' 'जाकी', 'जिनकी', 'जातैं' विकृत रूप स्त्रीलिंग शब्दों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। विभिन्न कारकों में इनके प्रयोग आगे दिये जा रहे हैं।

---

१. चौ० र० १-१ २. ८५-६ ३. २०-४

कारकीय प्रयोग

एकवचन—

(१) कर्त्ता कारक —

जिन— जिन या बेदन निरमई ।[१]

जिनि— जिनि ग्यांन रतनु हरि लीन मोर ।[२]

'जिन' रूप बहुवचन का है किन्तु यहां आदरार्थ एकवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसका स्त्रीलिंग के लिए प्रयोग निम्न है—

— जिन जाया बैसनौं पूत ।[३]

जिन्हि —मुए हनुमत जिन्हि बांधल सेता ।[४]

जिहिं --जिहिं सहजैं बिखया तजै ।[५]

जु—सो सुरतान जु दुइ सर तानैं ।[६]

जेहि --जेहि झूठे बंधायौ ग्रांनां ।[७]

जो—जो बोलै सो ग्रावै होइ ।[८]

—धन्नि सुहागिनि जो पिय भावैं ।[९]

ज—सिंघ ज बैठा पांन कातरै ।[१०]

(२) कर्म कारक —

जाकौं – जाकौं तन मन सौंपिया ।[११]

जाकौ—जाकौ यह जग घिन कर चालै ।[१२]

जाहि – दुख-सुख जाहि न कोइ ।[१३]

जिनि—तुम जिनि जांनौं गीत है ।[१४]

जिहिं - कै जानैं जिहिं लागि ।[१५]

जिहि—जिहि भावै सो ग्राइ ले ।[१६]

जेहिं राजा परजा जेहिं रुचै ।[१७]

जेहि— जेहि लागै सो जानैं पीर ।[१८]

---

१. सा० २-१४-२ २. ४३-३ ३. सा० ४-३८-१
४. १०३-४ ५. सा० ३४-१-२ ६. १२८-७
७. र० १४-२ ८. १३०-१७ ९. ११-५
१०. ११४-५ ११. सा० २-२८-२ १२. १२२-८
१३. सा० ७-४-१ १४. १०-१३ १५. सा० १४-२८-२
१६. सा० १४-१६-२ १७. सा० १४-३२-२ १८. ८-२

ज — कहता हूं ज पुकारी ।[1]

(३) करण कारक —

जासौं — जासौं रहिए लागि ।[2]

(४) सम्प्रदान कारक—

जाकौं — जाकौं जोग जग्गि तप कीजै ।[3]

(५) अपादान कारक—

जातैं — जातैं जरा मरन भ्रम जाइ ।[4]

इसका स्त्रीलिंग के लिए भी प्रयोग हुआ है —

— जातैं जीवन होइ ।[5]

(६) सम्बन्ध कारक—

जाका — जाका गुरु है आंधरा ।[6]

जाकी — जाकी दिस्टि नाद लिव लागै ।[7]

जाके — जाके हिरदै हरि बसै ।[8]

जाकै — जाकै हरि सा ठाकुरु भाई ।[9]

— जाकै थांघी नांहीं कोइ ।[10]

जाकौ जाकौ ठाकुर तुहीं सारिंगधर ।[11]

जासु — जासु नांम है गरब प्रहारी ।[12]

जिनकी — सरनि परै जिनकी पगरी ।[13]

जिसकर — जिस कर गाउं न ठांउं ।[14]

जिसका — जिसका दुरुस रहै ईमांन ।[15]

जेहिकर — जेहिकर सर लागै हिए ।[16]

असामान्य प्रयोग —

जा — जा मुखि रांम न होई ।[17]

जिस — जिस तूं तिस सब कोइ ।[18]

जिसहिं — जिसहिं न कोई तिसहिं तूं ।[19]

जिहिं — जिहिं मुख निकसै रांम ।[20]

---

१. १७०-१ २. सा० ५-२-१ ३. ३३-४
४. १४४-२ ५. सा० २-२४-२ ६. सा० १-६-१
७. १३३-२ ८. सा० ३२-१२-१ ९. ३८-३
१०. सा० ६-३-१ ११. १३१-१२ १२. र० ७-६
१३. ४४-५ १४. र० ४-६ १५. १७२-४
१६. र० १६-६ १७. १८२-५ १८. सा० ८-८-१
१९. सा० ८-८-१ २०. सा० ४-१३-१

जिहि—जिहि घटै मूल नित बढ़ै ब्याजु।[१]

(७) अधिकरण कारक—

जामहि—जामहि जोति करै परगास।[२]

जामैं—जामैं बिखै बिकार।[३]

बहुवचन—

(१) कर्त्ता कारक—

जिन—जिन नाहिंन पहिचांनां।[४]

जिनहि—जिनहि निवाज साज सब कीन्हें।[५]

जिनहुं जिनहुं किछु जांनां नहीं।[६]

जिनि—जिनि पीया तिनि जांनां।[७]

जिन्ह—रांम भगति जिन्ह जांनीं।[८]

जे—अंतरि मैल जे तीरथ न्हावै।[९]

(२) अपादान कारक—

जिनतैं - जिनतैं साहिब बीछुरा।[१०]

(३) सम्बन्ध कारक—

जिनके—जिन के नौबति बाजती।[११]

जिनिके—गर मिलि जिनिके खुले कपाट।[१२]

जिन्हके—जिन्हके लाख करोरि।[१३]

असामान्य प्रयोग—

जिनि -बूड़े जिनि सिर भार।[१४]

(४) अधिकरण कारक—

जामैं—जामैं मोहि रहे सब जीवजंत।[१५]

जिनपर—जिनपर क्रिपा करत हैं गोबिंद।[१६]

---

१. १ ६-२ २. १३०-३ ३. सा० २५-४-२
४. ७६-२ ५. ४४-४ ६. सा० ४-१२-१
७. १३४-६ ८. ८६-१० ९. ८४-३
१०. सा० २-३-२ ११. सा० १५ ४२-१ १२. ६३-१०
१३. सा० १५-२१-२ १४. सा० १५-२७-२ १५. १४१-३
१६. ७३-८

२.३.४ प्रश्नवाचक—

कबीर के काव्य में इस सर्वनाम के जो रूप उपलब्ध होते हैं उनमें लिंग, वचन के आधार पर परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता। इस कारण सभी रूपों को एकसाथ ही प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रश्नवाचक के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं—

मूल रूप— कौंन (कौंनैं)
कवन (कवनां)
किन (किनि)
को
क्या

विकृत रूप— कवन सौं
कहा
का (काकर, काकी, काकै, काको, काकौं, काकौ, कासनि, कासौं, काहि, काहू, काहूका)
किस (किसका, किसकी, किसके, किसकेरा किसकौ, किसुमांहीं)
कौंन (कौंनकी)
क्या

विभिन्न कारकों में इनके प्रयोग निम्नलिखित हैं :—

कारकीय प्रयोग

अपादान कारक का कोई रूप नहीं है।

(१) कर्त्ता कारक—

कवन—कहहु कवन है राजा।[१]
कवनां—जारै खसम त राखै कवनां।[२]
किन—रांम नांम बिन किन सिधि पाई।[३]
किनि—हरि के नांम बिनु किनि गति पाई।[४]
को—नां जांनौं को पियहिं पियारी।[५]
कौंन—गयौ दिसावरि कौंन बतावै।[६]
कौंनैं—जसरथ कौंनैं जाया।[७]
क्या—झूठे तन कौं क्या गरबावै।[८]

१. १३३-८ २. २१-३ ३. १७४-६
४. ८५-१० ५. ८-४ ६ १५१-३
७. १५८-५ ८. ६२-१

(२) कर्म कारक—

कहा—कहा कहौं कछु कहत न आवै ।[१]
काको—काको जरै काहि होइ हांनि ।[२]
काकौं—काकौं कहिए बांह्मन सूदा ।[३]
काकौ—काकौ कहौं कसाई ।[४]
काहि—मैं अनाथ प्रभु कहउं काहि ।[५]
काहू—परा न काहू चीन्हि ।[६]
क्या—बिनु बोलें क्या करहि बिचारा ।[७]

(३) करण कारक—

कवन सौं—तेरी निरगुन कथा कवन सौं कहिअै ।[८]
कासनि—तब कासनि कहिए जाति ।[९]
कासौं—कहै कबीर दुख कासौं कहिए ।[१०]
काहि—कहै कबीर यहु कहिअै काहि ।[११]

(४) सम्प्रदान कारक—

काकौं—ए दोइ काकौं दीन्हां रे ।[१२]
काहू—काहू दीन्हां पाट पटंबर ।[१३]
किसकौ—तिहिं घर किसकौ चांदनौं ।[१४]

(५) सम्बन्ध कारक—

काकर—मुएं मरम को काकर जांनां ।[१५]
काकी—कौंन पुरिख को काकी नारी ।[१६]
काकै—को काकै बिसवासा ।[१७]
काकौ—कौंन पूत को काकौ बाप ।[१८]
काहूका—तब काहू का कवन निहोरा ।[१९]
किसका—तब कुल किसका लाजसी ।[२०]
किसकी—करहि किसकी सेव ।[२१]

---

१. २-२ २. २१-४ ३. र० १०-८
४. १११-६ ५. ४३-४ ६. सा० २६-४-२
७. ६१-३ ८. १३४-७ ९. र० ६-७
१०. ३६-७ ११. २६-६ १२. १०२-१
१३. ६५-५ १४. सा० १-३-२ १५. ७८-४
१६. ४६-३ १७. ११३-८ १८. ४६-४
१९. ३८-२ २०. सा० १५-२८-२ २१. १८७-१०

किसके—किसके मुख परि नूर।[1]
किसकेरा—और मुलुक किस केरा।[2]
कौंनकी—यह माया कहौ कौंन की।[3]

असामान्य प्रयोग—

काहि—काको जरै काहि होइ हांनि।[4]

(६) अधिकरण कारक—

किसुमांहीं—इह कहिअै किसु मांहीं।[5]

२.३.५ अनिश्चयवाचक—

कबीर के काव्य में इस सर्वनाम के जो रूप उपलब्ध होते हैं उनमें लिंग, वचन के आधार पर परिवर्तन नहीं होता इस कारण इन्हें एक साथ ही लिखा जा रहा है। अनिश्चयवाचक के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं—

मूल रूप— कछु (कछू, किछु, किछू)
काइ
काहू
किनहुं (किनहूं)
कोइ (कोई, कोऊ)

विकृत रूप— एकन
कछु (कछू, किछु, किछू)
काहू (काहू कै, काहू को, काहू महिं)
किस (किसही का, किसा)
कोई
किसी (किसी के)

विभिन्न कारकों में इनके प्रयोग निम्नलिखित हैं :—

कारकीय प्रयोग

(१) कर्त्ता कारक—

कछु—कहा कहौं कछु कहत न आवै।[6]
कछू—तिनका कछू न नासा।[7]
किछु—क्या मागौं किछु थिर न रहाई।[8]

---

१. सा० १४-१४-२ २. १७७-९ ३. ९६-३
४. २१-४ ५. ११३-६ ६. २-२
७. ८८-७ ८. ९९-१

किछू—बाहरि किछू न सूझै ।[१]
काइ—छेती नांहीं काइ ।[२]
काहू—कोरी कौ काहू मरमु न जांनां ।[३]
किनहुं—तेरी गति किनहुं न पाई ।[४]
किनहूं—मृत्यु काल किनहूं नहिं देखा ।[५]
कोइ—गुर बिन दाता कोइ नहीं ।[६]
कोई—जाति-पांति न लखै कोई ।[७]
कोऊ—कहै कबीर कोऊ संग न साथ ।[८]

(२) कर्म कारक—

एकन कौं—एकन कौं देखत छलि जाई ।[९]
'एकन' संख्यावाचक विशेषण होते हुए भी यहाँ भाव अनिश्चयवाचक सर्वनाम का ही है ।
कछु—जो कछु किया सु हरि किया ।[१०]
कछू—कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां ।[११]
किछु—किछु किया न नीका ।[१२]
किछू—जिनहुं किछू जांनां नहीं ।[१३]
कोई—कर कोई निज दास ।[१४]
किसा—तिनकी गांठी किसा गिरत्थ ।[१५]

(३) करण कारक—

काहू—अति अभिमांन बदत नहिं काहू ।[१६]

(४) सम्प्रदान कारक—

काहू को—कोई काहू को नहीं ।[१७]

(५) अपादान कारक—

काहू—कबिरा सब काहू बुरा ।[१८]

(६) सम्बन्ध कारक—

काहू कै—काहू कै हीरा होइ बैठी ।[१९]

---

१. १२२-५ २. सा० १६-२६-१ ३. १५०-१,
४. ८५-४ ५. र० १२-२ ६. ३-१
७. १-४ ८. २४-५ ९. १६४-६
१०. सा० ८-१-२ ११. ६-६ १२. ३९-७
१३. सा० ४-१२-१ १४. सा० ९-३५-२ १५. सा० ३२-५-२
१६. ९१-४ १७. सा० १५-३०-२ १८. सा० ६-४-२
१९. १६३-६

किसही का—दावा किसही का नहीं ।[1]
किसी के—हंम न किसी के न हमरा कोई ।[2]

(७) अधिकरण कारक—

काहू महिं—काहू महिं मोती मुक्ताहल ।[3]

२.३.६ निजीवाचक—

कबीर के कव्य में निजवाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप व्यवहृत हुए हैं :—

मूल रूप —आप (आपि, आपु)
बलात्मक—आपैं, आपै, आपहिं, आपुहि
विकृत रूप—अपनां (अपनीं, अपनीं का, अपनैं, अपनौं)
आप (आपकौं, आपन, आपनां, आपनीं, आपनैं, आपनौं, आपस, आपा, आपा मां हैं, आपुन आपै आप)
रउरा

(रउरा का केवल एक ही प्रयोग उपलब्ध होता है । यह अपवाद है ।)

कारकीय प्रयोग

(१) कर्त्ता कारक—

आप—आप आपकौं काटिहै ।[4]
आपहिं—अपनै रूप कौं आपहिं जांनैं ।[5]
आपि—आपि न बौरा ।[6]
आपु—आपु गए ।[7]
आपुहि—आपुहि करता भए कुलाला ।[8]
आपैं—तौ आपैं करता सोइ ।[9]
आपै—आपै रहै अकेला ।[10]

(२) कर्म कारक—

आपकौं—आप आपकौं काटिहै ।[11]
आपस कौं—आपस कौं मुनिवर करि थापहु ।[12]

---

१. सा० ३२-२-२ २. १९३-५ ३. ६५-४
४. सा० १५-६०-२ ५. ११९-२ ६. १९०-४
७. १६७-५ ८. र० १०-१ ९. सा० २९-६-२
१०. ११९-२ ११. सा० १५-६०-२ १२. १९१-६

आपुन—आपुन गया भुलाइ ।[१]

(३) सम्बन्ध कारक—

अपनां—लै सूती अपनां पिय प्यारा ।[२]

अपनीं—अपनीं नौबति चले बजाइ ।[३]

अपनीं का—दिल अपनीं का सांच ।[४]

अपनैं—जे (जउ ?) तुम्ह अपनैं जन सौं कांम ।[५]

अपनौं—न्यौति जिमांऊं अपनौं करहा छार मुनिस की दाढ़ी रे ।[६]

आपन—सभ आपन औसर चले हारि ।[७]

आपनां—हंम घर जारा आपनां ।[८]

आपनीं—कबीर नौबति आपनीं ।[९]

आपनैं—जाहु बैद घर आपनैं ।[१०]

आपनौं—देखत जमम आपनौं हारै ।[११]

आपै आप—आपै आप भुलांन ।[१२]

असामान्य प्रयोग—

आपा—आपा जांनि उलटि लै आप ।[१३]

रउरा—आसन पवन दूरि करि रउरा ।[१४]

(४) अधिकरण कारक—

आपामांहैं—यौं आपा मांहैं आप ।[१५]

२.३.७ आदरवाचक—

कबीर के काव्य में आदरवाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप प्रयुक्त होते हैं :—

मूल रूप— आप

विकृत रूप— आप (आपकौं, आपतैं, आपकी)

---

१. सा० ३१-२४-२ २. ४-६ ३. १००-१

४. सा० १-२०-१ ५. २७-२ ६. १३१-८

७. ४३-६ ८. सा० ५-१३-१ ९. सा० १५-३-१

१०. सा० २-१४-१ ११. र० ८-२ १२. र० ११-८

१३. १०७-६ १४. १७२-१ १५. सा० ९-१०-२

कारकीय प्रयोग

(१) कर्त्ता कारक—

आप—ताकै हिरदै आप।[1]

(२) कर्मकारक—

आपकौं—कबीर नवै सो आपकौं।[2]

(३) करण कारक—

आपतैं—आंनि कीटक करत भ्रिंग सो आपतैं रंगी।[3]

(४) सम्बन्ध कारक—

आपकी—बलिहारी गुर आपकी।[4]

---

१. सा० १५-१६-२ २. सा० १५-७६-१ ३. १-२

४. सा० १-१६-१

२.४ परसर्ग

२.४.० परसर्ग का अर्थ है कारक-चिन्ह ।[१] कबीर की भाषा की प्रवृत्ति संयोगात्मक और अयोगात्मक दोनों प्रकार की भाषाओं के मध्य की है ।

परसर्गों की संख्या के विषय में मतभेद है । यह व्याकरण का सैद्धान्तिक पक्ष है अतः उस मतभेद में न पड़कर सामान्यतः मान्य आठ परसर्गों को ही यहां स्वीकार कर लिया गया है । विभिन्न कारकों के क्रम से कबीर-काव्य में प्राप्त परसर्गों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

कर्त्ता कारक —
कर्म कारक—कउं, कउ, कै, को, कौं, कौ
करण कारक— तें, तैं, सनां, सनि, सें, सेती, सौं, सो
पै (भाववाच्य में)
सम्प्रदान कारक—कउ, कौं, कौ
अपादान कारक—ते, तैं, सूं, से, सेती, सौं
सम्बन्ध कारक—क, का, की, के, कै, को, कौं, कौ कर, केर
केरा, केरी, केरे, केरै
अधिकरण कारक —मंझा, मंझारि, मंझि, मंझै, मझारं, मझार
मझारी, मांझ, मद्धे, महं, महिं, महियां
महुं, मांहि, मांहीं, मांहैं, माहिं
में
मैं
पर, परि
पहिं,
पैं, पै
सम्बोधन कारक—री, रे
हे, हो
(सम्बोधन कारक में पूर्वसर्ग है)

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ब्रजभाषा व्याकरण में परसर्ग तथा हिन्दी भाषा के इतिहास में कारक चिन्ह का प्रयोग किया है । देखिए क्रमशः पृ० ११६, पृ० २६४; का० प्र० गु० ने हिन्दी व्याकरण में इनके लिए 'विभक्तियां' शब्द दिया है, (पृ० २७९) ।

अवधी अथवा पुरानी बैसवाड़ी के कर, केर, केरा, आदि रूप रमैनियों तथा साखियों में अधिक हैं। कबीर-काव्य में कन्नौजी का 'सेती' तथा पुरानी बैसवाड़ी के 'सनां' ('सन' का तुकान्त के कारण किया गया आकारान्त अनुनासिक रूप) 'सनि' और 'महं' रूप[१] भी विद्यमान हैं। किन्तु इन दोनों के रूपों के उदाहरण बहुत कम हैं। सामान्यतः ब्रज, अवधी, खड़ी बोली के परसर्गों का प्रयोग किया गया है।

२.४.१ कर्म कारक—

कउं—मोकउं कहा पढ़ावसि आल जाल।[२]
कउ—तिसु काजी कउ जरा न मरनां।[३]
कै—कतहूं कै जासी।[४]
को—बहते को बहि जांन दे।[५]
कौं—तौ अंधे कौं का कीजै।[६]
कौ—कारे मूंड़ कौ एक न छांड्यौ।[७]
सबसे अधिक प्रयोग 'कौं' का है, 'कउं', 'कउ' रूप अपवाद हैं।

२.४.२ करण कारक—

तें—लागे तें भागै नहीं।[८]
तैं—साधन तैं सिधि पाइए।[९]
सनां—सो समुझाइ कहहु मोहिं सनां।[१०]
सनि—तब कासनि कहिए जाति।[११]
सें—मो सें मुखहुं न बोलै।[१२]
सेती—सांईं सेती नेह।[१३]
सौं—ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।[१४]
सो—जोबन जारि जुगति सो पावै।[१५]
भाववाच्य में 'पै' रूप का प्रयोग हुआ है :—

---

१. G. H. L, P. 120, Table ii, Post-Positions.
२. २६-४ ३. १२८-६ ४. र० २०-१
५. सा० १५-८६-१ ६. ७२-१२ ७. १६०-४
८. सा० १४-२२-२ ९. १०-६ १०. १०३-२
११. र० ६-७ १२. १३६-२ १३. सा० ४-२४-१
१४. ४८-७ १५. चौ० र० १३-१

पै—मो पै सहा न जाइ ।[1]

'तैं' तथा 'सौं' का अधिक प्रयोग है, 'सनां', 'सनि' तथा 'पै' रूप अपवाद हैं ।

२.४.३ **सम्प्रदानकारक**

कउ—तिसु काजी कउ जरा न मरनां ।[2]

कौं—देबे कौं कछु नांहिं ।[3]

कौ—स्वारथ कौ सब कोइ सगा।[4]

सबसे अधिक प्रयोग 'कौं' का है, 'कउ' अपवाद है ।

२.४.४ **अपादान कारक**

ते—कबीर सभ ते हंम बुरे ।[5]

तैं—ऊंहां तैं फुनि गिरि पड़ा ।[6]

सूं—हमसूं बाघिनि न्यारी ।[7]

से—गुर (हरि) से रहा अमीता रे ।[8]

सेती—हरिजन सेती रूसनां, संसारी सौं हेत ।[9]

सौं—जब हिरदैं सौं भै भया ।[10]

'तैं' तथा 'सौं' रूप अधिक प्रयुक्त हुए हैं, 'से' अपवाद है ।

२.४.५ **सम्बन्ध कारक**

क—तूं ब्रांह्मन मैं कासी क जोलहा ।[11]

का—इस गुनवंती बेलि का, कछु गुन बरनि न जाइ ।[12]

की—इस जोबन की आस ।[13]

के—कै हरि के गुन गाइ ।[14]

कै—हरि भगतन कै चेरी ।[15]

को—राम को पिता जो जसरथ कहिअै ।[16]

कौं—तन कौं जोगी सब करै ।[17]

कौ—हरि कौ नांउं लै ।[18]

---

१. सा० २-४०-२ २. १२८-६ ३. सा० १-१-१
४. सा० ४-४२-१ ५. सा० १५-३२-१ ६. सा० २९-१९-२
७. १६५-१० ८. ९४-५ ९. सा० २४-१५-१
१०. सा० १५-८६-२ ११. १८८-३ १२. सा० १३-२-२
१३. सा० १५-४५-१ १४. सा० १५-२०-२ १५. १६१-७
१६. १५८-५ १७. सा० २५-५-१ १८. १३६-२

कर—जिस कर गांउं न ठांउं ।[1]
केर—भरम करम दुहुं केर बिनासा ।[2]
केरा—धूवां केरा धौलहर ।[3]
केरी—अंम्रित केरी पूरिया ।[4]
केरे—सांई केरे बहुत गुन ।[5]
केरै—इंद्री केरै स्वादि ।[6]

'केर', 'केरा' आदि अवधी के रूप अधिक हैं; 'क' रूप अपवाद है ।

२.४.६ अधिकरण कारक

मंझा—पंच चोर गढ़ मंझा ।[7]
मंझारी—कहै कबीर अब जांनियां संतन ह्रिदै मंझारि ।[8]
मंझि—अरधैं उरधैं मंझि बसेरा ।[9]
मंझै—सोरह मंझै पवन झकोरै ।[10]
मझारं—पैसीले गगन मझारं ।[11]
मझार—आतम ब्रह्म जो खेलन लागे काया नग्र मझार ।[12]
मझारी—जोगिया फिरि गयौ गगन मझारी ।[13]
मांझ—बुड़भुज रूप फिरै कलि मांझ ।[14]
मद्धे—अंबर मद्धे दीसै तारा ।[15]
महं—मोर तोर महं जर जग सारा ।[16]
महिं—कलि महिं फिरौं अकेली ।[17]
महियां—सोइ जरिजोधन कहं गए मिलि माटी महियां रे ।[18]
मांहि—तब पाया घट मांहि ।[19]
मांहीं—जा घर मांहीं भूला डोलै ।[20]
मांहैं—हंम तुम मांहैं एकै लोहू ।[21]

---

१. र० ४-६ २. र० १८-४ ३. सा० १५-४०-२
४. सा० १२-१०-१ ५. सा० २-४४-१ ६. सा० ३०-१४-१
७. ७२-३ ८. ८२-८ ९. चौ० र० २४-१
१०. ११२-६ ११. ११५-५ १२. १४४-४
१३. १५१-१ १४. ६४-४ १५. १२५-३
१६. र० १७-८ १७. १६०-६ १८. ६६-८
१९. सा० ७-१२-२ २०. ८९-२ २१. र० १-२

माहिं—लिखे जु हिरदै माहिं।[1]
में—पांनीं में की माछरी ।[2]
मैं—नां इस तन मैं ढंग ।[3]
पर—म्रिगछाला पर बैठे कबीर ।[4]
परि—किसके मुख परि नूर ।[5]
पहिं—उन हरि पहिं क्या लीनां ।[6]
पैं—पंडित पैं चले निरासा ।[7]
पै—कबीर तौ हरि पै चला ।[8]

इनमें 'मैं' और 'पर' रूपों का अधिक प्रयोग मिलता है। 'मंहि' तथा 'मंझि' के रूपों में वैविध्य अवश्य है किन्तु अधिकांश रूपों के केवल एक-एक उदाहरण ही प्राप्त होते हैं।

२.४.७ सम्बोधनकारक

री—कागद केरी नाव री ।[9]
रे—नाचु रे मन मेरो नट होइ ।[10]
हे—हौं तोहिं पूछौं हे सखी ।[11]
हो—मांस बिहूंनां घरि मति आवै हो कंता ।[12]

इनमें सबसे अधिक 'रे' रूप प्रयुक्त हुआ है। 'री' का केवल एक यही उदाहरण प्राप्त होता है।

२.४.८ कबीर-काव्य में दो परसर्गों का एक साथ प्रयोग भी हुआ है :—

के मांहीं—सो संतन के मांहीं ।[13]
महुं कै—घट घट महुं कै मधुप ज्यौं ।[14]
मांहि के—जंगल मांहि के जंगम मारे ।[15]
में की—पांनीं में की माछरी ।[16]

सम्बन्धकारक तथा अधिकरणकारक के परसर्गों का ही एक साथ प्रयोग मिलता है।

---

१. सा० २-४४-१ २. सा० १६-३८-१ ३. सा० ६-६-१
४. २४-६ ५. सा० १४-१४-२ ६. ८६-८
७. ८६-४ ८. सा० १७-६-१ ९. सा० २९-१८-१
१०. १४-१ ११. सा० १४-३७-१ १२. १२४-२
१३. ३३-६ १४. सा० २७-२-२ १५. १६१-४
१६. सा० १६-३८-१

२·५ विशेषण

२. ५. ० विशेषण के ४ भेद किए गए हैं—गुणवाचक, परिमाणवाचक, संख्यावाचक और सार्वनामिक। कबीर ने इन चारों का प्रयोग किया है। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से गुण-वाचक और परिमाणवाचक विशेषणों का विशेष महत्व नहीं है। अतः उनके प्रयोग के कुछ उदाहरण देकर प्रवृत्ति-निर्देश कर दिया गया है। शेष दो-संख्यावाचक और सार्वनामिक विशेषणों पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

२.५.१ गुणवाचक

कठोर,[१] काली,[२] घींन,[३] झूठा,[४] पाका,[५] भारी,[६] सांचै,[७] सूखे,[८] हरुवा,[९] आदि।

२.५.२ परिमाणवाचक

सेर—जीव सेर भरि लीन्ह।[१०]

सेर अढ़ाई—गजैं न मिनिऐ तोलि न तुलिऐ पहजन सैर अढ़ाई।[११]

नौ मन—नौ मन सूत अरुझि नहिं सुरझै।[१२]

मन दस—मन दस नाज।[१३]

गजनव,
गज दस,
गज उनइस—गज नव गज दस गज उनइस की।[१४]

पाव कोस—पाव कोस पर गांउं।[१५]

---

१. ८४-७ | २. सा० २६-१-२ | ३. १९६-५
४. र० १७-८ | ५. सा० १५-५-२ | ६. ८५-७
७. १६-५ | ८. ८३-५ | ९. सा० ७-९-१
१०. सा० १४-१६-१ | ११. १११-५ | १२. ८९-७
१३. ७३-२ | १४. १११-३ | १५. सा० १०-६-२

+तिर—,[१] तीन[२]~तीनि,[३] +त्रि,—[४] +त्री—[५]

+चउ—,[६] +चतुर—,[७] चार[८]~चारि[९]~चारी[१०]

पंच[११], पांच[१२]

खट[१३]~खट्ु[१४]~खड,[१५] छ[१६]~छह[१७]~छौ[१८]

सात[१९]

अठ,[२०] अष्ट,[२१] आठ[२२]

नउ[२३]~नऊं[२४]~नव[२५]~नौ[२६]

दस,[२७] दह[२८]

ग्यारह[२९]

द्वादस,[३०] बारह[३१]

चतुरदस,[३२] चौदह[३३]

सोरह[३४]

अठारह[३५]

उनइस[३६]

बीस[३७]

पचीस[३८]

तीस[३९]

+ इनका प्रयोग केवल समस्त पदों में होता है।

१. १५२-८ २. सा० ५-११-१ ३. र० ११-२
४. ५३-७ ५. १३०-७ ६. १५५-७
७. ७७-१ ८. र० १४-५ ९. ७३-४
१०. र० ११-२ ११. ३६-४ १२. सा० १६-१४-१
१३. सा०२०-५-२ १४. १३४-३ १५. ३४-११
१६. र० १४-५ १७. ६६-४ १८. १३६-४
१९. १११-४ २०. ३१-२ २१. १०८-४
२२. २-४०-२ २३. ३१-२ २४. ६९-२
२५. १११-३ २६. ६-५ २७. ६०-४
२८. सा० २४-३-१ २९. १७७-८ ३०. १३०-१०
३१. ८३-३ ३२. ५१-५ ३३. १०५-६
३४. ११२-६ ३५. १५५-८ ३६. १११-३
३७. ८३-३ ३८. १२६-३ ३९. ८३-४

चौंतिस[१]
पचास[२]
बाबन[३]~बावन[४]
चौंसठि[५]
अठसठ[६]~अठसठि[७]
सत्तरि[८]
बहत्तरि[९]
चौरासी[१०]
छ्यांनवै[११]
सौ[१२]
हजार[१३]
सहस,[१४] सोरह सहस,[१५] सत्तरि सहस,[१६] सहस अठासी,[१७] लाख,[१८] इकलख,[१९] दुहलख,[२०] चौरासी लख[२१]~लख चौरासी,[२२] तेतीस करोड़ी[२३]~तैंतीस कोटि,[२४] बावन कोटि,[२५] छप्पनकोटि,[२६] कोटिअठासी[२७]।

(ख) अपूर्णांकवाचक

पाव[२८]
अरध,[२९] आध[३०]~आधा[३१]~आधी[३२]
तिहाई[३३]
सवाई[३४]

---

१. चौ० र० ४१-१ २. सा० २१-१७-१ ३. चौ० र० १-१
४. चौ० र० ४१-१ ५. सा० १-३-१ ६. ३५-८
७. १७१-४ ८. १८४-६ ९. १२६-४
१०. सा० २०-५-२ ११. ६६-४ १२. ७३-३
१३. सा० १५-२७-१ १४. १०४-५ १५. १५८-८
१६. ४२-३ १७. १०५-७ १८. सा० १६-३-२
१९. ९९-३ २०. ७३-३ २१. ४२-५
२२. सा० २१-२१-२ २३. ४२-५ २४. १०५-८
२५. १५५-११ २६. ४२-४ २७. ४२-४
२८. सा० १५-२-१ २९. ३५-७ ३०. सा० २४-४-१
३१. ६१-६ ३२. सा० २४-४-१ ३३. १११-७
३४. र० ८-१

अढ़ाई[1]
साढ़े तीनि[2]
पौनैं चारि[3]
सवा लख[4]~सवा लाख[5]

(२) **क्रमवाचक**

पहिला[6]~पहिले[7]~पहिलै[8]
दुतिग्र,[9] दूसर[10]~दो सर,[11] दूजा[12]~दूजी[13]~दूजै[14]
चउथै[15]~चौथे[16]~चौथैं[17]
पचे[18]
छठा[19]
नवैं[20]
दसएं[21]~दसवां[22]~दसवै[23]

(३) **आवृत्तिवाचक**

दूनां[24]~दूनीं,[25] दोवर[26]
तेवर[27]

(४) **समुदायवाचक**

इस प्रकार के विशेषण रूपों का निर्माण पूर्णांक बोधक में विभिन्न प्रत्यय संयुक्त करके हुआ है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें चार वर्गों में रखा जा सकता है—(१) उं~उ~ऊ~यूं संयुक्त रूप, (२) इ~ई संयुक्त रूप, (३) औं~औ संयुक्त रूप, (४) हुं~हु~हूं~हूधां संयुक्त रूप। संख्या-क्रम के आधार पर इन के उदाहरण आगे दिए जा रहे हैं—

---

१. १११-६ २. सा० १६-१२-२ ३. सा० १६-१२-२
४. ६६-३ ५. ४२-३ ६. सा० २२-६-२
७. र० २-१ ८. ११६-३ ९. ६७-८
१०. र० १६-४ ११. चौ० र० ८-१ १२. ७७-३
१३. सा० ११-१-१ १४. ६८-६ १५. ३२-६
१६. २३-१० १७. सा० ५-११-१ १८. सा० १५-६७-१
१९. सा० ३-१५-१ २०. ८०-८ २१. सा० २९-१-१
२२. सा २६-११-२ २३. १२३-५ २४. ९०-५
२५. सा० १८-८-२ २६. २५-२ २७. २५-२

(१) उ~उ~ऊ~यूं संयुक्त रूप—दोउ,[1] दोऊ,[2] दोनउं,[3] दोनिउं,[4] दोन्यूं,[5] तीनिउं,[6] तीन्यूं,[7] चारिउ[8], पांचउ,[9] तैंतीसउ,[10]

(२) इ~ई संयुक्त रूप—दोइ,[11] दोई,[12]

(३) औं~औ संयुक्त रूप—दोनौं,[13] तीनौं,[14] पांचौं,[15] पांचौ,[16] आठौं,[17] दसौं,[18] चौबीसौं,[19] पचीसौं,[20] तैंतीसौं,[21] छतीसौं,[22] सहसौं,[23] लाखौं,[24]

(४) हुं~हु~हूं~हूवां संयुक्त रूप—दहूं,[25] दुहुं,[26] दुहु,[27] दुहूं,[28] दुहूवां,[29] तिहुं,[30] चहुं,[31] दसहुं,[32] दसहूं[33]।

(५) **प्रत्येक बोधक**

एक एक करि लेखै।[34] **सब कोइ** कहै तुम्हारी नारी।[35]
बंदे खोजु दिल **हर रोज**।[36]

२.५.३.२ अनिश्चित

अनंत~अनंता
तरवर एक अनंत डार।[37]
अलपै सुख दुख आहि अनंता।[38]

अनिक~अनेक
अनिक जतन करि राखिऔ।[39]

---

१. ३२-३ | २. ७८-२ | ३. सा० २०-३-२
४. १०-१२ | ५. सा० १-६-२ | ६. ११६-७
७. १०७-६ | ८. र० ६-२ | ९. सा० ५-१-२
१०. १५५-५ | ११. सा० ३०-१०-१ | १२. र० १०-५
१३. १६३-३ | १४. सा० २-३०-२ | १५. २-४
१६. ५६-६ | १७. सा० २४-१०-२ | १८. १२६-२
१९. १७७-७ | २०. २-४ | २१. ५-७
२२. १४४-७ | २३. १५८-३ | २४. सा० ८-१२-२
२५. चौ० र० ७-१ | २६. सा० २०-६-२ | २७. १७७-१०
२८. सा० ६-२०-१ | २९. १०२-२ | ३०. सा० ३-१३-१
३१. १४६-४ | ३२. १५२-१० | ३३. सा० ३-२२-२
३४. १८३-६ | ३५. १३-३ | ३६. ८७-१
३७. ११२-३ | ३८. र० १५-१ | ३९. ३६-६

तैं अनेक पुहुप का लियौ है भोग ।[1]

अपार—हीरा अनंत अपार ।[2]

और—तातैं बिसरि गए रस और ।[3]

कछु—कछु गुन बरनि न जाइ ।[4]

करोरि—जोरै लाख करोरि ।[5]

केतिक—केतिक टारै मालि ।[6]

केते—पढत पढ़त केते दिन बीते ।[7]

कोटि~कोटिक

करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे ।[8]

कोटिक लखमीं करैं सिंगार ।[9]

घन~घनां~घनीं~घनेरी

आसिपासि घन तुरसी का बिरवा ।[10]

निपजी मैं साखी घनां ।[11]

घनीं सहैगा सासनां ।[12]

सहै घनेरी लात ।[13]

थोड़ा~थोरा

कबीर थोड़ा जीवनां ।[14]

रांमहिं थोरा जांनि करि ।[15]

नांनां—माटी एक भेख धरि नांनां ।[16]

बहु~बहुत~बहुतक~बहुतेरा~बहुतैं~बहुतै

संगि सखा बहु लिएं बाल ।[17]

बहुत दिनन मैं प्रीतम आए ।[18]

बहुतक लोग चढ़े अनभेदू ।[19]

धंध बंध कीन्हें बहुतेरा ।[20]

बहुतैं रूप भेख बहु कीन्हां ।[21]

---

१. ७५-४ २. सा० १५-७४-२ ३. ५५-२
४. सा० १३-२-२ ५. सा० १५-८-२ ६. सा० १६-३-२
७. १७८-२ ८. १०-३ ९. १५५-९
१०. १३१-११ ११. सा० १-३१-२ १२. सा० २९-१४-२
१३. सा० १५-६-२ १४. सा० १५-४३-१ १५. सा० ३१-२२-१
१६. १८४-९ १७. २६-३ १८. ६-१
१९. १४६-५ २०. र० १४-३ २१. र० १७-४

करहिं जु बहुतै मीत ।[1]

लाख—जोरै लाख करोरि ।[2]

सकल—जहं बांधि सकल हथियारा ।[3]

सगल~सगली~सगले

सगल जनम सिवपुरी गंवाया ।[4]

तौ सगली सैंन तराई ।[5]

सगले जीग्र जंत की नारी ।[6]

सब~सबै

सींचौ पेड़ पिवैं सब डारी ।[7]

कहै कबीर सबै जग बिनसै ।[8]

सभ~सभै

काल ग्रसत सभ लोग सयानैं ।[9]

बेद पुरांन सभै मत सुनि कै ।[10]

सरब—सरब तत्त हरि लीन्हां रे ।[11]

सहस अठासी—मुनिवर सहस अठासी ।[12]

सहसौं—जाकै धरनि गगन है सहसौं ।[13]

सौ—द्यौहाड़ी सौ बार ।[14]

२.५.४ सार्वनामिक विशेषण

२.५.४.१ रीतिवाचक

अस~अैसा~अैसी~अैसें~अैसे~अैसैं~अैसौ

अस मानुस की जाति ।[15]

अैसा तत्त अनूप ।[16]

अैसी नगरिया मैं केहि बिधि रहनां ।[17]

मोहिं अैसें बनिज सौं कवन काजु ।[18]

---

१. सा० ११-२-१ २. सा० १५-८-२ ३. ५९-५
४. ४६-४ ५. ८४-८ ६. १६२-२
७. ३८-५ ८. १०२-८ ९. ८६-४
१०. ८६-३ ११. १०२-२ १२. ५-७
१३. १५८-३ १४. सा० १-१९-१ १५. सा० १६-२१-१
१६. सा० ७-७-२ १७. ९५-१ १८. १२६-१

ऐसे लोगनि सौं का कहिए।[1]
लल्ला ऐसैं लौ मन लावै।[2]
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ।[3]

कस~कैसा~कैसे

वाकी बिधवा कस न भई महतारी।[4]
तब लगि कैसा नेह रे।[5]
कैसे खसम हमारे।[6]

जस~जैसा~जैसी~जैसैं~जैसै

तोरि दियौ जस धागा।[7]
हरि जैसा तैसा रहै।[8]
जो जैसी संगति करै।[9]
जैसैं बहु कंचन के भूखन।[10]
जैसै मैंडुक।[11]

तस~तैसा~तैसी~तैसै~तैसौ

तस साहेब दास।[12]
तिनकौं तैसा लाभ।[13]
जौ तैसी निबहै ओरि।[14]
तैसै ओइ नर।[15]
तैसौ यहु संसार।[16]

ज्यूं—जंबुक केहरि कै ज्यूं संगा।[17]
ज्यौं—ज्यौं धरनीं की खेह।[18]

२.५.४.२ परिमाणवाचक

केतिक—तां पसु केतिक आइ।[19]
किता—बलकल बस्तर किता पहिरबा।[20]
जत—जत जत देखउं बहुरि न पेखउं।[21]

---

१. १६७-१ २. चौ० र० ३४-१ ३. १५४-६
४. ६४-३ ५. १३-४ ६. १८८-८
७. १६-७ ८. सा० ७-१०-२ ९. सा० २४-३-२
१०. ५७-५ ११. ८४-६ १२. ३४-८
१३. सा० ३-१९-१ १४. सा० १५-८-१ १५. ८४-६
१६. ५५-४ १७. र० १९-२ १८. सा० १९-७-२
१९. सा० १५-३९-२ २०. १८६-३ २१. १८६-२

जेता --तिल जेता बिस्तार ।[1]
तेता --तेता साधु न जानि ।[2]

'अस, कस, जस, तस' सार्वनामिक विशेषणों का क्रिया-विशेषण के समान भी प्रयोग हुआ है ।[3]

२. ५. ५ कबीर-काव्य में उत्तम तथा मध्यम पुरुषवाचक, निजवाचक और आदरवाचक सर्वनामों को छोड़कर शेष सर्वनामों का प्रयोग विशेषण के समान भी हुआ है । इनमें साधारण और बलात्मक दोनों प्रकार के रूप विद्यमान हैं :—

इस~इसु
इस तन का दीवा करौं ।[4]
इसु तन मन मद्धे मदन चोर ।[5]

इह~इहिं~इहि~इहीं~इहु~इहै~ई
इह जिउ रांम नांम लिव लागै ।[6]
इहिं पद्र नरहरि भेंटिए ।[7]
जो इहि पदहिं बिचारै ।[8]
इहीं उदर कै कारनैं ।[9]
इहु जगु सगलो धंधा ।[10]
या तन की इहै बड़ाई ।[11]
भरम का बांधा ई जग ।[12]

उस—क्या जांनौं उस पीव सौं ।[13]

ए~एह~एहि~एही
ए गुण कहां समांहीं ।[14]
किन एह राह चलाई ।[15]
एहि बिधि सेइए स्री नरहरी ।[16]
मनिखा जनम कौ एही लाहु ।[17]

ओइ—जैसै मेंडुक तैसै ओइ नर ।[18]

ओहु—ओहु मारग पावै नहीं ।[19]

---

१. सा० ६-१४-१
२. सा० ४-२१-१
३. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध—क्रियाविशेषण अंश ।
४. सा० २-२१-१
५. ४३-३
६. १३०-१
७. १०-६
८. १३८-७
९. सा० २१-२४-१
१०. १८६-५
११. ६८-४
१२. र० १५-५
१३. सा० ६-९-२
१४. ११३-४
१५. १७८-७
१६. १२३-१
१७. ६३-२
१८. ८४-६
१९. सा० १०-१३-२

कवन—कवन काज सिरजे जग भीतरि ।[1]
किस—बैठेंगे किस ठौर ।[2]
किहि~केहि
कहु धौं किहि बिधि राखिए ।[3]
ग्रैसी नगरिया मैं केहि बिधि रहनां ।[4]
कौंन~कौंनैं
कौंन जतन करि लीजै ।[5]
सरग नरक कौंनैं गति पाई ।[6]
क्या—क्या मुख लै है जाइगा ।[7]
जा—जा घर मांहीं भूला डोलै ।[8]
जिन~जिनि~जिसु~जिहिं~जिहि
जिन प्रभु जीउ पिंडु था दीया ।[9]
जिनि लोइन मन मोहिया ।[10]
जिसु मूरति कौं पाती तोरै ।[11]
जिहिं घटि रांम रहा भरपूरि ।[12]
जिहि नर रांम भगति नहिं साधी ।[13]
जु—नउ घर देखि जु कांमिनि भूली ।[14]
जे~जेहिं
जे जन रहैं रांम कै सरनैं ।[15]
जेहिं मारग पंडित गए ।[16]
जो—जो जन लेहिं खसम का नांउं ।[17]
ता~तास~तासु~ताही
ता दिन कछु न बसाइगा ।[18]
तास गुरू मैं दास ।[19]
तरवर तासु बिलंबिए ।[20]
ताही तन की हांनि ।[21]

---

१. ४०-३ २. सा० १०-५-२ ३. सा० ३१-२-२
४. ६५-१ ५. १४६-१ ६. १६४-२
७. ७४-४ ८. ८६-२ ६. ४०-२
१०. १७३-८ ११. १८७-४ १२. ३०-४
१३. ६४-१ १४. ८०-७ १५. १६४-८
१६. सा० २०-४-१ १७. ३०-३ १८. ७४-५
१६. सा० १४-५-२ २०. सा० १७-३-१ २१. सा० २७-४-२

तिनि~तिस~तिसु~तिहिं~तिहि

तिनि हरि पूरी करिया ।[१]

जीवत तिस घरि जाइऔ ।[२]

तिसु मुल्ला कौं सदा सलांम ।[३]

तिहिं पूति बाप इक जाया ।[४]

तिहि रावन घर दिया न बाती ।[५]

ते~तेई

ते जन भले ।[६]

कहै कबीर तेई जन सूचे ।[७]

यह~यहि~यहु

अमर जांनि संची यह काया ।[८]

बाबा अब न बसउं यहि गांउं ।[९]

यहु मन सुन्नि न लूटै ।[१०]

या—जो या पद का करै निबेरा ।[११]

वह~वहि ~वहु

जांनैंगी वह आगि ।[१२]

वहि सुत वहि बित वहि पुर पाटन ।[१३]

वहु रस पीएं यहु नहिं भावा ।[१४]

वा~वै

वा मूरति की बलिहारी ।[१५]

मति वै रांम दया करैं ।[१६]

सो~सोई

सो तनु जलै काठ कै संगा ।[१७]

कबीर सोई दिन भला ।[१८]

---

१. ११२-४ २. ११७-८ ३. १२८-४
४. ११८-८ ५. ६६-३ ६. र० १०-१०
७. १६२-८ ८. ४४-३ ९. ४१-१
१०. १३२-५ ११. १०८-२ १२. सा० २-४२-२
१३. १००-५ १४. चौ० र० ३३-२ १५. १०८-८
१६. सा० २-२०-२ १७. ७६-५ १८. सा० ४-२०-१

२६ क्रिया

२.६.१ धातु

२. ६. १. ० धातुओं के दो भाग हैं :—(१) सिद्ध धातुएं (Primary Roots) (२) साधित धातुएं (Secondary Roots) ।[1] इन दोनों भागों को भी निम्नलिखित भेदों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सिद्ध धातुएं—
- —(क) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएं (i) साधारण धातुएं (ii) उपसर्गयुक्त धातुएं
- —(ख) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएं
- —(ग) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम एवं तद्भव (अर्ध तत्सम) सिद्ध धातुएं
- —(घ) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुएं

(२) साधित धातुएं—
- —(क) आकारान्त णिजन्त (प्रेरणार्थक)
- —(ख) नाम धातु
- —(ग) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यय युक्त (तद्भव)
- —(घ) अनुकरणात्मक
- —(च) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं

२. ६. १. १ कबीर के काव्य में लगभग ६०० से कुछ कम धातुएं प्रयुक्त हुई हैं। इन धातुओं को इसी आधार पर विभक्त करके आगे प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) सिद्ध धातुएं

(क) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएं

(i) साधारण धातुएं

√अछ् (इत),[2] √कंप् (ऐ),[3] √कद् (ऐ),[4] √कर् (ऐ),[5]

---

१. डॉ० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण का अनुसरण करते हुए डॉ० उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी धातुओं को इन्हीं दो भागों में विभक्त किया है। 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', पृ० ४६६.

२. ३९-७ ३. ७०-३ ४. र० १-७ ५. ९-४

√कह् (आवै),[१] √काट् (इ),[२] √कूट् (इ),[३] √कूद् (इ),[४] √खा (इ),[५] √गन् (ऐ),[६] √घट् (ऐ),[७] √चढ् (अहि),[८] √चर् (अंते),[९] √चाख् (इया),[१०] √चु (अै),[११] √चूक् (इ),[१२] √छु (एं),[१३] √जप् (अहु),[१४] √जांन् (अई),[१५] √जाग् (अता),[१६] √जीत् (इअै),[१७] √जी (ऊं),[१८] √टार् (यौ),[१९] √टूट् (ऐ),[२०] √ठग् (अत),[२१] √डर् (अउं),[२२] √डूब् (ऐ),[२३] √ढूंढ् (अत),[२४] √थाक् (ई),[२५] √दइ (हौ),[२६] √दरस् (ऐ),[२७] √नाच् (इबौ),[२८] √पढ् (अउं),[२९] √पी (एं),[३०] √पूछ् (ऐं),[३१] √फूल् (यौ),[३२] √बढ् (अंतो),[३३] √बांट् (इ),[३४] √बांध् (अउं),[३५] √बोल् (इए),[३६] √भर् (या),[३७] √भूल् (औ),[३८] √मल् (इ),[३९] √मिल (हुगे),[४०] √रख (वारे),[४१] √रच् (इ),[४२] √लूट् (इ),[४३] √ले (इ),[४४] √सह (नां),[४५] √सुन् (अंते),[४६] √हार (हिं)[४७] आदि।

(ii) उपसर्ग संयुक्त धातुएं—

√उतर् (इ),[४८] √उपज् (इ),[४९] √ऊग् (ऐ),[५०] √निबह् (ऐ),[५१]

---

१. १७७-४   २. ५१-४   ३. ७५-८
४. १४-६   ५. ७१-६   ६. सा० ४-७-२
७. ६८-५   ८. सा० २६-३-१   ९. सा० १५-६७-२
१०. सा० २-४६-१   ११. १३३-६   १२. सा० १५-७२-२
१३. र० ७-४   १४. ६९-७   १५. सा० २-४२-२
१६. १८७-२   १७. १७३-६   १८. १६०-८
१९. १३०-१६   २०. ११३-७   २१. १३९-१
२२. १३५-३   २३. १२२-७   २४. ३-७
२५. सा० १०-९-१   २६. ५४-२   २७. १४५-४
२८. ५०-१   २९. १९०-३   ३०. चौ० र० ३३-२
३१. सा० ८-१४-१   ३२. सा० २७-५-१   ३३. सा० १६-१२-१
३४. र० १४-४   ३५. २२-२   ३६. सा० १५-७५-१
३७. सा० ३३-७-२   ३८. ३-७   ३९. १०४-३
४०. सा० २-४८-२   ४१. ९१-५   ४२. ६२-४
४३. ७२-४   ४४. ५५-३   ४५. ९५-२
४६. सा० ३-१८-२   ४७. ८८-८   ४८. २०-६
४९. र० १७-५   ५०. सा० १६-१९-२   ५१. सा० १५-८-१

√निहार् (इ),[1] √पकड़् (आ),[2] √पतिअइ (ऐ),[3] √परख् (इ),[4] √परिहर् (ऐ),[5] √पसर् (यौ),[6] √पहर् (चौ),[7] √पा (इए),[8] √बिआप् (ऐ),[9] √बिगर् (यौ),[10] √बिचार् (इ),[11] √बिछा (इ),[12] √बिछुड़् (ए),[13] √बिदार् (इ),[14] √बिनस् (इहै)[15] √बिबरज् (इत),[16] √बिराज् (इत),[17] √बिलम्ब् (इए),[18] √बिलग् (आई),[19] √बिसर् (ऐ),[20] √बेंच् (ई),[21] √भींग् (ई),[22] √संघार् (ऐं),[23] √संच् (अंते),[24] √संचर् (ऐ),[25] √संजो (इ),[26] √संतोख् (इए),[27] √संभार् (ए),[28] √सताव् (अहु),[29] आदि।

(ख) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएं—

√उजाड् (इ),[30] √छा (इ),[31] √जल् (आ),[32] √तप (सी),[33] √तार (उ),[34] √न्ह (वाएं),[35] √पसर् (यौ),[36] √मार (उं),[37] √हार (हिं)[38] आदि।

(ग) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम तथा तद्भव (अर्ध तत्सम) धातुएं—

√गरज् (इ),[39] √तज (हिं),[40] √बरज् (एउं)[41] आदि।

(घ) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं—

√ठेल् (इया),[42] √ठोंक् (इ),[43] √पटक् (ऐ),[44] √फरंक् (इ),[45]

---

१. सा० २-३६-१ २. सा० १-३३-२ ३. २९-५
४. सा० ६-४१-२ ५. सा० ११-१४-२ ६. ३६-६
७. ८३-९ ८. ३-८ ९. ३६-२
१०. १६६-१ ११. ६३-११ १२. सा० ४-३४-२
१३. सा० २-१५-२ १४. २६-१० १५. ५५-६
१६. ३२-२ १७. १०१-६ १८. सा० १७-३-१
१९. ५३-१ २०. १२-४ २१. २२-२
२२. १११-८ २३. र० ९-५ २४. ८५-७
२५. सा० २-१६-२ २६. १२७-३ २७. सा० १-१-२
२८. ९१-६ २९. २६-७ ३०. सा० ४-३३-१
३१. सा० २-३३-१ ३२. सा० २-४२-१ ३३. ९०-५
३४. ८१-४ ३५. १७७-३ ३६. ३६-६
३७. ८१-४ ३८. ८८-८ ३९. सा० २-३-१
४०. ३२-३ ४१. ७५-३ ४२. सा० १-६-२
४३. सा० १५-३०-२ ४४. ७४-५ ४५. सा० १-१०-२

√भेंट् (इए),[१] √लर् (ऐ)[२], √लोट (नां),[३] आदि ।

(२) साधित धातुएं—

(क) णिजन्त (प्रेरणार्थक)—

√उघार् (इया),[४] √उजाड़् (इ),[५] √उड़ा (वत),[६] √उतार् (इया),[७] √कट् (आवै),[८] √करा (या),[९] √कहा (वै),[१०] √गरबां(नां),[११] √गिरा (वहिं),[१२] √गुदरा (वै),[१३] √चढ़ा (ऊं),[१४] √चरा (एं),[१५] √चला (या),[१६] √चुना (वै),[१७] छुवा (ऊं),[१८] √जगा (इ),[१९] √जमा (यौ),[२०] √जिमां (ऊं),[२१] √झुला (इ),[२२] √डरां (नां),[२३] √ढहा (ऊं),[२४] √तना (यौ),[२५] √तवा (वहिंगे),[२६] √तार (उं),[२७] √तिरा (इ),[२८] √दिखला (इए),[२९] √दिखा (इ),[३०] √दौरा (वउं),[३१] √धुंधुवा (इ),[३२] √नसा (वै),[३३] √निरदा (वै),[३४] निरबाह् (ऐ),[३५] √न्हवा (एं),[३६] √पकड़ा (वौ),[३७] √पका (या),[३८] √पहिरा (वउं),[३९] √पिया (इए).[४०] √फिरा (ए),[४१] √फुरमा (या),[४२] √बंधा (वै),[४३] √बजा (इए),[४४] √बिगरां (नां),[४५] √बिलगा (ई),[४६] √बिलमा (वै),[४७] √बुझा (इ),[४८] √भरमा (वहु),[४९] √मंगा (ऊं),[५०] √मटका (वै),[५१]

---

१. १०-६ २. १२८-३ ३. सा० १५-२३-२
४. सा० १-१३-२ ५. सा० ४-३३-१ ६. ७०-५
७. सा० १४-१७-१ ८. सा० २१-३-२ ९. १८२-४
१०. १७७-४ ११. ७६-५ १२. १६७-३
१३. ४२-१ १४. ४-४ १५. १६८-४
१६. २५-७ १७. सा० १५-८४-१ १८. १६०-८
१९. सा० २-४३-१ २०. १३१-७ २१. १३१-८
२२. सा० २५-२१-१ २३. १५९-४ २४. ४-५
२५. १५०-२ २६. ५७-५ २७. ८१-४
२८. सा० २४-११-१ २९. सा० २५-२३-१ ३०. सा० ४-२१-२
३१. ८१-३ ३२. सा० २-८-१ ३३. सा० ३०-७-१
३४. सा० ४-७-२ ३५. सा० २४-१४-१ ३६. १७७-३
३७. सा० १५-८९-१ ३८. १९२-५ ३९. ८१-३
४०. सा० ५-१२-१ ४१. सा० २५-७-२ ४२. १८४-३
४३. ८३-५ ४४. सा० १-५-२ ४५. १३२-९
४६. ५३-१ ४७. चौ० र० ३१-२ ४८. सा० २-३७-१
४९. ५४-४ ५०. ४-६ ५१. १६५-३

√मना (वउं),[१] √मिला (ए),[२] √मुड़ा (एं),[३] √रंगा (ऊं),[४] √लखरा (उं),[५] √लपटा (इ),[६] √ला (इए),[७] √सता (वहु),[८] √समझा (यौ),[९] √सिखल (वते),[१०] √सुना (एं),[११] √से (इए),[१२] √सोख् (ऐ),[१३] आदि।

(ख) नामधातु—

√अवतर् (इया),[१४] √उतपन् (आं),[१५] √उद् (ऐ),[१६] कोप् (यौ)[१७] √चांद् (इनौ),[१८] √चोर् (इया),[१९] √छल् (इ),[२०] √जनम् (ऐ),[२१] √डर (उं),[२२] √दुख् (आवै),[२३] √पैठ् (इ),[२४] √बखांन् (ऐं),[२५] √बिचार् (इए),[२६] √बौरां (नां),[२७] √भरम् (आवहु),[२८] भ्रम् (ए),[२९] √मांग् (इ),[३०] √लाज (सी),[३१] √लुभां (नां),[३२] √सीख् (आ),[३३] √हठ् (इ),[३४] आदि।

(ग) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त—

'क्' प्रत्यय युक्त—√अटक् (आ),[३५] √चूक् (इ),[३६] √छिटक् (आई)[३७] √बहक् (इ),[३८] भटक् (इ),[३९] √रोक् (इ)[४०] आदि।

'र्' प्रत्यय युक्त—√ठहर् (आइ),[४१] √पुकार् (इया)[४२] आदि।

---

१. १८९-५ २. १५०-५ ३. १७४-४
४. सा० ११-७-२ ५. सा० ४-३७-१ ६. सा० १६-४-१
७. १०-१५ ८. २६-७ ९. सा० २१-२८-१
१०. सा० २२-३-१ ११. १६८-३ १२. १०१-१
१३. १२२-३ १४. र० ६-३ १५. १८१-५
१६. ५२-६ १७. २६-९ १८. सा० १-३-२
१९. सा० २१-१५-१ २०. १६४-३ २१. १५८-२
२२. १०७-८ २३. ३५-४ २४. सा० २-२-१
२५. २९-३ २६. १०-८ २७. ६६-५
२८. ५४-४ २९. २०-७ ३०. सा० २१-२१-२
३१. सा० १५-२८-२ ३२. ७६-५ ३३. १४३-४
३४. ८३-५ ३५. सा० २१-९-२ ३६. सा० १५-७२-२
३७. १८३-१० ३८. सा० १४-१४-१ ३९. १०५-१०
४०. १२१-७ ४१. सा० १०-८-१ ४२. सा० १४-४-१

(घ) अनुकरणात्मक—

√कूछ् (इ),[१] √खड़क् (ई),[२] √घुर् (आऊं),[३] √ चमक् (आएं),[४] √चिलक् (आई),[५] √चिहुट् (इया),[६] √जगमग् (ऐ),[७] √झकोर् (ऐ),[८] √झझक् (इ),[९] √झलक् (ऐ),[१०] √टिपक् (ए),[११] √टूल् (ऐ),[१२] √ठिठक् (ई),[१३] √ठोंक् (ई),[१४] √डगमग[१५] √डहडह् (ई)[१६] √तलफ (त),[१७] √पटक् (ऐ),[१८] √पुरझ् (इ),[१९] √फटक् (इ),[२०] √पहर् (आइ),[२१] √बररा (इ),[२२] √बिलला (इ),[२३] √मचा (ई),[२४] √रट् (अत),[२५] √सांट् (इ),[२६] √हांक् (इ),[२७] आदि।

(च) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं—

√उदक् (इ),[२८] √घुरङ् (इ),[२९] √झटक् (आ),[३०] √झाल् (इ)[३१] √झोंक् (इया),[३२] √ढुर् (इ),[३३] √निहोर् (आ),[३४] √बेह् (ई),[३५] आदि।

२. ६. १. २ कबीर के काव्य में एकाक्षर और द्वयाक्षर दोनों प्रकार की धातुओं का प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण निम्न हैं—

एकाक्षर—√आ, √उढ्, √उड़्, √कंप्, √कर् √कह्, √कूट्, √कूद्, √रह्, √सह् आदि।

द्वयाक्षर—√अटक्, √उघार्, √उजाड़्, √उरझर्, √कलप्, √बखान्, √बिदार्, √संघार्, √सराह् आदि।

२. ६. १. ३ कबीर के काव्य में प्रयुक्त धातुओं को—स्वरान्त और व्यंजनान्त—इन दो वर्गों में भी विभक्त किया जा सकता है।

---

१. ८६-७ २. सा० १६-३८-२ ३. ४-७
४. १७२-३ ५. ५३-३ ६. सा० १७-८-२
७. सा० ९-५-१ ८. १२२-६ ९. चौ० र० १४-१
१०. सा० २९-१७-२ ११. सा० २२-५-१ १२. सा० १६-१५-१
१३. १६२-६ १४. सा० १५-३०-२ १५. ५८-१
१६. सा० १३-२-१ १७. सा० २-३९-२ १८. ७४-५
१९. सा० २१-४-२ २०. सा० १७-७-१ २१. सा० ४-३-१
२२. सा० ४-१३-१ २३. सा० ८-१३-१ २४. सा० १४-३५-२
२५. १५-२ २६. २३-५ २७. १२१-६
२८. १३२-९ २९. सा० २५-१-१ ३०. सा० २८-५-२
३१. सा० १५-७८-१ ३२. सा० १८-८-२ ३३. १३१-२
३४. ३८-२ ३५. १२-४

स्वरान्त धातुएं—

आ—√खा-[१], √पा-[२]
ई—√जी-[३], √पी-[४]
ऊ—√छू-[५]
ए—√ले-[६]; √से-[७]
ओ—√बो-,[८] √हो-[९]

व्यंजनान्त धातुएं—

क्—√चूक्-,[१०] √टिक्-[११] √थाक्-[१२]
ख्—√चाख्-[१३]
ग्—√जाग्-,[१४] √ठग्-[१५]
घ्—√सूंघ्-[१६]
च्—√नाच्-[१७]
छ्—√अछ्-[१८]
ज्—√उपज्-[१९]
झ्—√बूझ्-,[२०] √समझ्-[२१]
ट्—√कट्-[२२], √कूट्-[२३], √घट्-[२४]
ठ्—√हठ्-[२५]
ड़्—√ऊड़्-[२६], √पकड़्-[२७]
ढ़्—√ढूंढ़्-[२८], √पढ़्-[२९]
त्—√जीत्-[३०]
थ्—√कथ्-[३१]

---

१. ७१-६ २. ८२-१ ३. सा० १४-२९-२
४. चौ० र० ३३-२ ५. सा० ४-१६-२ ६. ५५-३
७. १०१-१ ८. सा० २९-११-२ ९. सा० ४-१९-२
१०. सा० १५-६-१ ११. सा० १०-२-२ १२. ५०-६
१३. १२२-१४ १४. १५-७ १५. १३९-१
१६. २-४ १७. १४-३ १८. सा० १०-११-२
१९. ७८-१ २०. सा० १०-१५-१ २१. १०-१४
२२. र० १-७ २३. ७५-८ २४. ३०-४
२५. र० ३-५ २६. सा० २३-३-२ २७. ४-६
२८. सा० ७-६-२ २९. ११९-१ ३०. १७३-६
३१. १९४-६

द्— √खँद्-[१]
ध्— √बंध्-,[२] √रूंध्-[३]
न्— √जांन्-[४]
प्— √कंप्-[५], √जप्-[६]
ब्— √डूब्-[७]
म्— √घूम्-[८], √थांम्-[९]
र्— √उतर्-[१०] √पसर्-[११], √बिगर्-[१२]
ल्— √भूल्-[१३]
व्— √सेव्-[१४]
स्— √दरस्-[१५], √बकस्-[१६]
ह्— √निबह्-,[१७] √रह्-[१८], √सह्-[१९]

२.६.२ सहायक-क्रिया

२. ६. २. ० हिन्दी की काल-रचना में कृदन्ती रूपों तथा सहायक-क्रियाओं से विशेष सहायता ली जाती है, इसलिए काल-रचना पर विचार करने के पूर्व इन पर विचार कर लेना अधिक युक्तिसंगत होगा। यहां पहले सहायक-क्रियाओं पर विचार किया जाएगा। हिन्दी की विभिन्न बोलियों के अनेक रूप व उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं जिनका प्रयोग सहायक-क्रिया रूप में न होकर मूल क्रिया रूप में किया जाता है। यहाँ पर उन रूपों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि तब वे रूप सहायक क्रिया के न रहकर मूल क्रिया के ही बन जाते हैं। यहां पर केवल उन्हीं रूपों की चर्चा की जा रही है, जो कृदन्ती रूपों के साथ कबीर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। विभिन्न कालों व पुरुषों में उनके जो रूप मिलते हैं उदाहरण सहित आगे दिए जा रहे हैं—

---

१. सा० २५-१२-१ २. सा० १५-२५-१ ३. सा० ३-२२-२
४. १२५-५ ५. ७०-३ ६. १७२-३
७. १६९-८ ८. सा० १४-२९-१ ९. सा० ३०-१६-१
१०. २०-६ ११. ३६-६ १२. १६६-३
१३. १६८-२ १४. सा० २६-१०-१ १५. १४५-५
१६. ३७-२ १७. सा० १५-८-१ १८. सा० १-४-२
१९. ४३-१

२.६.२.१ वर्तमान निश्चयार्थ—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	हूं, हैं, हौं	हैं
मध्यम पु०	हो, हौ	हौ
अन्य पु०	हैं है	हैं

(क) कबीर-काव्य में उत्तम पुरुष एकवचन में प्रयुक्त रूपों के उदाहरण निम्नलिखित हैं। इनमें 'हूं' का प्रयोग अधिक है। ब्रजके एक रूप 'हौं' का भी प्रयोग है।

हूं—करता हूं ज धरंम।[1]

—सुमिरत हूं अपनैं उनमांनां।[2]

हैं—हंम ब्याहि चले हैं।[3]

हौं —हौं चितवत हौं तोहि कौं।[4]

कबीर-काव्य में 'हौं' रूप का यही एक उदाहरण प्राप्त है। इसे अपवाद कहा जा सकता है।

'हूं' और 'हो' रूप कृदन्त रहित भी हैं, निम्न उदाहरणों में ये सहायक क्रिया के समान प्रयुक्त हुए हैं—

हूं—उस संम्रथ का दास हूं।[5]

हो—मैं तो तुम्हारी दासी हो सजनां।[6]

(ख) उत्तम पुरुष बहुवचन—

हैं—कै हंम प्रांन तजत हैं प्यारे।[7]

'हैं' रूप बहुवचन का है किन्तु यहां एकवचन के लिए है। यह उसी प्रकार बहुवचन रूप हैं जैसे 'हंम' बहुवचन का है। कबीर ने अपने लिए 'हंम' का प्रयोग किया है इसी कारण यह बहुवचन रूप एकवचन के लिए आया है। मूलत: बहु-वचन का है।

(ग) मध्यम पुरुष एकवचन में प्रयुक्त रूप निम्न हैं—

हो—हमहिं छांड़ि कत चले हो निनारै।[8]

यद्यपि इस रूप का कर्त्ता लुप्त है फिर भी स्पष्ट है। यह बात परमात्मा को सम्बोधित करके कही गई है इसमें 'तुम' का भाव समाहित है।

---

१. सा० २१-२६-१ २. र० १६-५ ३. ५-८
४. सा० ११-६-१ ५. सा० ११-८-१ ६. १५-८
७. १५-१० ८. १३६-३

हौ—जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ ।[१]

करम बद्ध तुम जीउ कहत हौ ।[२]

कबीर-काव्य में मध्यम पुरुष एकवचन 'हौ' रूप के केवल यही दो उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

(घ) मध्यम पुरुष बहुवचन का रूप—

हौ—लोका तुम ज कहत हौ ।[३]

इस रूप का केवल यही उदाहरण कबीर-काव्य में है ।

(च) अन्य पुरुष एकवचन के रूप इस प्रकार हैं—

हैं—अब तौ बेहाल कबीर भए हैं ।[४]

यह रूप बहुवचन का है किन्तु कबीर 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग प्रायः करते हैं, अतः ऐसी स्थिति में बहुवचन का एकवचन के लिए प्रयोग मिलता है । इसका एकवचन में भी कबीर-काव्य में प्रयोग हुआ है ।

है—क्या अपराध संत है कीन्हां ।[५]

इस रूप का प्रयोग 'हैं' से अधिक किया गया है ।

(छ) अन्य पुरुष बहुवचन—

हैं—बैरी उलटि भए हैं मीता ।[६]

एक वाक्य में कर्म के आधार पर क्रिया प्रयुक्त हुई है । वहाँ पर कर्त्ता एक वचन में होने पर भी कर्म क्योंकि बहुवचन में है इस कारण सहायक क्रिया भी बहुवचन में प्रयुक्त हुई है । यथा—

पंच चोर संगि लाइ दिए हैं ।[७]

वैसे तो पुरानी बैसवाड़ी के 'अहै' 'हहि' आदि रूप[८] भी कबीर-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं । उदाहरणार्थ—

अहै—काया कजरी बन अहै ।[९]

हहि—तीनि लोक जाकै हहि भारा ।[१०]

किन्तु इनके साथ कृदन्त रूपों का प्रयोग नहीं है साथ ही इनमें 'होना' मूल क्रिया का भाव विद्यमान है अतः इन्हें सहायक क्रिया की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वास्तव में ये मूल क्रिया ही हैं ।

---

१. ५४-३ २. १५६-६ ३. १५४-१

४. १३-८ ५. २३-७ ६. १०७-५

७. ३६-४

८. G. H L. K. Table XVII; P. 304

९. सा० २९-२-१ १०. ३८-४

२.६.२.२ भूत निश्चयार्थ—

	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उत्तम पु०	था, थे	थी
अन्य पु०	था	

कबीर-काव्य में भूत निश्चयार्थ-कालिक सहायक क्रिया का बहुत ही कम प्रयोग मिलता है। जो रूप हैं भी उनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं। ये सभी एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं—

(क) उत्तम पुरुष पुल्लिग के रूप—

था—पाछैं लागा जाइ था।[१]

कबीर में जहां कहीं भी इस रूप का प्रयोग किया गया है वह बड़ा ही अनिश्चित-सा है क्योंकि सामान्यतः वहां पर कर्त्ता लुप्त रहता है। ऐसी स्थिति में अर्थ-भेद के कारण उसे 'उत्तम' तथा अन्य दोनों पुरुषों में रखा जा सकता है। वैसे कबीर-काव्य में यह रूप स्पष्ट रूप से अन्य पुरुष का ही कहा जाएगा। इस उपरोक्त उदाहरण में यह उत्तम पुरुष का प्रतीत होता है।

थे—चाले थे हरि मिलन कौं।[२]

पूर्व 'था' रूप के समान ही इसकी स्थिति भी है। यहां भी कर्त्ता लुप्त है। साथ ही साधारणतया यह रूप बहुवचन का है। स्थान-स्थान पर कवि ने अपने लिए 'हम' का प्रयोग एक वचन में किया है।[३] उस आधार पर इसे भी एकवचन ही माना जाएगा। वैसे यह उपरोक्त दोनों ही प्रयोग सामान्य न होकर असामान्य ही कहे जाएंगे।

(ख) अन्य पुरुष एकवचन पुल्लिग के रूप—

था—जिन प्रभु जीउ पिंडु था दीया।[४]

कबीर में इसका विशेष प्रयोग मिलता है।

(ग) उत्तम पुरुष स्त्रीलिंग-रूप—

एक दोहे में स्त्रीलिंग रूप का भी प्रयोग है—

थी—बिरहिनि थी तौ क्यौं रही।[५]

यहां पर सहायक-क्रिया होते हुए भी यह कृदन्त रहित है इस कारण इसे उस

---

१. सा० १-१४-१ २. सा० २१-९-२

३. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध—पुरुष वाचक—उत्तम पुरुष सर्वनाम के एकवचन रूप।

४. ४०-२ ५. सा० २-४१-१

रूप में सहायक-क्रिया स्वीकार नहीं किया जा सकता जिस प्रकार अन्य रूप विद्यमान हैं। इसी प्रकार 'थौ' रूप भी है जो केवल एक ही स्थान पर प्रयुक्त हुआ है किन्तु कृदन्त रहित होने के कारण उसे सही रूप में सहायक क्रिया नहीं माना जा सकता।

थौ—तब यहु नंद कहां थौ रे।[१]

कबीर-काव्य में ब्रजभाषा का 'हुता' रूप भी विद्यमान है,[२] किन्तु उसे सहायक-क्रिया नहीं कहा जा सकता। उसमें भी 'अहै' आदि के समान 'होना' मूल क्रिया का भाव विद्यमान है अतः इसके उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

२.६.२.३ भविष्य निश्चयार्थ—

परिनिष्ठित हिन्दी में 'होना' आदि क्रिया के रूपों के साथ 'गा' प्रत्यय भविष्य निश्चयार्थ में जोड़ा जाता है। तथ्य यह है कि 'है' और 'था' के समान यह अयोगात्मक रूप में (अलग) नहीं है। अतः कबीर-काव्य में प्रयुक्त भविष्य निश्चयार्थ के रूपों का उल्लेख काल-रचना में विस्तार से किया गया है, वहां स्वतः ही प्रत्यय रूप इन सहायक-क्रियाओं का वर्णन भी हो गया है। इस अंश में प्रवृत्ति-निर्देश करने के निमित्त कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। विभिन्न क्रिया रूपों के साथ पुरुष तथा वचनों के विभिन्न प्रयोग निम्न हैं:—

उत्तम पुरुष एकवचन—

पु०—आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जिऊंगा।[३]
स्त्री०—हौं जारौंगी तोहिं।[४]

उत्तम पुरुष बहुवचन—

बहुरि हम काहे कौ आवहिंगे।[५]
'हम' यद्यपि 'मैं' के लिए है पर यह रूप बहुवचन का है।

मध्यम पुरुष एकवचन—

पु०—रांम सुमिरि पछिताइगा।[६]
स्त्री०—खरी बिगुरचनि होइगी।[७]

---

१. १५४-२ २. सा० ६-२७-१ ३. १९३-१
४. सा० १६-३५-२ ५. ५७-१ ६. ७४-१
७. सा० २१-२२-२

मध्यम पुरुष बहुवचन—

फिरि पाछैं पछिताहुगे ।[1]

अन्य पुरुष एकवचन—

पु०—काल कंठ कौं गहैगा ।[2]
स्त्री—जांनैंगी वह आगि ।[3]

अन्य पुरुष बहुवचन—

देखत ही छिपि जांइगे ज्यौं तारे परभाति ।[4]

२. ६. २. ४. उपर्युक्त वर्णित सहायक-क्रियाओं में से कुछ रूपों का प्रयोग अस्तित्ववादी क्रिया के रूप में भी हुआ है। 'अहै', 'हहिं' तथा 'हुता' आदि रूपों का प्रयोग केवल अस्तित्ववादी क्रिया रूप में ही मिलता है। इन विभिन्न रूपों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

वर्तमान निश्चयार्थ —

हूं— उस संम्रथ का दास हूं ।[5]
हैं—सत्तरि सहस सलार हैं जाके ।[6]
है—अब हरि है मैं नांहि ।[7]
हौ—लोगा तुम हौ मति के भोरा ।[8]
अहै— काया कजरी बन अहै ।[9]
आहि—सो तौ आहि अमर पद मांहीं ।[10]
अत्थि—निरअथि अत्थि न होइ ।[11]
आथि—मेरौ जनम मरन दुखु आथि धीर ।[12]
आसी—जरा मरन भौ संकट आसी ।[13]
हहिं—औरन हंसत आप हहिं कांनें ।[14]
हहि—तीनि लोक जाकै हहि भारा ।[15]

---

१. सा० ३-३-२ २. सा० ३-२२-२ ३. २-४२-२
४. सा० १६-२१-२ ५. सा० ११-८-१ ६. ४२-३
७. सा० ६-१-१ ८. २००-१ ९. सा० २६-२-१
१०. १२५-४ ११. र० १७-११ १२. ४३-८
१३. ६८-३ १४. १६७-६ १५. ३८-३

भूत निश्चयार्थ—

था—जब मैं था तब हरि नहीं ।[1]
थी—बिरहिनि थी तौ क्यौं रही ।[2]
थे—जे थे सचल अचल ह्वै थाके ।[3]
थौ—तब यह नंद कहां थौ रे ।[4]
हुता—जा दिन किरतिम नां हुता ।[5]

२.६.३ कृदन्त—

२.६.३.० काल-रचना में सहायक-क्रिया के साथ कृदन्तों का प्रयोग होता है। भाषा में यह अनेक रूपों में प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में विकारी अविकारी के आधार पर सात कृदन्त माने गए हैं।[6] कुछ अन्य विद्वानों ने नौ कृदन्तों तक स्वीकार किए हैं।[7] प्रयोग की दृष्टि से उनमें से छः ही प्रमुख हैं।[8] कबीर-काव्य में इन छः कृदन्तों के प्रयोग का विशेष महत्त्व है—

१. वर्तमानकालिक कृदन्त
२. भूतकालिक कृदन्त
३. कर्तृवाचक कृदन्त
४. अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त
५. पूर्वकालिक कृदन्त
६. क्रियार्थक संज्ञा

२.६.३.१ वर्तमानकालिक कृदन्त—

(क) व्यंजनान्त धातुओं में '—अत' लगाकर इनका निर्माण हुआ है—

करत,[9] परत,[10]

स्त्रीलिंग बनाने के लिए '—अती' जोड़ा गया है—

चलती[11]

---

१. सा० ६-१-१ २. सा० २-४१-१ ३. ५०-७
४. १५४-२ ५. सा० ६-२७-१
६. हि० व्या०—का० प्र० गु०, पृ० ४७४
७. हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण—डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० १०३
८. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० २६५-२६७
९. ३७-२ १०. ५८-८ ११. सा० १६-५-१

(ख) अपभ्रंश की उकार बहुला प्रवृत्ति के अनुसरण पर '–अत' का '–अतु' रूप भी जोड़ा गया है—
कहतु[1]

(ग) कहीं कहीं '–अंत' जोड़कर भी रूप बने हैं—
हसंत[2]
स्त्रीलिंग बनाने के लिए '–अंती' जोड़ा गया है—
चढ़ंती[3]

(घ) स्वरांत धातुओं में '–अत' के स्थान पर '–त', '–तां' '–ता,' '–तें', '–ते' प्रत्यय जोड़े गए हैं—
होत,[4] खेलतां,[5] कहता,[6] पुकारतें,[7] कहते[8]

२.६.३.२ भूतकालिक कृदन्त—

(क) व्यंजनान्त धातुओं में पुल्लिग '–आ' तथा स्त्रीलिंग '–ई' प्रत्यय लगाकर—
पु० फूला[9]
स्त्री०, फूली[10]

(ख) धातु के मूल रूप के साथ '–एं', तथा '–ए' प्रत्यय लगाकर—
बैठें,[11] मारे[12]

(ग) '–औ' लगाकर—
संच्यौ[13]

(घ) '–न्ह', '–न्हां', 'न्हें' प्रत्यय स्वरान्त धातुओं में लगाकर—
लीन्ह,[14] कीन्हां,[15] दीन्हें[16]

(च) '–या', '–यौ' प्रत्ययों के योग से—
कीया,[17] कीयौ[18]

(छ) '–इया' प्रत्यय जोड़कर—
पढ़िया[19]

---

१. ९०-२ २. सा० २३-२-१ ३. सा० ३१-१०-१
४. सा० ८-११-१ ५. सा० १-३२-२ ६. १७०-१
७. सा० ३३-६-१ ८. सा० २१ ५-१ ९. ८३-४ १०. सा० १६-३४-२
११. ७-३ १२. ६९-६ १३. ८३-९
१४. ६७-२ १५. २३-७ १६. सा० १४-४०-१
१७. र० ६-६ १८. चौ० र० १७-१ १९. ११९-१

२.६.३.३ कर्तृ वाचक कृदन्त—

(क) '–हारा' प्रत्यय लगाकर कर्तृवाचक कृदन्तों का निर्माण किया गया है। पुल्लिग में '–हारु' '–हारो', '–हारौ' '–हारै रूप जोड़े गए हैं। इसीके स्त्रीलिंग रूप '–हारि' '–हारी' हैं। तुकान्त के लिए '–हार' रूप भी प्रयुक्त किया गया है। यथा—

पु०—जिग्रावनहारा,[१] बोलनहारु[२] जांननहारो,[३] राखनहारौ[४] राखनहारै[५]

स्त्री०—पनिहारि[६] जनमांवनहारी[७]

तुक—चालनहार[८]

(ख)–'वारा' प्रत्यय लगाकर भी इन कृदन्तों का निर्माण किया गया है। इसीका स्त्रीलिंग रूप '–वारी' तथा बहुवचन रूप '–वारे' है। '–वारे' रूप आदरार्थ में भी प्रयुक्त हुआ है—

पु०—रखवारा[९]

स्त्री०—रखवारी[१०]

बहुवचन—रखवारे[११]

(ग) '—ता' प्रत्यय जोड़कर भी इन कृदन्तों की रचना की गई है—

करता[१२]

२.६.३.४ अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त—

(क) '–ते' तथा '–तां' प्रत्यय लगाकर अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्तों का निर्माण हुआ है—

चलते चलते[१३]

मरतां मरतां[१४]

इनका दो बार एक साथ ही प्रयोग हुआ है।

---

१. १०६-१ २. १२६-३ ३. १७६-२
४. २६-६ ५. सा० १५-५४-१ ६. सा० ४-१०-२
७. १६०-३ ८. सा० १६-३२-१ ९. १६२-३
१०. १२०-२ ११. ६१-५ १२. १५८-१०
१३. सा० १०-६-२ १४. सा० १९-१-१

२.६.३.५ पूर्वकालिक कृदन्त—

(क) अधिकांशतः व्यंजनान्त धातुओं में -'इ' जोड़कर ये कृदन्त बनाए गए हैं। कुछ स्वरान्त धातुओं में भी '-इ' जोड़ी गई है :—

व्य०—कहि,[1] जागि[2]

स्व०=रोइ[3]

(ख) व्यंजनान्त धातुओं में '-ऐ' भी जोड़ा गया है। इसी का कहीं-कहीं रूप '-ए' भी हो गया है :—

लै[4]

दे[5]

(ग) मूल धातु को इकारान्त करके उसके साथ 'कै' 'करि' का प्रयोग भी किया गया है—

ग्राइकै,[6] सुनिकै[7]

संजोइ करि[8]

२.६.३.६ **क्रियार्थक संज्ञा**—कामताप्रसाद गुरु ने इसका विवेचन कृदन्तों में नहीं किया है। उनके व्याकरण में कृदन्तों से पूर्व पृथक् अध्याय में इसका उल्लेख मिलता है।[9] किन्तु यह वास्तव में कृदन्त ही है। इसी कारण इसका यहां उल्लेख किया है। कवियों की भाषा सम्बन्धी शोध ग्रन्थों में इसका विवेचन कृदन्तों के साथ मिलता है।[10]

(क) व्यंजनान्त धातुओं में कहीं कहीं '-इबे', '-इबा', '-इबौ', प्रत्यय लगाकर भी क्रियार्थक संज्ञाएं बनाई गई हैं—

कहिबे[11]

पढ़िबा[12]

पढ़िबौ[13]

(ख) स्वरांत तथा व्यंजनान्त दोनों प्रकार की धातु के मूल-रूप के साथ '-नां' जोड़कर भी क्रियार्थक संज्ञाओं का

---

१. १०-१४ २. सा० ३-२-१ ३. सा० २-२३-२
४. ७५-८ ५. सा० २-५३-२ ६. सा० २-४५-२
७. ८६-३ ८. र० ६-६
९. हि० व्या०—का० प्र० गु०, पृ० ४७२
१०. सूर की भाषा, पृ० १०८; तुलसी की भाषा, पृ० ११४
११. सा० ६-२-२ १२. सा० ३३-१-१ १३. सा० ३३-२-१

निर्माण किया गया है। '-नीं' इसी का स्त्रीलिंग रूप तथा '–न' ह्रस्व रूप है :—

होनां,[१] जूझनां[२]
देखन,[३] होन[४]
होनीं[५]

(ग) व्यंजनान्त धातुओं में '–अले,' '–इले' –ईले' प्रत्यय लगाकर भी क्रियार्थक संज्ञाएं बनाई गई हैं—

मुसले,[६]
तजिले,[७]
बेधीले[८]

२.६.४ काल-रचना—

२.६.४.१ मूलकाल—कबीर के काव्य में प्राप्त मूलकाल निम्नलिखित छः हैं—

१. सामान्य वर्तमानकाल
२. सामान्य भूतकाल
३. सामान्य भविष्यकाल
४. वर्तमान अपूर्ण सम्भावनार्थ
५. संभाव्य भविष्यत्
६. वर्तमान आज्ञार्थ (प्रत्यक्षविधि)

इनमें प्रथम तीन के विभिन्न पुरुषों तथा वचनों में रूप प्राप्त होते हैं। शेष तीन के पूरे रूप प्राप्त नहीं होते। इसी कारण प्रथम तीन का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है तथा शेष तीन के जो थोड़े उदाहरण प्राप्त होते हैं, वे दिए जा रहे हैं।

१. सामान्य वर्तमानकाल—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	-औं, -उं, -ऊं	-हिं
मध्यम पुरुष	-ए, -ऐ, -त, -औ -औं, -अहि, -अहु	×

१. ८२-३ २. सा० १४-११-२ ३. सा० ६-२५-१
४. १५६-२ ५. ६०-५ ६. र० ६-५
७. ४६-२ ८. ११५-६

अन्य पुरुष	–इ, –ई, –ए,–ऐ, (धातुरूप), –त, (–ती) –अंत,–हि, –ही,	–हिं,–हीं, –ऐं –अंत, –आं, –आत,

उत्तम पुरुष—

एक वचन—

नां जांनौं को पियहिं पियारी।[1]
तिनकै मैं बलिहारै जांउं।[2]
तहं मैं चलि कै जाऊं जी।[3]

बहुवचन—

जग देखत हंम जाहिं।[4]

मध्यम पुरुष—

एक वचन—

करवट दै मोहिं काहे कौं मारे।[5]
क्यौं तू पकरै कांच।[6]
तू चितवत कछु और।[7]
जिहिं जिहिं डाबर तुम फिरौ।[8]
तुम जिनि जांनौं गीत है।[9]
क्या सोचहि बारंबारा।[10]
रांम न जपहु कवन भ्रम भूले।[11]

अन्य पुरुष—

एक वचन—

रांम बिनु तन की तपनि न जाइ।[12]
देखा देखी भगति का कदे न चढ़ई रंग।[13]
आवत जात दुहूधां लूटे।[14]

---

१. ८-४ २. ३०-३ ३. ४-१
४. सा० ५-८-१ ५. १९-२ ६. सा० २१-३०-२
७. सा० ११-६-१ ८. सा० १६-७-२ ९. १०-१३
१०. ७२-२ ११. ६९-७ १२. ९-१
१३. सा० २४-१६-१ १४. १०२-२

सुहागिनि गलि सोहै हार।[१]
कहै कबीर भजि रांम नांम।[२]
कह कबीर फिरि जनमि न आवै।[३]
कहत कबीर सुनहु मेरी माई।[४]
नित उठि करती आलि।[५]
त्यौं त्यौं काल हसंत।[६]
हिरदै बसहि गोबिंदा।[७]
पीवत तृखा न भाजही।[८]

बहुवचन—

आवहिं जूठै जाहिं भी जूठै जूठै मरहिं अभागे।[९]
स्वाद अनेक कथे नहिं जाहीं।[१०]
कबीर लहरि समंद की केती आवैं जाहिं।[११]
पंखी केलि करंत।[१२]
लोग मरमु का जांनैं मोरा।[१३]
बेद अरु बोध कहैं तरु एक।[१४]
लोगन रांमु खिलौनां जांनां।[१५]
जो हरि नांम जपात।[१६]

२. सामान्य भूतकाल—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	–आ, –इया, –यौं, –यौ न्हीं, –अल, –एउं,	–अलीं
मध्यम पुरुष	–या, –न्हीं, –यौ –ए हु	×
अन्य पुरुष	-आ, (-ई), -यौ, -ऐला -औ, -न्ह, -न्हां -न्हौं	-न, -या, -एं, ए, -नीं, -न्हें

१. १६२-५ २. १६-८ ३. ११-५
४. १२-५ ५. सा० १६-२६-१ ६. सा० १६-२५-२
७. १८८-१ ८. सा० १२-३-२ ९. १६२-४
१०. र० ११-३ ११. सा० ४-३२-१ १२. सा० १७-३-२
१३. १८६-२ १४. १८०-४ १५. १८६-३
१६. ७३-७

–इया (–इआ), –इऔ –इयां
–अल, –इले

उत्तम पु०—

एक वचन—

ऐसा पिय हंम कबहुं न देखा।[१]
एक अचंभौ देखिया, बिटिया ब्याही बाप।[२]
बहु बिधि कह्यौं पुकारि पुकारि।[३]
अपनैं पुरिख मुख कबहूं न देख्यौ सती होत समझी समझाई।[४]
सील धरम जप भगति न कीन्हीं।[५]
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल।[६]
मैं तोहिं बरजेउं बार बार।[७]

बहुवचन—

जब हंम रहलीं हठिल दिवांनीं।[८]

मध्यम पु०—

एक वचन—

जे तूं बामन बमनीं जाया।[९]
सुमिरन भजन दया नहिं कीन्हीं।[१०]
तैं बन बन सोध्यौ डार डार।[११]
जंगल किएहु बसेरा।[१२]

अन्य पु०—

एक वचन—

एक रांम देखा सबहिन मैं।[१३]
जीव अछित जोबन गया।[१४]
सो भी देखि डरी।[१५]

---

१. १७-६ २. ११०-४ ३. ६३-१२
४. १०९-७ ५. ४४-२ ६ ५३-७
७. ७५-३ ८. १६-३ ९. १८२-३
१०. ७४-६ ११. ७५-३ १२. ८९-४
१३. ५४-६ १४. ३९-७ १५. २-५

डांइनि एक सकल जग खायौ ।[१]
कहै कवीर जे रांम कहैला ।[२]
चंदन कै ढिग विरिख जु भैला ।[३]
तातैं ग्यांन रतनु हरि लीन्ह ।[४]
सहज सुहाग रांम मोहिं दीन्हां ।[५]
बहुरि न कीन्हौं फेरा ।[६]
जाइ पूछौ गोबिंद पढ़िया ।[७]
जरजोधन का मथिग्रा मांन ।[८]
ग्रगम द्रुगम गढ़ि रचिग्रौ बास ।[९]
जिन्हि बांधल सेता ।[१०]
गड़िले कंचन भारी ।[११]

बहुवचन—

सात सूत मिलि बनिज कीन ।[१२]
बंध तैं निर्बंध कीया ।[१३]
जूठे ही फल लागे ।[१४]
जिन हरि जैसा जांनियां ।[१५]
जेते ग्रौरति मरद उपानें ।[१६]
चलौ बनिजारा हाथ झारि ।[१७]
पंच तत्त मिलि काया कीनीं ।[१८]
ग्रजामेल गज गनिका पतित करम कीन्हें ।[१९]

३. सामान्य भविष्यकाल—

	एक वचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	–उं,–उंगा,–ऊंगा, –ग्रौंगा (–ग्रौंगी) –इहूं, –इहौं	–हिंगे,–एंगे (–ऐंगे) –इहैं

---

१. २-५ २. १६६-६ ३. १६६-३
४. ६७-२ ५. ६-६ ६. ८६-५
७. ११६-१ ८. १५५-१६ ९. १३०-३
१०. १०३-४ ११. ८५-७ १२. १२६-५
१३. १-६ १४. १९२-३ १५. सा० ३-१६-१
१६. १७७-१३ १७. १२६-६ १८. १५६-५
१९. २०-६

मध्यम पुरुष	–इबे,–इबौ–सि,-सी	–हुगे, –औगे
	–इगा (–इगी)	
	–अहु, –इहौ, –ऐगा	
अन्य पुरुष	–सी, –इगा (–हिगा)	–इगी, –ऐंगे
	–एगा, (–ऐगा) –ऐंगी, (–ऐगी)	
	–ऐगौ	–इगे
	–इहै, –इहहि	–इहैं

उत्तम पु०—

एक वचन—

बाबा अब न बसउं यहि गांउं ।[1]
मैं न बदउंगा भाई ।[2]
आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जिऊंगा ।[3]
हरि काल्हि भजौंगा ।[4]
हौं जारौंगी तोहिं ।[5]
सगौ भईआ लै सलि चढ़िहूं ।[6]
जौ छांड़ौं तौ बूड़िहौं ।[7]

बहुवचन—

नां कछु किया न करहिंगे ।[8]
बैठेंगे किस ठौर ।[9]
कहा करैंगे जाइ ।[10]
तौ हमहूं मरिहैं ।[11]

मध्यम पु०—

एक वचन—

का करिबे अभागा ।[12]
भरमत रहिबौ ।[13]

---

१. सा० ४-१-१ २. १७८-३ ३. १९३-१
४. सा० १६-२४-१ ५. सा० १६-३५-२ ६. १३५-६
७. सा० २-११-२ ८. सा० ८-१-१ ९. सा० १०-५-२
१०. सा० १५-५६-१ ११. १०६-४ १२. १९७-१
१३. ७८-१

तब का कहसि मुकुंदा ।[1]
भला न कहसी कोइ ।[2]
जिग्र रे जाहिगा मैं जांनां ।[3]
खरी बिगुरचनि होइगी ।[4]
बहुरि न देखहु ग्राइ ।[5]
ग्रबिनासी दुलहा कब मिलिहौ ।[6]
तब सोवैगा दिन राति ।[7]

वहुवचन—
फिरि पाछैं पछिताहुगे ।[8]
पहुंचौगे परवांन ।[9]

ग्रन्य पु० —

एक वचन—
ग्रौसर जासी चालि ।[10]
यहु जियरा चलि जाइगा ।[11]
जिग्र रे जाहिगा मैं जांनां ।[12]
काल कंठ कौ गहेगा ।[13]
भला करैगा सोइ ।[14]
जांनैंगी वह ग्रागि ।[15]
ग्रावैगी कोइ लहरि लोभ की ।[16]
बिनसैंगौ रूपु ।[17]
पीछैं परिहै राति ।[18]
जैहहि ग्राटा लौंन ज्यौं ।[19]

बहुवचन—
नवनिधि होइगी चेरी ।[20]
कहा करैंगे जाइ ।[21]

---

१. १८८-२ २. सा० १४-६-२ ३. १८६-१
४. सा० २१-२२-२ ५. सा० १५-३-२ ६. १५-१
७. सा० ३-१६-२ ८. सा० ३-३-२ ९. सा० १०-१२-२
१०. सा० १६-२४-२ ११. ६६-१० १२. १८६-१
१३. सा०३-२२-२ १४. सा० २-१४-२ १५. सा० २-४२-२
१६. ६२-२ १७. ७९-६ १८. सा० १५-३८-२
१९. सा० १५-२५-२ २०. १४-७ २१. सा० १५-५६-१

देखत ही छिपि जाइंगे ज्यौं तारे परभाति ।[1]
द्वारै रचि हैं कथा कीरतन ।[2]

४. वर्तमान अपूर्ण सम्भावनार्थ—

जागै साध तौ मैं भी जागूं, सोवै-साध तौ सोऊं ।[3]
साध चलै आगैं उठि धाऊं ।[4]
आपु पछांनैंत एकै जांनैं ।[5]
रांम छांड़ौं तौ मेरै गुरहिं गारि ।[6]

५. संभाव्य भविष्यत्—

होइगा रांम त लेइगा राखि ।[7]
भरि जैबे का करिबे अभागा ।[8]
कहा करउं कैसे तरउं भव जलनिधि भारी ।[9]

६. वर्तमान आज्ञार्थ (प्रत्यक्ष विधि)—

यह तत बार बार कासौं **कहिए** ।[10]
कहै कबीर यहु **कहिऍ** काहि ।[11]
धन जोबन का गरब न **कीजै** ।[12]
चेतनां होइ सु चेत **लीजौ** ।[13]
सुनि हो कंत सुजांन ।[14]
बंदे **खोजु** दिल हर रोज नां फिरु परेसानीं मांहि ।[15]
ता मन कौं **खोजहु** रे भाई ।[16]
चलहु बिचारी **रहहु** संभारी कहता हू ज पुकारी ।[17]
कहै कबीर **सुनहु** मतिसुंदर ।[18]
कहै कबीर **सुनौं** रे लोई ।[19]

---

१. सा० १६-२१-२	२. ३३-२	३. ३५-३
४. ३५-६	५. १६०-६	६. २६-८
७. २१-५	८. १६७-१	९. ३६-१
१०. ६६-१	११. २६-६	१२. ७४-४
१३. ११६-१०	१४. सा० २-४५-१	१५. ८७-१
१६. ४८-१	१७. १७०-१	१८. १३५-८
१९. १६-५		

कुल अभिमांन विचार तजि **खोजौ** पद निरबांन।[1]

नैंनां अंतरि **आव** तूं।[2]

उपदेशात्मक प्रवृत्ति होने के कारण इस प्रकार के रूपों का आधिक्य है।

२.६.४.२ **संयुक्त काल**—

संयुक्त काल कृदन्तीय रूपों में सहायक क्रियाएं जोड़कर बनाए जाते हैं। कबीर-काव्य में प्राप्त संयुक्त कालों को दो वर्गों में विभाजित करके प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) वर्तमानकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया

(२) भूतकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया

(१) वर्तमानकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया—

(क) वर्तमान

उत्तम पु०—

एक वचन—कहता हूं ज पुकारी।[3]

सुमिरत हूं अपनैं उनमांनां।[4]

बहुवचन—कै हंम प्रांन तजत हैं प्यारे।[5]

अपने लिए 'हंम' प्रयोग करने के कारण क्रिया बहुवचन की है।

मध्यम पु०—

एक वचन—जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ।[6]

बहु वचन—लोका तुम ज कहत हौ नंद कौ नंदन।[7]

अन्य पु०—

एक वचन—सांईं सौं सब होत है।[8]

सुनता है सब कोइ।[9]

बहु वचन—केते अजहूं जात हैं।[10]

कहते हैं जु हलाल।[11]

---

१. र० ७-७ २. सा० ११-१२-१ ३. १७०-१
४. र० १९-५ ५. १५-१० ६. ५४-३
७. १५४-१ ८. सा० ८-११-१ ९. सा० ३-२५-१
१०. सा० ३०-१२-२ ११. सा० २१-५-१

(ख) भूत—इसके केवल दो रूप ही प्राप्त होते हैं तथा दोनों ही अन्य पुरुष एक वचन के हैं—

अन्य पुरुष एक वचन—

पाछैं लागा जाइ था।[१]
लियां फिरै था साथि।[२]

इन दोनों (वर्तमान तथा भूत) में पूर्णता, अपूर्णता, निश्चय, अभ्यास आदि का भाव विद्यमान है।

(२) भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया—

(क) वर्तमान

उत्तम पु०—

बहु वचन—कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं।[३]
अपने लिए 'हंम' बहु वचन रूप प्रयुक्त करने के कारण क्रिया बहु वचन की है।

मध्यम पु०—

एक वचन—हमहिं छांड़ि कत चले हो निनारै।[४]

अन्य पु०—

एक वचन—कबीर भया है केतकी।[५]
क्या अपराध संत है कीन्हां।[६]
बहु वचन—बैरी उलटि भए हैं मीता।[७]

(ख) भूत—इसके केवल दो रूप ही प्राप्त होते हैं। दोनों उत्तम पुरुष के हैं—

उत्तम पु०—

एक वचन—आया था संसार मैं।[८]
बहु वचन—चाले थे हरि मिलन कौं।[९]

---

१. सा० १-१४-१ २. सा० १५-५६-१ ३. ५-८
४. १३६-३ ५. सा० ४-८-१ ६. २३-७
७. १०७-५ ८. सा० ६-२५-१ ९. सा० २१-६-२

(घ) वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ—

घूमत फिरै[1]

ढूंढ़त डोलै[2]

(च) पूर्वकालिक कृदन्त के साथ—

उठि धाऊं[3]

कहि समझाइया[4]

देखि डरी[5]

चलिकै जाऊं[6]

लै खाइ[7]

लै बांध्यौ[8]

इसमें पद-क्रम भी बदल गया है—

कहै सुनाइ[9]

राखौं उरझाई[10]

(छ) अपूर्ण क्रियाद्योतक के साथ—

कहत न आवै[11]

(ii) संज्ञा अथवा विशेषण तथा क्रिया का संयोग—

(क) संज्ञा + क्रिया—

तपु कीया[12]

सिर फोरै[13]

जतन करौ[14]

प्रीति करि[15]

चित राखिए[16]

(ख) विशेषण + क्रिया

पूरा पाया[17]

भला करेगा[18]

(२) दो से अधिक रूपों का संयोग—

इस प्रकार की संयुक्त क्रियाओं में अनेक प्रकार के संयोग दृष्टिगत होते है,

---

१. सा० १२-५-२ २. ३-७ ३. ३५-६
४. १०-१४ ५. २-५ ६. ४-१
७. सा० १५-३१-२ ८. ४१-६ ९. १३-७
१०. ७-४ ११. २-३ १२. ४६-५
१३. सा० ३०-२२-२ १४. सा० २८-५-२ १५. सा० २४-५-१
१६. सा० २५-११-२ १७. १६-८ १८. सा० २-१४-२

इन्हें निम्न वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) दो कृदन्त+सहायक क्रिया

कहता जात है[1]
कहता जात हूं[2]
ब्याहि चले है[3]
लागा जाइ था[4]

(ख) विशेषण+कृदन्त+सहायक क्रिया

बेहाल भए है[5]

(ग) दो कृदन्त+क्रिया

बहि जांन दे[6]

(घ) कृदन्त की आवृत्ति+क्रिया

मुसि मुसि रोवैं[7]
मरि मरि गया[8]
होइ होइ जाइ[9]

२.६.६ प्रेरणार्थक क्रिया—

कबीर के काव्य में दोनों प्रकार के प्रेरणार्थक रूपों का प्रयोग मिलता है। इनमें प्रथम प्रेरणार्थक रूपों का आधिक्य है।

प्रथम प्रेरणार्थक रूप—धातु में '–आ' प्रत्यय लगाकर बनता है। 'देख्,' 'सीख्' आदि कुछ धातुओं में धातु-रूप तथा प्रत्यय के मध्य 'ल' का आगम हो जाता है। जैसे—

√चढ़्—√चढ़ा[10]
√चल्—√चला[11]
√डर्—√डरा[12]
√पकड़्—√पकड़ा[13]
√दिखा—√दिखला[14]
√सीख्—√सिखला[15]

---

१. सा० ३-२५-१ २. सा० ३०-१५-१ ३. ५-८
४. सा० १-१४-१ ५. १३-८ ६. सा० १५-८९-१
७. १२-३ ८. सा० ३१-२७-१ ९. सा० २९-१३-२
१०. ७५-६ ११. ६०-८ १२. १०७-८
१३. सा० १५-८९-१ १४. सा० २-४०-१ १५. सा० २२-३-१

कभी कभी धातु के मध्य 'अ', 'ई', 'ऊ', 'ए' स्वर क्रमशः 'आ', 'इ', 'उ', 'इ' में परिवर्तित हो जाते हैं—

√उतर्—√उतार[१]
√सीख् —√सिखला[२]
√भूल्—√भुला[३]
√देख्—√दिखा[४]

द्वितीय प्रेरणार्थक रूप—धातु में 'आवन' या 'आंवन' जोड़कर बनता है। जैसे—

√देख—√दिखावन[५]
√जनमा—√जनमांवन[६]

इस प्रकार के रूप कबीर-काव्य में बहुत कम हैं। इनका प्रयोग कर्तृवाचक के रूप में हुआ है।

२.६.७ वाच्य (Voice)

कबीर-काव्य में कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य—तीनों के रूप मिलते हैं। उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं :—

कर्तृवाच्य—रांम रसु पीआ रे।[७]
ता मन कौं खोजहु रे भाई।[८]
कर्मवाच्य—सो सुख हमहुं सांच करि जांनां।[९]
भाववाच्य—मांन तजी त क्या भया, जौ मांन तजा नहिं जाइ।[१०]
मो पै सहा न जाइ।[११]

इनमें कर्तृवाच्य का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है तथा भाववाच्य के उदाहरण कम ही हैं।

---

१. ३७-४ २. सा० २२-३-१ ३. सा० २५-२१-१
४. सा० ४-२१-२ ५. सा० १-१३-२ ६. १६०-३
७. ५५-१ ८. ४८-१ ९. १५९-४
१०. सा० ३१-३-१ ११. सा० २-४०-२

२. ७ अव्यय

२. ७. १ क्रिया-विशेषण—

क्रिया-विशेषण—स्थानवाचक, कालवाचक, परिमाणवाचक और रीति-वाचक—इन चार वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं। कबीर में प्रयुक्त इनके रूप उदाहरण सहित नीचे दिए जा रहे हैं—

२. ७. १. १ स्थानवाचक—इसके दो भेद हैं—(१) स्थितिवाचक, (२) दिशावाचक।

(१) स्थितिवाचक—

अनत—सो कत अनत पुकारन जाई।[१]
इहंई—इहंई रहीमां रांमां।[२]
इहां—आगैं नरक इहां भोग बिलास।[३]
यहीं—धन जोबन तेरा यहीं रहैगा।[४]
उहवां—जो खोजहु सो उहवां नांहीं।[५]
ऊंहां—ऊंहां तैं फुनि गिरि पड़ा।[६]
कतहुं~कतहूं
रहै बिहंगम कतहुं न जाई।[७]
नां कतहू चलि जाइए।[८]
कहं~कहां~कहीं~कहुं~कहूं
कहै कबीर भूलौ कहा कहं ढूंढ़त डोलै।[९]
तन छूटे मन कहां समाई।[१०]
बस्तु कहीं खोजै कहीं।[११]
टूटैगी कहुं लागि।[१२]
कहूं दूर पड़ैंगे जाइ।[१३]

---

१. ३८-३ २. १७७-१२ ३. १६२-४
४. ९४-६ ५. १२५-४ ६. सा० २९-१९-२
७. चौ० र० ८-२ ८. १०-७ ९. ३-७
१०. ४८-२ ११. सा० १५-८७-१ १२. सा० २८-५-२
१३. सा० १६-३६-२

जहं~जहां

जहं सतगुर खेलत ।रतु बसंत ।[1]

जहां पउढ़े स्री कंवला कंत ।[2]

तहं~तहंई~तहां~तहियां~तहीं~तां

सतगुर साह संत सौदागर तहं मैं चलि कै जाऊं जी ।[3]

जहं ते उपजे तहंई समांनें ।[4]

जब लग तहां आप नहीं जइऐ ।[5]

नहीं ग्रिह द्वार कछू नहिं तहियां रचनहार पुनि नांहीं ।[6]

जहं जहं जाइ तहीं सचु पावै ।[7]

तां पसु केतिक आइ ।[8]

ऊंचा—गिरत परत चढ़ि ऊंचा ।[9]

उपरि~ऊपरि~ऊपरै

तलि करि पत्ता उपरि करि मूल ।[10]

ऊपरि जांमैं घास ।[11]

मींन तलै जल ऊपरै कछु लगै न भारा ।[12]

तलि~तलै

तलि करि पत्ता उपरि करि मूल ।[13]

मींन तलै जल ऊपरै ।[14]

आगां~आगे~आगैं

आगां तैं हरि हरखिया ।[15]

आगे सीढ़ी सांकरी ।[16]

आगैं मिला खुदाइ ।[17]

पाछैं—आधा चलि करि पाछैं फिरिहौ ।[18]

बाहर~बाहरि

बीबी बाहर हरम महल मैं ।[19]

---

१. १४९-१ २. १३०-१० ३. ४-१

४. १६९-६ ५. २९-५ ६. ११३-५

७. ३१-५ ८. सा० १५-३९-२ ९. ५८-८

१०. ११६-६ ११. सा० १५-२३-२ १२. ३४-५

१३. ११६-६ १४. ३४-५ १५. सा० १४-१७-२

१६. सा० २०-२-१ १७. सा० ४-१४-१ १८. ५८-६

१९. ८९-६

बैठि गुफा महिं सब जग देखै बाहरि किछू न सूझै ।[1]

बिच~बीच~बीचहिं

बस्तु अनूपु बिच पाई ।[2]

हंम तुम बीच भयौ नहिं कोई ।[3]

चाले थे हरि मिलन कौं बीचहिं अटका चीत ।[4]

भीतर~भीतरि

ताला बेलि होत घट भीतर ।[5]

बाहरि जाता भीतरि आंनैं ।[6]

ढिग~ढिंग

ढढ्ढा ढिग ढूंढ़हि कत आंनां ।[7]

चंदन कै ढिंग बिरिख जु भैला ।[8]

धोरै—धोरै बैठि चपेटही, यौं लै बूड़ै ग्यांन ।[9]

नेरा~नेरै

ज्यौं कोरी रेजा बुनैं, नेरा आवै छोरि ।[10]

चतुर चिकनियां चुनि चुनि मारे कोई न छांड़ा नेरै ।[11]

पास~पासा~पासि

चलि चलि रे भंवरा कंवल पास ।[12]

सो संतन के पासा ।[13]

सो ताही कै पासि ।[14]

पैं~पै

उठि पंडित पैं चले निरासा ।[15]

लै फांसी हमहूं पै आवा ।[16]

आसिपासि—आसिपासि धन तुरसी का बिरवा ।[17]

निकटि—काल कराल निकटि नहिं आवै ।[18]

नियरा~नियरे~नियरै

ठठ्ठा दूरि ठौर ठग नियरा ।[19]

---

१. १२२-५ २. ८०-३ ३. १६-४
४. सा० २१-६-२ ५. १५-५ ६. १२८-७
७. चौ० र० १६-१ ८. १६६-३ ९. सा० ४-३१-२
१०. सा० १५-६६-१ ११. १६१-२ १२. ७५-१
१३. ३३-४ १४. सा० २-२६-२ १५. ८६-४
१६. १६४-६ १७. १३१-११ १८. १४५-६
१९. चौ० र० १७-१

नियरे तैं है दूरि ।[1]
नियरै दूरि दूरि फुनि नियरै ।[2]

दूर~दूरहिं~दूरि
कहूं दूर पड़ैंगे जाइ ।[3]
कबीर हरि का भावता, दूरहिं तैं दीसंत ।[4]
आसन पवन दूरि करि रउरा ।[5]

सनमुख—जा कारनि मैं जाइ था सनमुख मिलिया आइ ।[6]

साम्हीं—सतगुर साम्हीं मूठि ।[7]

(२) दिशावाचक—

इत—इत के भए न ऊत के ।[8]

उत~ऊत
उततैं कोई न आइया ।[9]
इत के भए न ऊत के ।[10]

कत—हमहिं छांड़ि कत चले हो निनारै ।[11]

जित—वारी तेरे नांउं परि जित देखौं तित तूं ।[12]

तित—वारी तेरे नांउं परि जित देखौं तित तूं ।[13]

चहुंओर—मन धावै चहु ओर ।[14]

दाहिनैं—तजि बावैं दाहिनैं बिकारा ।[15]

२. ७. १. २ कालवाचक—इसके तीन प्रकार हैं—(१) समयवाचक (२) अवधि-वाचक (३) पौनःपुन्यवाचक ।

(१) समयवाचक—

अब~अबहिं
अब तोहिं जांन न दैहूं रांम पियारे ।[16]
अबहिं न माता सु कबहुं न माता ।[17]

कब~कबहुं~कबहुंक~कबहूं
अबिनासी दुलहा कब मिलहौ ।[18]

---

१. र० ६-८ २. १३४-५ ३. सा० १६-३६-२
४. सा० ४-२६-१ ५. १७२-१ ६. सा० ६-२६-१
७. सा० २४-१२-२ ८. सा० १५-५६-२ ९. सा० १०-३-१
१०. सा० १५-५६-२ ११. १३६-३ १२. सा० ३-६-२
१३. सा० ६-१-२ १४. सा० २५-७-१ १५. १६६-७
१६. ७-१ १७. १६०-७ १८. १५-१

संधिक साध कबहुं नहिं भेट्यौ ।[1]
राति दिवस कै कूकनैं, कबहुंक लगै पुकार ।[2]
उछकि न कबहूं जाई ।[3]

जब~जबहिं~जबहीं~जबै

जब दासी भई खाक बराबरि ।[4]
ए सबही अहला गए, जबहिं कहा कछु देहु ।[5]
यहु अरु वहु जबहीं मिलैं ।[6]
जबै जोग हंम सीखा ।[7]

तब~तबहिं~तबहीं~तबै

तब पिय मुखां न बोला ।[8]
तबहिं काहे रोम्रा ।[9]
मुख तौ तबहीं देखिअै ।[10]
जबहीं होइ तबै मन मांनां ।[11]

कदे—पासि बिनंठा कापड़ा, कदे सुरंग न होइ ।[12]

अजहुं~अजहूं

अजहुं बिकार न छोड़ई ।[13]
अजहूं न सूझै काजी अंधरै ।[14]

आज~आजि~आजु

आज बसौ मन मंदिर चोखैं ।[15]
आजि कि काल्हि कि पचे दिन ।[16]
आजु मरै कै काल्हि ।[17]

काल्हि—काल्हि परौं भुंइ लोटनां ।[18]

आजु कालि~आजु काल्हि~आजुहिं काल्हि

आजु कालि उठि जाइगा ।[19]
आजु काल्हि तजि जाहुगे ।[20]
आजुहिं काल्हि करंत रे ।[21]

---

१. ४४-५ २. सा० ३-४-२ ३. ५६-८
४. १६-४ ५. सा० ३१-२३-२ ६. चौ० र० ३५-२
७. १४३-४ ८. १६-३ ९. ६०-६
१०. सा० १५-११-२ ११. चौ० र० ३९-१ १२. सा० ३०-८-१
१३. ३९-४ १४. २३-८ १५. ७-५
१६. सा० १५-६७-१ १७. सा० २-१२-२ १८. सा० १५-२३-२
१९. ७४-२ २०. सा० १५-२२-२ २१. सा० १६-२४-२

तुरत—सूंघत तुरत मरी ।[१]
निदांन~निदांनि
हंम तुम रहे निदांन ।[२]
परगट होइ निदांनि ।[३]
पुनि~फुनि
नहीं ब्रह्मंड पिंड पुनि नांहीं ।[४]
नियरैं दूरि दूरि फुनि नियरैं ।[५]
फिरि—कह कबीर फिरि जनमि न आवै ।[६]
बहुरि~बहुरे~बहोरि
बहुरि हम काहे कौ आवहिंगे ।[७]
गए ते बहुरे नहीं ।[८]
नांऊ चढ़ै बहोरि ।[९]

(२) अवधिवाचक—
अहनिसि—अहनिसि काल चक्र सौं भिरै ।[१०]
कब लगि—कब लगि राखौं रांम जी ।[११]
जब लग~जब लगि
जब लग मनि बैकुंठ का आसा ।[१२]
जब लगि तागा बाहौं बेही ।[१३]
तब लग~तब लगि~तबै लगि
तब लग नहिं हरि चरन निवासा ।[१४]
तब लगि बिसरैं रांम सनेही ।[१५]
तारन तरनु तबै लगि कहिए ।[१६]
नित~नित्त~नीत
नित उठि कलंक लगावै सहनां ।[१७]
बिरह बजावै नित्त ।[१८]

---

१. २-४ २. सा० १४-३-२ ३. सा० ३०-१-२
४. ११३-३ ५. १३४-५ ६. ११-५
७. ५७-१ ८. सा० १०-१-२ ९. सा० १५-१८-२
१०. १२८-३ ११. सा० १५-७१-२ १२. २९-४
१३. १२-४ १४. २९-४ १५. १२-४
१६. ५४-५ १७. ९५-२ १८. सा० २-१७-१

ते सुख पावहिं नीत ।[1]

निरंतर~निरंतरि

करै निरंतर बास ।[2]

सरब निरंतरि सोइ रे ।[3]

निसदिन—एहि संसा मोहिं निस दिन ब्यापै ।[4]

निसि वासुर —निसि वासुर जो रांम ल्यौ लावै ।[5]

पल भरि— मरै तौ पल भरि रहन न पावै ।[6]

सदा —तिनतैं सदा डरांनैं रहिए ।[7]

सरबदा—सदा सरबदा संगि रहै ।[8]

(३) पौनः पुन्यवाचक —

अनिक बार—प्रहलाद उधारै अनिक बार ।[9]

इकतार—प्रीति रहै इकतार ।[10]

छिनछिन रे मन तोहिं छिनछिन समुझावा ।[11]

दिन दिन—दिन दिन अधिकी लाइ ।[12]

नित नित—नित नित मेंडुक न्हावै ।[13]

नित प्रति— नित प्रति कीजै जाइ ।[14]

पल पल—पल पल मैं चित चोरै ।[15]

फिर फिर~फिरि फिर~फिरि फिरि

फिर फिर भटका खाया हो ।[16]

फिरि फिर जोनीं आवै ।[17]

फिरि फिरि लपटाई ।[18]

फुनि फुनि — आवागवन होत है फुनि फुनि ।[19]

बारंबार~बारंबारा~बार बार

बारंबार बरजि बिखया तैं ।[20]

क्या सोचहि बारंबारा ।[21]

---

१. सा० ११-२-२ २. सा० ६-१६-१ ३. १५६-७
४. ११३-२ ५. ३५-६ ६. ६२-२
७. १६७-२ ८. ३४-२ ९. २६-१२
१०. सा० १५-७४-१ ११. चौ० र० १२-२ १२. सा०२६-१०-२
१३. ८४-५ १४. सा० ४-२२-१ १५. ६३-२
१६. १४७-६ १७. ८४-६ १८. ३९-६
१९. ४०-६ २०. ३१-४ २१. ७२-१

मोकउं कहा सतावहु बार बार ।[1]

सौ बार—चौहाड़ी सौ बार ।[2]

हर रोज—बंदे खोजु दिल हर रोज ।[3]

२. ७. १. ३ **परिमाणवाचक**—कबीर-काव्य में परिमाणवाचक क्रिया-विशेषण अधिकांश रूप में वही हैं जिनका प्रयोग अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण रूप में हुआ है। जहां इन रूपों का उपयोग क्रिया की विशेषता बताने के लिए किया गया है वहीं पर उन्हें क्रिया-विशेषण की संज्ञा दे दी गई है। इस प्रकार के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

अति—दास कबीर बिरह अति बाढ्यौ ।[4]

किंचित—किंचित है सुपिनै निधि पाई ।[5]

केवल केवल कहि समझाइया ।[6]

नेक—नेक निचोड़ सुधा रस वाकौ ।[7]

थोरा—रांमहिं थोरा जांनि करि ।[8]

बहु—भारी कहूं तौ बहु डरूं ।[9]

बहुत—सारा बहुत पुकारिया ।[10]

बहुतक—बहुतक फिरै अचेत ।[11]

२. ७. १. ४ **रीतिवाचक**—रीतिवाचक क्रियाविशेषणों में निषेधवाचक का अपना विशेष महत्व होता है अतः उसका उल्लेख पृथक् से किया गया है। कबीर-काव्य में प्रयुक्त शेष रीतिवाचक क्रिया-विशेषणों का उल्लेख उदाहरण सहित नीचे किया जा रहा है—

उलटा—उलटा पवन जटा धरि जोगी[12]

उलटि—उलटि भई सुख सहज समाधि ।[13]

उलटीले—उलटीले सकति सहारं ।[14]

अस~अैसें

अस ढुरि जाहु रांड के करहा ।[15]

हरिजन हरि सौं अैसें मिलिया ।[16]

---

१. २६-७ २. सा० १-१९-१ ३. ८७-१
४. १५-११ ५. र० १९-३ ६. १०-१४
७. १४६-२ ८. सा० ३१-२२-१ ९. सा० ७-९-१
१०. सा० १४-४-१ ११. सा० २५-२२-१ १२. १४२-८
१३. १०७-३ १४. ११५-५ १५. १३१-२
१६. १६-६

कस ~ कैसे ~ कैसैं ~ कैसै

दीठा है तौ कस कहूं ।[१]

कहा करउं कैसे तरउं ।[२]

कैसैं नगर करौं कुटवारी ।[३]

मोहिं तोहिं लागी कैसैं छूटै ।[४]

जस -- जैसैं -- जैसै

जस देखिअै तरवर की छाया ।[५]

हाथ झारि जैसैं चला जुबारी ।[६]

फूलनि मैं जैसै रहत बास ।[७]

तस — तस लखै न कोई ।[८]

तो – मैं तो तुम्हारी दासी हो सजनां ।[९]

धीरै धीरैं — धीरै धीरै पांव दै ।[१०]

यौंही — जियरा यौंही लेहुगे ।[११]

सहज — सहजहिं — सहजि — सहजैं — सहजै

सुखमनि नारी सहज समांनीं ।[१२]

रिपु कै दल मैं सहजहिं रौंदौं ।[१३]

मुसि मुसि मनुवां सहजि समांनां ।[१४]

सकल पाप सहजैं गए ।[१५]

सहजै होइ सु होइ रे ।[१६]

निषेधवाचक — कबीर द्वारा प्रयुक्त निषेधवाचक क्रियाविशेषणों के विभिन्न रूप इस प्रकार हैं —

जन तेहि ठग सौं जन डरै कबीरा ।[१७]

जनि – ताकी संगति रांम जी, सुपिनैं हू जनि देहु ।[१८]

जिनि – सब जगही मरि जाइयौ एक बढ़इया जिनि मरै ।[१९]

न -- जाति पांति न लखै कोई भगत भौ भंगी ।[२०]

---

१. सा० ७-१०-१	२. ३९-१	३. १२०-१
४. १८-१	५. ७८-३	६. ६९-६
७. १४१-४	८. चौ० र० ३-२	९. १५-८
१०. सा० १०-१२-२	११. सा० २-३२-२	१२. ५६-४
१३. ४-७	१४. १२९-५	१५. सा० ९-११-२
१६. १५६-८	१७. १३९-५	१८. सा० ४-२८-२
१९. ११०-९	२०. १-४	

नहिं—बिन सतगुर नहिं पाइए घट ही मैं बोलै ।[1]
नहिंतर—भली भई जो गुरु मिले, नहिंतर होती हांनि ।[2]
नहीं—कहै कबीर संसा नहीं ।[3]
नां—नां जांनौं को पियहिं पियारी ।[4]
नांहि—इन्हमैं कछु नांहि तेरौ काल अवधि आई ।[5]
नाहिंन—दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग जिन नाहिंन पहिचांनां ।[6]
नांहीं—कहै कबीर भगवंत भजि नर दुतिअ नांहीं कोइ ।[7]
मत—मन घालौ जम की खबरी ।[8]
मति—कहै कबीर परहु मति धोखै ।[9]

कबीर के पदों में कहीं-कहीं एक ही वाक्य में दो विभिन्न रूपों का प्रयोग भी मिलता है । उदाहरणार्थ—

दिवस **न** भूख रैंनि **नहिं** निद्रा घर अंगना **न** सुहाइ ।[10]
नहीं ब्रह्मण्ड पिंड पुनि **नांहीं** पंच पत्त भी **नांहीं** ।[11]

एक पंक्ति ऐसी भी है जिसमें तीन विभिन्न रूपों का प्रयोग किया गया है । रूपों में परिवर्तन लय उत्पन्न करता है । यथा :—

नह ीग्रिह द्वार कछू **नहिं** तहियां रचनहार पुनि **नांहीं** ।[12]

एक पंक्ति में एक ही निषेधवाचक रूप तीन बार प्रयुक्त हुआ है—

नहिं तन **नहिं** मन **नहिं** हंकार ।[13]

२.७.२ सम्बन्धबोधक—

कबीर-काव्य में प्रयुक्त सम्बन्धबोधक अव्ययों के विभिन्न रूप उदाहरण सहित नीचे उल्लिखित किए गए हैं—

अलगा—सबही करि अलगा रहै ।[14]
आधीन—माया के आधीन ।[15]
कारन~कारनि~कारनैं
दरसन कारन रांम ।[16]
सुखदेव अचारज दुख के कारनि ।[17]

---

१. ३-८	२. सा० १-२५-१	३. १०-१६
४. ८-४	५. २०-४	६. ७६-२
७. ६७-८	८. ४४-६	९. ७-५
१०. १५-६	११. ११३-३	१२. ११३-५
१३. १८०-३	१४. सा० ८-१४-२	१५. सा० ३१-२२-२
१६. सा० २-९-१	१७. ९०-४	

मांन बड़ाई कारनैं ।[1]
देखा देखी—देखा देखी पकड़िया ।[2]
नाई—मोहिं तोहिं कीट भ्रिगकी नाई ।[3]
नालि—जरी न पिउ कै नालि ।[4]
नियारा—बेद कतेब तैं रहहिं नियारा ।[5]
न्यारा—विखया सौं न्यारा रहै ।[6]
पहिलै—मरनैं पहिलै जो मरै ।[7]
बदलै—तब कौड़ी बदलै जाइ ।[8]
बराबरि~बरोबरि
जब दासी भई खाक बराबरि ।[9]
झूठ बरोबरि पाप ।[10]
बस- परहु काल बस कूवा ।[11]
बिन~बिनां~बिनु
गुर बिन दाता कोइ नहीं ।[12]
निरखि देखि जहं बिनां नैंन ।[13]
रांम बिनु तन की तपनि न जाइ ।[14]
रहित—त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल ।[15]
संग~संगा~संगि~संगु
सोनैं संग सुहागा ।[16]
सो तनु जलै काठ कै संगा।[17]
रांम देव संगि भांवरि लेइहौं ।[18]
बरध पचीस क संगु कांच ।[19]
साथ~साथा~साथि
सब रांडनि कौ साथ ।[20]
तेहि साहिब के लागौ साथा ।[21]

---

१. सा० १५-८०-२ २. सा० २४-१२-१ ३. १८-५
४. सा० २-४१-१ ५. ८१-५ ६. १४-४
७. सा० १९-१३-२ ८. सा० १८-७-१ ९. १६-४
१०. सा० १५-१६-१ ११. ६८-९ १२. ३-१
१३. १४८-४ १४. ९-१ १५. ५३-७
१६. १६-६ १७. ७९-५ १८. ५-६
१९. १२६-३ २०. ११०-१० २१. र० ३-१

लोक बेद कै साथि।[1]

सम—कासी मगहर सम बीचारी।[2]

समसरि—मोहिं समसरि पापी।[3]

समांन—जीवन सुपिन समांन।[4]

सईं~सवां

हरिजन सईं न जाति।[5]

सतगुर सवां न को (इ) सगा।[6]

सरीखा~सरीखे

आप सरीखा जो मिलै।[7]

आपु सरीखे करि लिए।[8]

सा~सी

जाकै हरि सा ठाकुरु भाई।[9]

गुदरी सी उठि जाइगी।[10]

सेत~सेती

तन राता मन सेत।[11]

सतगुर सेती खेलतां।[12]

हित—जिहि हित जीव राखिहै भाई।[13]

हेत~हेतु

भगति हेत नरसिंघ भेव।[14]

भगति हेतु औतार लियौ है।[15]

२.७.३ समुच्चयबोधक—

हिन्दी व्याकरणों में समुच्चयबोधक के दो भेद किए गए हैं—संयोजक, विभाजक।[16] वास्तव में यह दोनों प्रकार वाक्य-पृथक्करण के विचार से किए गए हैं। 'वाक्य-विन्यास' में इनसे विशेष सहायता प्राप्त होती है। यह वर्गीकरण प्रयोग की प्रकृति विशेष की ओर संकेत करने में तनिक भी सुविधा नहीं पहुंचाता। इस कारण यहां पर कबीर-काव्य में प्रयुक्त सभी समुच्चयबोधक अव्ययों के विभिन्न

---

१. सा० १-१४-१ २. ४६-६ ३. ३९-१०
४. ६७-३ ५. सा० १-२-२ ६. सा० १-२-१
७. सा० १२-१०-२ ८. सा० ४-१-२ ९. ३८-३
१०. ९६-४ ११. सा० १५-५०-२ १२. सा० १-३२-२
१३. र० १७-७ १४. २६-११ १५. १५४-४
१६. हिं० व्या०—का० प्र० गु०—पृ० १६८

रूप एक ही साथ व्यवहृत किए जा रहे हैं—

अरु— राहु केतु अरु नवग्रह नाचैं ।[१]

औ—मूवा बैद औ रोगी ।[२]

और— कोई कहै धरम सब साधे और बरत सब कीन्हां ।[३]

कि—किबा जोग कि भोग ।[४]

किबा—किबा होइम होइ ।[५]

कै—कै सेवा करि साध की ।[६]

जउ—जउ सहज न मिलिऔ सोइ ।[७]

जउ-तउ— जउ मैं बउरा तउ रांम तोरा ।[८]

जउ-तौ—जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ तौ मोहिं मुकुति बतावहु ।[९]

जे-तौ—जे तूं बाभन बभनीं जाया । तौ आंन बाट होइ काहे न आया।[१०]

जौ – जौ रांम न करै सहाइ ।[११]

जौ-त—जौ सिर जाइ त जाव ।[१२]

जौ-तौ— जौ हारौं तौ हरि सवां ।[१३]

ज्यौं-त्यौं—ज्यौं संपै त्यौं बिपति है ।[१४]

ज्यौं ज्यौं-त्यौं त्यौं —ज्यौं ज्यौं हरि गुन सांभलौं,
त्यौं त्यौं लागै तीर ।[१५]

धूं~धौं

नंद कहौ धूं काकौ रे ।[१६]

सो बैकुंठ कहौ धौं कैसा ।[१७]

नातर~नातरु

नातर पिया न जाइ ।[१८]

नातरु था बेगांनां ।[१९]

पर~परि

भगति जाउ पर भाव न जइयौ ।[२०]

जनम गयौ परि हरि न कह्यौ ।[२१]

---

१. १४-३ २. १०५-४ ३. १६५-११
४. १०-११ ५. १०-६ ६. सा० १५-२०-२
७. ७२-१० ८. १८६-१ ९. ५४-३
१०. १८२-३ ११. सा० ८-३-१ १२. सा० १४-२१-२
१३. सा० १४-२१-१ १४. ८२-७ १५. सा० १४-२२-१
१६. १५४-१ १७. ५४-२ १८. सा० १४-३४-२
१९. १३४-२ २०. ८८-६ २१. ८३-२

पै—फल मीठा पै तरवर ऊंचा ।[1]
रु – नाद (अ)रु बिंद समानां ।[2]
सु—सहजैं होइ सु होइ रे ।[3]

२.७.४ **विस्मयादिबोधक**—

ध्रिग—ध्रिग जीवन संसार ।[4]
हा हा—हा हा करते ते मुए ।[5]

---

१. १४६-१ २. १८१-५ ३. १५६-८
४. सा० १५-४०-१ ५. सा० १६-२३-२

२.८ बलात्मक रूप

२.८.० कबीर के काव्य में तीन प्रकार के बलात्मक रूप प्रयुक्त हुए हैं :—

(१) अवधारणात्मक—'तो,' 'तौ'

(२) समावेशित रूप—'भी'

(३) प्रतिबन्धित रूप—'ही'

२.८.१ अवधारणात्मक—'तो,' 'तौ'

'तो'—(सर्व०)—मैं तो तुम्हारी दासी हो सजनां।[1]

'तौ'—(सर्व०)—हंम तौ एक एक करि जांनां।[2]

२.८.२ समावेशित रूप—'भी'

(क) 'भी' रूप

(सं०)—रैंनि गई मत दिनु भी जाइ।[3]

(सर्व०)—सो भी देखि डरी।[4]

जागै साध तौ मैं भी जागूं।[5]

(क्रि०)—आवहिं जूठै जाहिं भी जूठै।[6]

रोवन हारे भी मुए।[7]

(ख) 'भी' के स्थान पर 'हुं', 'हूं', 'हू', 'ऊ', 'औ' का प्रयोग भी हुआ है—

'हुं'—(सर्व०)— तेरी गति किनहुं न पाई।[8]

(क्रि० वि०)—अबहिं न माता सु कबहुं न माता।[9]

'हूं'—(सं०)—रावन हूं तैं अधिक छत्रपति।[10]

(सर्व०)—मृत्यु काल किन हूं न देखा।[11]

(वि०)—एक ही दादुल खायौ पांचहूं भुवंगा।[12]

(क्रि०)— भागां हूं छांड़ै नहीं, भरि भरि मारै बांन।[13]

---

१. १५-८ | २. ७६-१ | ३. ७०-१
४. २-५ | ५. ३५-३ | ६. १६८-४
७. सा० १६-२३-१ | ८. ८५-४ | ९. १९०-७
१०. ७३-६ | ११. १२-२ | १२. १३७-७
१३. सा० ३१-४-२

(क्रि० वि०)—उछकि न कबहूं जाई ।[१]

'हू'—(सं०)—पांनीं हू तैं पातरा ।[२]

(वि०)—नौ हू मूवा दस हू मूवा मूवा सहस अठासी ।[३]

'ऊ'—(सर्व०)—तेऊ उतरि पारि गए रांम नांम लीन्हें ।[४]

'औ'—(वि०)—मन रे सर्‌यौ न एकौ काज ।[५]

२.८.३ प्रतिबन्धित रूप—'ही'

(क) 'ही' रूप

(सं०)—घट ही मैं बोलै ।[६]

(सर्व०)—तुम ही तैं मेरौ निस्तार ।[७]

(वि०)—एकै पवग एक ही पांनीं ।[८]

(क्रि०)—गुर परसादि जीवत ही मरै ।[९]

(क्रि० वि०)—संत सदा ही पाहीं ।[१०]

(ख) 'ही' के स्थान पर 'हिं', 'हीं,' 'ईं,' 'ई', 'ऐ' का प्रयोग भी हुआ है—

'हिं—(सर्व०)—अपनैं रूप कौं आपहिं जांनैं ।[११]

(क्रि० वि०)—दूरहिं तैं दीसंत ।[१२]

'हीं'—(सर्व)—तिनहीं परम पदु पाया ।[१३]

(क्रि० वि०)—जबहीं मारा खैंचि करि ।[१४]

'ईं—(क्रि० वि०)—इहईं रहीमां रांमां ।[१५]

'ई'—(सर्व०)—कहै कवीर तेई जन सूचे ।[१६]

कबीर सोई मारिऐ ।[१७]

'ऐ'—(सर्व०)—आपै भया करता ।[१८]

(वि०)—या तन की इहै बड़ाई ।[१९]

(क्रि० वि०)—काल खड़ा सिर ऊपरै ।[२०]

---

१. ५६-८ २. सा० २६-३-१ ३. १०५-७
४. २०-६ ५. ८६-१ ६. ३-८
७. ४५-४ ८. ७६-३ ९. ७१-७
१०. ३३-५ ११. ११६-२ १२. सा० ४-२६-१
१३. ३२-६ १४. सा० २-३५-१ १५. १७७-१२
१६. १९२-८ १७. सा० १५-३५-१ १८. सा० ३०-२५-१
१९. ६८-५ २०. सा० १६-२८-२

२.९ पुनरावृत्ति

२.९.० कबीर-काव्य में शब्दों की पुनरावृत्ति का आधिक्य है। पुनरावृत्ति कहीं तो बलात्मक अभिव्यक्ति के लिए की गई है. जैसे — उठि उठि, लिखि लिखि आदि तथा कहीं इत्यादि और निरन्तरता के भाव को व्यक्त करने के लिए की गई है, जैसे—

इत्यादि—उरझि पुरझि; पातैं पातैं आदि।

निरन्तरता—नितनित, बारबार आदि।

केवल सम्बन्धबोधक शब्दों को छोड़कर सभी प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। क्रिया के कृदन्ती रूपों की पुनरावृत्ति सबसे अधिक की गई है। कृदन्ती रूपों में भी पूर्वकालिक कृदन्तों की पुनरावृत्ति के रूप अधिक हैं। पुनरुक्त रूपों की संख्या के आधार पर क्रमश: कृदन्त, संज्ञा, क्रिया-विशेषण, विशेषण, सर्वनाम, समुच्चयबोधक, क्रिया तथा विस्मयादिबोधक रूपों का स्थान है। इसी क्रम से इनके उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं:—

२.९.१ कृदन्त

२.९.१.१ पूर्वकालिक कृदन्त—

उजड़ि उजड़ि,[१] उठि उठि,[२] उड़ि उड़ि,[३] करि करि,[४] कहि कहि,[५] काटि काटि,[६] खिरि खिरि,[७] गढ़ि गढ़ि,[८] चुनि चुनि,[९] जरि जरि,[१०] जोरि जोरि,[११] झखि झखि,[१२] तपाइ तपाइ,[१३] देखि देखि,[१४] दै दै,[१५] धारि धारि,[१६] नइ नइ,[१७] निहारि निहारि,[१८] पढ़ि पढ़ि,[१९] पुकारि

---

१. सा० ४-३३-१ २. ५६-३, सा० २-९-१
३. सा० २-३०-२, १९-८-१, २४-३-१
४. सा० ८-५-२, २१-१६-१, २९-१७-१, ३३-८-१ ५. सा० ३-४-१
६. ५१-४ ७. चौ० र० १-२ ८. सा० १५-६४-१
९. १६१-२, सा० १-७-२, १८-५-२ १०. सा० २४-१८-२
११. ६८-३, १६४-३ १२. चौ० र० १४-२ १३. सा० २-३२-२
१४. ८५-८ १५. सा० २९-१६-२ १६. ८५-४
१७. सा० ८-३-२ १८. सा० २-३६-१ १९. ८७-५, १६०-६

पुकारि,[1] पूजि पूजि,[2] बहि बहि,[3] बिगरि बिगरि,[4] बिचारि बिचारि,[5] बुझाइ बुझाइ,[6] भरि भरि,[7] भ्रमि भ्रमि,[8] मरि मरि,[9] मलि मलि,[10] मुचि मुचि,[11] मुसि मुसि,[12] रचि रचि,[13] रहि रहि,[14] रोइ रोइ,[15] लदाइ लदाइ,[16] लिखि लिखि,[17] लूंचि लूंचि,[18] लै लै[19], सुनि सुनि,[20] हंसि हंसि,[21] हक्क हक्क करि,[22] हरखि हरखि,[23] होइ होइ ।[24]

२.६.१.२ वर्तमानकालिक कृदन्त —

चलत चलत,[25] जरत जरत,[26] निरखत निरखत,[27] पढ़त पढ़त,[28] बोलत बोलत,[29] भ्रंमत भ्रंमत,[30] हसंत हसंत,[31] हेरत हेरत ।[32]

२.६.१.३ अपूर्ण क्रियाद्योतक—

चलते चलते,[33] मरतां मरतां ।[34]

२.६.१.४ भूतकालिक कृदन्त —

फूला फूला,[35] फूली फूली ।[36]

---

१. ६३-१२, सा० २-३६-२ २. ८५-३ ३. सा० ३०-४-२
४. १६६-३, ४, ५, ६ ५. सा० २-१३-२ ६. सा० २-३७-२
७. ६५-२, १०६-३, सा० ३१-४-२ ८. सा० १-२६-१
९. सा० ३१-२७-१ १०. १०४-३, सा० ९-३३-१, १२-७-१
११. ६४-४ १२. १२-३, १२९-५ १३. ६२-६
१४. सा० २-४१-२ १५. सा० २-२३-२ १६. सा० १०-३-२
१७. ६६-६, सा० २-२१-२ १८. ८५-६ १९. १६८ ५, १८१-१
२०. १४४-६ २१. सा० २-३८-१ २२. १८३-७
२३. सा० ७-१०-२ २४. सा० २९-१३-२ २५. र० १३-१
२६. र० १८-६,७ २७. चौ० र० २५-२ २८. १७८-२
२९. ६१-२, ३ ३०. १५४-३
३१. सा० २३-२-१, ३०-१२-२ ३२. सा० ८-६-१
३३. सा० १०-६-२ ३४. सा० १९-१-१ ३५. ८३-४
३६. सा० १६-३४-२

२.६.२ संज्ञा

२.६.२.१ जातिवाचक—

आगि आगि,[१] कौड़ी कौड़ी,[२] घट घट[३]~घटि घटि,[४] घड़ी घड़ी,[५] घर घर[६] ~घरि घरि,[७] छिन छिन,[८] जन जन,[९] जनम जनम[१०]~जनमि जनमि,[११] जुग जुग[१२]~जुगन जुगन,[१३] टुक टुक,[१४] टूक टूक,[१५] डार डार[१६]~डारी डारी,[१७] दिन दिन[१८] देवलि देवलि,[१९] नगरी नगरी,[२०] पंडित पंडित,[२१] परबति परबति,[२२] पल पल,[२३] पाती पाती[२४]~पातैं पातैं[२५] पिउ पिउ,[२६] पुरिजा पुरिजा,[२७] बड़ बड़,[२८] बन बन,[२९] बारी बारी,[३०] बिरहा बिरहा,[३१] रोम रोम,[३२] लीर लीर[३३]।

२.६.२.२ व्यक्तिवाचक—

कबीर कबीर,[३४] गोरख गोरख,[३५] रांम रांम,[३६] सहज सहज।[३७]

२.६.२.३ भाववाचक—

पियास पियास,[३८] रुचि रुचि।[३९]

२.६.३ क्रियाविशेषण—

आगैं आगैं,[४०] ऊपरि ऊपरि,[४१] झिरमिर झिरमिर,[४२] धीरै धीरै,[४३] नित

---

१. सा० ३०-११-२ २. सा० १५-८-२
३. १५५-१७, सा० २७-२-२
४. १४१-४, चौ० र० ६-१, सा० ७-१-२, २६-१३-१
५. ४१-२ ६. ६७-७, सा० १५-१२-१
७. सा० १-२६-२ ८. चौ० र० १२-२, सा० २-२५-१
९. सा० ११-४-२, १८-८-१ १०. १८८-७ ११. ८९-७
१२. १६०-८ १३. १४५-७ १४. सा० १६-११-१
१५. सा० २६-११-१ १६. ७५-७ १७. सा० ६-६-२
१८. सा० २६-१०-२, ३१-१३-१ १९. सा० २-६-२
२०. १५५-११ २१. सा० २१-११-२ २२. सा० २-२४-१
२३. ९८-५, सा० १६-११-१ २४. १८७-३ २५. सा० ६-६-२
२६. सा० २-४८-२, ३-१५-१, १७-७-२ २७. सा० १४-१२-२
२८. सा० १६-१४-२ २९. ७५-३, सा० ४-४३-१ ३०. सा० १६-८-१
३१. सा० २-१६-१ ३२. सा० २२-१६-२ ३३. सा० २४-१७-२
३४. सा० १९-१०-२ ३५. १२८-९ ३६. सा० २८-१-१
३७. सा० ३४-१-१, ३४-२-१ ३८. १५-२, सा० ११-९-१
३९. १२१-२, १९६-६ ४०. सा० १३-१-१ ४१. सा० १५-६७-२
४२. सा० २२-६-१ ४३. सा० १०-१२-२

नित,[1] नीठि नीठि,[2] फिर फिर[3]~फिरि फिरि,[4] फुनि फुनि,[5] वार वार,[6] बिलगि बिलगि,[7] सहजि सहजि[8]~सहजैं सहजैं[9]।

२.६.४ **विशेषण**—

थिर थिर,[10] धंनि धंनि,[11] निरमल निरमल,[12] न्यारे न्यारे[13]~न्यारौ न्यारौ,[14] भलो भलो,[15] भांति भांति,[16] हरुए हरुए[17]
जत जत,[18] सगुरा सगुरा[19]
एक एक[20]
जिहिं जिहिं[21]।

२.६.५ **सर्वनाम**—

मैं मैं,[22] मेरी मेरी,[23] तूं तूं,[24] अपनीं अपनीं[25]~अपनैं अपनैं[26]
आपु आपु[27], जिन जिन[28]~जिनि जिनि[29]
को को[30]।

२.६.६ **समुच्चयबोधक**—

जहं जहं···तहं तहं,[31] जिहिं जिहिं···तहं तहं,[32]
ज्यौं ज्यौं···त्यौं त्यौं[33]।

२.६.७ **क्रिया**—

चलि चलि[34]।

---

१. ८४-५ २. चौ० र० १७-१ ३. १४७-६
४. ३६-६, सा० ७-६-२ ५. ४०-६ ६. २६-७, ६६-१ ७५-३, १४७-५, सा० १५-४८-२
७. ५३-२ ८. ३७-५, ३१-२ ६. सा० ३४-३-१
१०. सा० १६-२५-१ ११ ५-६ १२. ३०-१
१३. ६१-३ १४. १७६-१ १५. सा० १५-३५-२
१६. सा० ३२-२-१ १७. सा० १५-२७-२ १८. १८६-२
१६. सा० २२-१०-२ २०. ७६-१, १८३-६ २१. सा० ८-३-२
२२. सा० १५-७१-१ २३. ६५-६, ७१-३,४,८३-१ २४. सा० ३-६-१
२५. सा० ५-२-२ २६. ६१-३ २७. र० १७-१०
२८. १०४-६ २६. सा० २१-१३-१ ३०. ४३-४
३१. सा० ४-८-२ ३२. सा० १६-७-२
३३. सा० १४-२२-१, १६-२५-२, १८-८-२ ३४. ७५-१

२.६.८ विस्मयादिबोधक—

हा हा[१]।

२. ६.६ कबीर-काव्य में कुछ उदाहरण ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिनमें तीन बार आवृत्ति की गई है। इस प्रकार के उदाहरण केवल कृदन्त और संज्ञा रूपों के ही हैं। यथा

२.६.६.१ कृदन्त—टेढ़े टेढ़े टेढ़े[२]

फूले फूले फूले[३]

२.६.६.२ संज्ञा—रांम रांम रांम[४]

२.६.१० इन पुनरुक्त रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की पुनरावृत्ति के उदाहरण भी कबीर के काव्य में हैं जिन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित करके प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(१) जिन पुनरुक्त रूपों में एक का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है दूसरा या पहला उसी के आधार पर निर्मित प्रतिध्वन्यात्मक रूप है। यथा—

आल जाल,[५] उरझि पुरझि,[६] काछि कूछि,[७] काट कूट,[८] खोद खाद,[९] टालै टूलै[१०]

(२) जिन पुनरुक्त रूपों में एक का ही परिवर्तित रूप दोबारा प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

देखा देखी,[११] पखा पखी,[१२] पढ़े पढ़ि[१३] फिरि फिर,[१४] बड़े बड़ों,[१५] मरे मरि,[१६] मुहैं मुहिं,[१७] लुभुकी लुभुकि,[१८] हाटै हाटि[१९]

(३) जिन पुनरुक्त रूपों में दोनों का अर्थ ग्रहण किया जाता है—

जाति पांति,[२०] जरि बरि,[२१] हिलमिल[२२]~हिलिमिलि[२३]

(४) जिन पुनरुक्त रूपों में रूपात्मक परिवर्तन हो जाता है या मध्य में कोई प्रत्यय जुड़ जाता है—

---

१. सा० १६-२३-२ २. ६६-१ ३. ६८-१
४. १६८ १ ५. २६-४ ६. सा० २१-४-२
७. ८६-७ ८. सा० ४-२५-१ ९. सा० ४-२५-१
१०. सा० १६-१५-१ ११. सा० २४-१२-१ १२. सा० २०-७-१
१३. ८५-८ १४. ८४-६ १५. सा० १५-६८-२
१६. सा० ३१-१२-१ १७. सा० २१-६-२ १८. १६५-४
१९. सा० १९-३-२ २०. सा० १०-१४-१ २१. सा० ३०-१७-२
२२. सा० ७-४-२ २३. ३३-३

अंगहिं अंग,[१] आपहिं आप,[२] एकमेक,[३] कुसलहिं कुसल,[४] चेत सुचेत,[५] थाहतथाह,[६] धूमांधांम,[७] बारंबार[८]~बारंबारा,[९] मेर सुमेर,[१०] रांमहि रांम[११]।

२.६.११ विभिन्न रूपों की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त वाक्यों की पुनरावृत्ति के उदाहरण भी कबीर के काव्य में हैं। वाक्यों की पुनरावृत्ति के उदाहरण निम्न हैं :—

नांम (रांम ?) भजा सोइ जीता जग में।
नांम (रांम ?) भजा सोइ जीता रे।[१२]
रांम सुमिरि रांम सुमिरि रांम सुमिरि भाई।[१३]
हरि रंग लागा हरि रंग लागा।[१४]

---

१. १६०-८ २. १०-४ ३. १३-४
४. १०२-३ ५. ८०-६ ६. सा० ९-३३-२
७. सा० २१-१३-२ ८. ३१-४ ९. ७२-२
१०. १५७-७ ११. सा० ३३-६-१ १२. ९४-१,२
१३. २०-१ १४. १६-१

३. वाक्य-विचार

३.० 'वाक्य' ही भाषा का आधार है। इसका स्पष्ट रूप गद्य में दृष्टिगत होता है, अतः गद्य में वाक्य विन्यास सम्बन्धी प्रवृत्ति यां अधिक सरलता तथा पूर्णता से निर्धारित की जा सकती हैं। पद्यात्मक रचनाओं में छन्द की आवश्यकता तथा कवि-स्वातंत्र्य के कारण इस प्रकार की प्रवृत्तियों को निश्चित करना अत्यधिक कठिन है। गद्यात्मक रचनाओं की अपेक्षा उनमें परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। कबीर-साहित्य का रूप पद्यात्मक ही है अतः यह कठिनाई यहां भी विद्यमान है।

विभिन्न व्याकरणशास्त्रियों ने वाक्य-विन्यास सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विभिन्न वर्गों में विभाजन करके उल्लेख किया है। कहीं तो उन्हें विश्लेषणात्मक (Analytic)—जिसमें संज्ञा, सर्वनाम आदि विभिन्न शब्द रूपों में वचन, वाच्य तथा काल आदि के अनुसार परिवर्तन वर्णित है—तथा संश्लेषणात्मक (Synthetic)—जिसमें वाक्यगठन तथा पद-क्रम वर्णित है—रूप में वर्गीकृत किया गया है[1] और कहीं अन्वय, भाव, गठन[2] अथवा अन्वय, शब्द-क्रम तथा सामान्य[3] कहकर विभाजित किया गया है। इन सभी को ध्यान में रखते हुए कबीर के काव्य के अन्तर्गत वाक्य सम्बन्धी जो विशेषताएं निश्चित की जा सकती हैं उन्हें पद क्रम (Word-Order), अन्वय (Concord), लोप, गठन और भाव इन पांच शीर्षकों में रखा जा सकता है।

३.१ **पद-क्रम**—वाक्य में पदों की स्थिति का निश्चित विवरण नहीं दिया जा सकता बलात्मक, निषेधात्मक आदि रूपों में पद-क्रम बदलता रहता है। हिन्दी की प्रमुख बोलियों में पद-क्रम सम्बन्धी प्रवृत्तियों में अन्तर नहीं है। अतः यहां विवेचन में साहित्यिक खड़ी बोली का आधार ग्रहण किया गया है। साहित्यिक खड़ी बोली में पद क्रम सम्बन्धी प्रमुख तीन बातें उल्लेखनीय हैं[४]—

---

1. G. H. L. K, P. 384
2, Sanskrit Syntex, Dr. J. S. Speijer, p. VIII-IX
3. A Basic grammar of Modern Hindi, Government of India, p. 121-130
४. साहित्यिक खड़ी बोली के पद-क्रम सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—
 (1). Concise Grammer of Hindi language, H. C. Scholberg, p. 139
 (२) हिं० व्या०—का० प्र० गु०, पृ० ४६१।

(क) साधारणतया कर्त्ता, कर्म तथा अन्त में क्रिया रहती है।

(ख) उद्देश्यात्मक विशेषण संज्ञा, सर्वनाम से पूर्व तथा विधेयात्मक विशेषण उसके पश्चात आता है।

(ग) क्रिया-विशेषण क्रिया से पूर्व आता है।

कबीर के काव्य में पद-क्रम सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता अपनाई गई है। इस क्रम-परिवर्तन से अर्थ में कहीं भी भेद नहीं पड़ा है यही कबीर का कौशल है। कबीर के काव्य में किए गए इस क्रम-परिवर्तन को—उद्देश्य-विधेय सम्बन्धी. विशेषण-विशेष्य सम्बंधी, अव्यय सम्बन्धी तथा परसर्ग सम्बन्धी इन चार दृष्टियों से देखा जा सकता है।

३.१.१ **उद्देश्य-विधेय सम्बन्धी**—

(१) सामान्यतया साखियों की प्रथम पंक्ति के पूर्व अंश में गद्य के सदृश्य प्रयोग किया गया है तथा पदों की पहली पंक्ति की भी यही स्थिति है अर्थात् कर्त्ता, कर्म, क्रिया।

जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ।[१]
नां गुर मिला न सिख मिला;[२]
मोहिं तोहिं लागी कैंसै छूटै। जैसै हीरा फोरे न फूटै॥[३]

(२) कभी क्रिया पहले भी आ गई है—

देखौ करम कबीर का,[४]

(३) सामान्यतया संयुक्त क्रिया का पूर्व अंश पहले तथा उत्तर अंश बाद में—

उठि गया हाकिम लुटि गया डेरा।[५]

(४) कहीं उत्तर अंश पूर्व तथा पूर्व अंश बाद में --

फिरि पाछैं पछिताहुगे प्रांन जाहिंगे छूटि।[६]

(५) कहीं कहीं संयुक्त क्रिया के दोनों अंश एक दूसरे से दूर रख दिए गए हैं—

कवन काजि जगु उपजै बिनसै कहहु मोहिं समझाई।[७]

(६) सहायक क्रिया कृदन्त के पश्चात—

एकैं तैं सब होत है,[८]

---

१. ५४-३ २. सा० १-१७-१ ३. १८-१,२
४. सा० ६-२२-१ ५. ६५-८ ६. सा० ३-३-२
७. १३२-४ ८. सा० ११-११-२

(७) कहीं सहायक क्रिया वाक्य के प्रारम्भ में है—

है कोई ऐसा पर उपगारी[1]

३. १.२ विशेषण-विशेष्य सम्बन्धी—

उद्देश्यात्मक विशेषण संज्ञा से पूर्व तथा विधेयात्मक विशेषण संज्ञा के पश्चात आया है—

(१) उद्देश्यात्मक विशेषण—

साकत काली कामरी,[2]

कुटिल गांठि सब खोलै (देव)।[3]

(२) विधेयात्मक विशेषण—

रांम पियारा छांड़ि करि,[4]

लै सूती अपनां पिय प्यारा॥[5]

विधेयात्मक विशेषण के प्रयोग की प्रवृत्ति कबीर-काव्य में अधिक है। इस प्रकार के प्रयोग में अर्थ की दृष्टि से विशेषण पर बल देना कवि का उद्देश्य रहा है।

३. १.३ अव्यय सम्बन्धी—

(क) क्रियाविशेषण—

(१) क्रियाविशेषण प्रायः क्रिया से पूर्व

नां कतहूं चलि जाइए,[6]

(२) कभी कर्त्ता के पूर्व वाक्यांश के प्रारम्भ में—

तहं मैं चलि कै जाऊं जी।[7]

(३) कभी क्रिया के पश्चात भी—

बिरह बजावै नित्त।[8]

(४) 'न' के अतिरिक्त शेष निषेधात्मक क्रियाविशेषण सामान्यतः क्रिया के पूर्व —

बिन सतगुर नहिं पाइए।[9]

नां जांनौं को पियहिं पियारी।[10]

---

१. १३-७ २. सा० ४-३४-२ ३. ३१-३
४. सा० ३-२०-१ ५. ६-४ ६. १०-७
७. ४-१ ८. सा० २-१७-१ ९. ३-८
१०. ८-४

(५) 'न' के विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता अपनाई गई है। निषेधात्मक वाक्यों में जिस शब्द पर बल देना होता है वहीं उस शब्द के साथ 'न' का प्रयोग किया गया है—

दिवस न भूख रैंनि नहिं निद्रा।[१]
भाई न बंध माय नहीं बाप।[२]

(ख) सम्बन्धबोधक—

(१) सम्बन्धबोधक अव्यय प्रायः परसर्ग के पश्चात—

माया के आधीन।[३]

(२) कहीं संज्ञा या सर्वनाम शब्द के पश्चात—

तब कौड़ी बदलै जाइ।[४]

यहां परसर्ग लोप होने के कारण यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

(ग) समुच्चयबोधक—

(१) समुच्चयबोधक अव्यय प्रायः गद्य सदृश्य प्रयुक्त किए गए हैं—

जौ हारौं तौ हरि सवां।[५]

(२) किन्तु कहीं इस क्रम में परिवर्तन किया गया है—उत्तर रूप पूर्व के स्थान पर रखा गया है—

तब लगि प्रांनीं तिसै सरेवहु जब लगि घट महिं सांसा।[६]

(घ) विस्मयादिबोधक—

विस्मयादिबोधक शब्द वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त किए गए हैं—

हा हा करते ते मुए।[७]

३. १. ४ **परसर्ग सम्बन्धी**—

(१) परसर्ग सामान्यतः संज्ञा या सर्वनाम शब्दों के पश्चात प्रयुक्त किए गए हैं—

हरि कौं भजै न कोइ।[८]
जैसी मुख तैं नीकसै।[९]
भौसागर मैं बूड़ते।[१०]

(२) सम्बोधनकारक पूर्वसर्ग संज्ञा या सर्वनाम शब्दों के पूर्व रखे गए हैं—

हौं तोहिं पूछौं हे सखी।[११]

---

१. १५-६ २. १२३-७ ३. सा० ३१-२२-२
४. सा० १८-७-२ ५. सा० १४-२१-१ ६. ८८-५
७. सा० १६-२३-२ ८. सा० १४-३८-२ ९. सा० ३३-९-१
१०. सा० ५-३-२ ११. १४-३७-१

(३) कभी-कभी संज्ञा या सर्वनाम शब्दों से दूर वाक्य के अन्त में भी प्रयुक्त किए गए हैं—

बालम आउ हमारै ग्रेह रे।[१]

पंक्ति के अन्त में लय तथा तुक के लिए इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, इनमें सम्बोधन का भाव भी विद्यमान है।

३. २ **अन्वय** (Concord)—कबीर-काव्य में अन्वय सम्बन्धी विशेषताएं निम्न शीर्षकों में रखकर प्रस्तुत की जा सकती हैं—

कर्त्ता और क्रिया का अन्वय।
कर्म और क्रिया का अन्वय।
विशेषण और विशेष्य का अन्वय।
सम्बन्धकारक परसर्ग और सम्बद्ध संज्ञा का अन्वय।

३. २. १ कर्त्ता और क्रिया का अन्वय—

(१) क्रिया के लिंग, वचन कर्त्ता के अनुसार होते हैं—

प्रेमीं ढूंढ़त मैं फिरूं;[२]
जीव अछित जोबन गया;[३]
दोऊ कैं गलि परि गई पासी;[४]
सुनत सुनावत दिन गए;[५]

(२) एक से अधिक कर्त्ता होने पर क्रिया बहुवचन में होती है—

सीस चरन कर कंपन लागे;[६]

(३) भक्त कवि होने के कारण राम, गुरु या उससे सम्बद्ध शब्दों को कबीर ने आदरार्थ प्रयुक्त किया है। इस प्रकार के शब्दों का जहां कर्त्ताकारक में प्रयोग है वहां क्रिया बहुवचन में है—

बहुत दिनन मैं प्रीतम आए;[७]
हंम घरि आए राजा रांम भरतार।[८]

३. २. २ कर्म और क्रिया का अन्वय—

वाक्य में कर्म परसर्ग सहित और रहित दोनों रूपों में प्रयुक्त होता है। दोनों रूपों में क्रिया की स्थिति भिन्न है।

(१) यदि कर्म परसर्ग रहित हो तो क्रिया के लिंग, वचन कर्म के अनुसार

---

१. १३-१ २. सा० ५-१०-१ ३. ३९-७
४. १९३-४ ५. सा० २२-६-१ ६. ८३-७
७. ६-१ ८. ५-२

होंगे—

तिनहीं परम पदु पाया;[1]
सतिगुर तैं सुधि पाई।[2]

(२) यदि कर्म परसर्ग सहित हो तो क्रिया के लिंग, वचन कर्त्ता के अनुसार होंगे—

कूता कौं लै गई बिलाई।[3]
या देही कौं लोचैं देवा।[4]
सबकौं बूझत मैं फिरूं।[5]

वास्तव में इनमें आधुनिक हिन्दी की एक अन्य प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। कर्त्ता कारक की विभक्ति का विकास तो कबीर के बाद का है किन्तु अर्थ में 'ने' तब भी जोड़ा जाता था। इन उदाहरणों में कर्त्ता कारक के रूप के साथ जहां 'ने' अर्थ में जोड़ा जाएगा वहां क्रिया कर्म के अनुसार है, जहां नहीं जोड़ा जाएगा वहां क्रिया कर्त्ता के अनुसार। इन उदाहरणों में दोनों प्रवृत्तियां दृष्टिगत होती हैं।

३. २. ३ विशेषण और विशेष्य का अन्वय—

सार्वनामिक विशेषण का लिंग, वचन विशेष्य के अनुसार होता है—

अैसा तत्त अनूप;[6]
अैसी नगरिया मैं केहि बिधि रहनां;[7]
अैसे लोगनि सौं का कहिए;[8]

३. २. ४ सम्बन्धकारक परसर्ग और सम्बद्ध संज्ञा का अन्वय—

(१) सम्बन्धकारक परसर्ग सम्बद्ध संज्ञा के लिंग, वचन के अनुसार होता है। खड़ीबोली के सम्बन्धकारक परसर्ग के उदाहरण निम्न हैं—

लंका का सिकदार;[9]
वाकी बिधवा कस न भई महतारी;[10]
जैसैं बहु कंचन के भूखन;[11]

(२) अवधी के सम्बन्धकारक परसर्गों की भी यही अवस्था है—

---

१. ३२-६ २. ५६-७ ३. ११६-४
४. ६३-४ ५. सा० १०-१५-१ ६. सा० ७-७-२
७. ९५-१ ८. १६७-१ ९. सा० १५-६४-२
१०. ६४-३ ११. ५७-५

सुख कर मूल;[१]
बेस्वा केरा पूत ज्यौं;[२]
कागद केरी नाव री;[३]
करता केरे बहुत गुन;[४]
इंद्री केरै स्वादि ।[५]

३. ३ लोप – कबीर-काव्य में प्राप्त इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत परसर्ग-लोप, क्रिया-लोप, समुच्चयबोधक-लोप तथा संज्ञा शब्द-लोप लिया जा सकता है—

३. ३. १ परसर्ग-लोप— कर्त्ता कारक के लिए तो कोई परसर्ग प्रयुक्त ही नहीं किया गया है ।[६] जैसे—मैं रांम बिसार्यौं ।[७] जिअरे जाहिगा मैं जांनां ।[८] हौं भया उदास ।[९] अन्य कारकों में से कर्म, करण, सम्बन्ध और अधिकरण की विभक्ति का लोप कबीर-काव्य में है—

कर्मकारक—**कर गहि केस करै** जौ घाता ।[१०]

करणकारक – गूंगा हूआ बावरा, बहरा हुआ **कांन** ।[११]

करणकारक परसर्ग लोप के इस प्रयोग में अर्थ के कारण अन्तर हो सकता है। ऐसा लोप वहीं है जहां इस प्रकार अर्थ-भेद सम्भव है ।

सम्बन्धकारक—गुर जौ बसै बनारसी सीख **समुंदर तीर** ।[१२]

अधिकरणकारक—चरन **कमल चितु** रह्यौ समाई ।[१३]

३. ३. २ क्रिया-लोप—

(१) **सहायक-क्रिया-लोप**—वर्तमानकालिक और भूतकालिक दोनों प्रकार की सहायक क्रियाओं का लोप कबीर-काव्य में हुआ है। अनुपात की दृष्टि से वर्तमानकालिक का अधिक लोप हुआ है—

(क) वर्तमानकालिक सहायक-क्रिया लोप—

बासुरि सुख नां रैंनि सुख नां सुख सुपिनैं मांहिं ।[१४]

(ख) भूतकालिक सहायक-क्रिया लोप—

जब मैं था तब हरि नहीं ।[१५]

---

१. र० १२-३ २. सा० ३-२०-२ ३. सा० २९-१८-१
४. सा० ६-५-१ ५. सा० ३०-१४-१
६. प्रस्तुत प्रबन्ध—'परसर्ग' शीर्षक—पृ० १०४
७. १३५-१ ८. १८६-१ ९. २७-५
१०. ३७-४ ११. सा० १-१२-१ १२. सा० २-२७-१
१३. २४-२ १४. सा० २-१५-१ १५. सा० ९-१-१

(२) **मुख्य क्रिया-लोप**—इस प्रकार का प्रयोग सामान्यतः उन स्थानों पर हुआ है जहां एक से अधिक संज्ञा शब्दों के लिए एक ही क्रिया का प्रयोग किया गया है जबकि वहां अनेक क्रियाओं का प्रयोग सम्भव था। इस प्रकार का लोप आधुनिक हिन्दी में भी है। यह भावपूर्ण तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति का रूप है। यथा—

राहु केतु अरु नवग्रह नाचैं।[1]

३.३.३ **समुच्चयबोधक-लोप**—कबीर-काव्य में तीन प्रकार के समुच्चय-बोधक अव्ययों का लोप मिलता है :—

(१) कभी उत्तर अंश (जैसे—तब आदि) का लोप होता है—

जब दासी भई खाक बराबरि (तब) साहिब अंतर खोला।[2]

(२) कभी पूर्व अंश का लोप होता है—

(जौ) मरै तौ पल भरि रहन न पावै।[3]

(जौ) सांच कहौं तौ कोई न मांनैं।[4]

(३) सामान्यतः 'और' 'कि' आदि शब्दों का लोप—

कहै कबीर (कि) मुवा नहिं सोई।[5]

घट ही भीतरि तारा मंडल(अरु) घट भीतरि रवि चंदा।[6]

३.३.४ **संज्ञा शब्द-लोप**—कबीर ने दोहों की रचना की है। यह प्रवृत्ति दोहे जैसे छोटे छन्द के अनुकूल होती है फिर भी कबीर में इस प्रकार के उदाहरण बहुत ही कम हैं। यथा—

जबहीं मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जांनि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांनि।[7]

इसमें जो खैंचकर मारा गया उस संज्ञा शब्द का पूरे दोहे में ही लोप है।

३.४ **गठन**—गठन के आधार पर वाक्यों के कितने प्रकार होते हैं इस विषय में व्याकरण-शास्त्रियों में मतभेद है। कामताप्रसाद गुरु ने तीन प्रकार के वाक्य दिए हैं—साधारण, मिश्र, संयुक्त।[8] दुनीचंद ने प्रथम और तृतीय को तो उसी रूप में स्वीकार किया है 'मिश्र' के विषय में संशोधन प्रस्तुत किया।[9] उन्होंने 'जटिल' नाम दिया है और 'मिश्र' उसके साथ कोष्ठ में रख दिया है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सन् १९५८ में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया से आधुनिक हिन्दी का जो प्रार-

---

१. १४-३ २. १६-४ ३. ६२-२
४. ९०-७ ५. १०३-६ ६. १४२ ४
७. सा० २-३५-१ ८. हि० व्या०—का० प्र० गु०, पृ० ५०९
९. हि० व्या०, दुनीचंद, पृ० २६१

म्भिक व्याकरण प्रकाशित किया गया उसमें इस विषय पर प्रकाश ही नहीं डाला गया है। 'स्पाइज़र' ने संस्कृत वाक्य विन्यास पर प्रकाश डालते हुए 'आश्रित' (Subordinate) मिश्रित (Coordinate) वाक्यों की चर्चा की है।[१] इन सबसे अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण केलाग ने अपने व्याकरण में प्रस्तुत किया था[२]—उसी से मिलता जुलता आधार यहां पर ग्रहण किया गया है। वाक्य के दो प्रकार हैं—

सरल वाक्य

संयुक्त वाक्य

संयुक्त वाक्यों के दो प्रकार हैं—मिश्रित, जटिल।

३.४.१ **सरल वाक्य**—कबीर-काव्य में सर्वत्र सरल वाक्यों का ही आधिक्य है। कहीं तो केवल सम्बन्धकारक और क्रिया ही होती है—

रांम सुमिरि।[३]

कहीं सम्वोधन, अधिकरण आदि विभिन्न कारकों के साथ क्रिया आती है—

बालम आउ हमारै ग्रेह रे।[४]

३.४.२ **संयुक्त वाक्य**—कबीर में दोनों प्रकार के संयुक्त वाक्यों का प्रयोग मिलता है। अनुपात की दृष्टि से मिश्रित वाक्य अधिक हैं जटिल कम।

(क) **मिश्रित वाक्य**—मिश्रित वाक्यों में मुख्य उपवाक्य तो एक ही होता है किन्तु आश्रित उपवाक्य एक से अधिक आ सकते हैं। यह आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं—संज्ञा-उपवाक्य, विशेषण-उपवाक्य और क्रिया-विशेषण-उपवाक्य। इसे सभी व्याकरण-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है।[५] कबीर में तीनों प्रकार के आश्रित उपवाक्यों का प्रयोग मिलता है।

(१) **संज्ञा-उपवाक्य**—इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग कबीर में आधिक्य रूप में मिलता है विशेषकर पदों में। किन्तु इन वाक्यों को जोड़ने वाले 'कि' या 'जो' अव्यय का प्रायः लोप है। प्रत्येक पद की अन्तिम या अन्तिम से पूर्व पंक्ति में 'कहै कबीर' या इसी प्रकार के अन्य मुख्य उपवाक्यों का प्रयोग है जिसके बाद इसी प्रकार के संज्ञा उपवाक्यों का प्रायः प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—

कहै कबीर सोई गुर मेरा आप तिरै मोहिं तारै।[६]

रमैनियों में भी इस प्रकार के प्रयोग हैं किन्तु कम हैं—'कि' का लोप उनमें भी है—

---

१. Sanskrit syntax, Dr. J. S. Speijer; p. 337-352
२. G. H. L: K; p. 497-537
३. २०-१   ४. १३-१
५. (क) हि० व्या०, कामताप्रसाद गुरु; पृ० ५२४   ६. १३८-८
(ख) G. H. L. K; p. 515
(ग) हि० व्या०, दुनीचन्द; पृ० २६९

कहै कबीर हरि भगति बिनु, मुकुति नहीं रे मूल ।[1]

साखियों में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। साखियों की संख्या सात सौ से ऊपर है किन्तु इस प्रकार के प्रयोग तीस से अधिक नहीं मिलते जबकि पदों की संख्या दो सौ है और इस प्रकार के संज्ञा उपवाक्य एक सौ सत्तर के लगभग प्रयोग में लाए गए हैं। रमैनियों में से लगभग दस में इस प्रकार के प्रयोग हैं। साखी के संज्ञा उपवाक्य का ऐसा उदाहरण निम्न है—

कहै कबीर सो जीवता, जो दुहुं कै निकटि न जाइ ।[2]

इन संज्ञा उपवाक्यों में दो प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है—एक में मुख्य उपवाक्य पहले रखा जाता है और संज्ञा उपवाक्य बाद में, दूसरे में संज्ञा उपवाक्य पहले होता है और मुख्य उपवाक्य बाद में। पहले प्रकार के उदाहरण ऊपर उद्धृत किए गए हैं इन्हीं का प्रयोग अधिकता से किया गया है दूसरे प्रकार के प्रयोग कम हैं एक उदाहरण इस प्रकार है—

आप आपकौं काटिहै, कहै कबीर बिचारि ।[3]

(२) **विशेषण-उपवाक्य**—इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग समान ही अनुपात से साखी, रमैनी और पदों में मिलता है। यहां एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

रांम भजन नहिं करत बावरे जिनि यह जुगति बनाई ।[4]

(३) **क्रियाविशेषण-उपवाक्य**—सामान्यत: क्रियाविशेषण चार प्रकार का होता है उसी के आधार पर क्रियाविशेषण-उपवाक्य भी चार ही प्रकार के हो जाते हैं—

(अ) कालवाचक क्रियाविशेषण-उपवाक्य—

अब हंम रहलीं हठिल दिवांनीं तब पिय मुखां न बोला ।[5]

(आ) स्थानवाचक क्रियाविशेषण-उपवाक्य—

जहां साध मेरौ जस गावै तहां करौं मैं बासा ।[6]

(इ) परिणामवाचक क्रियाविशेषण-उपवाक्य—

साधू अंग न मोरहीं ज्यौं भावै त्यौं खाउ ।[7]

(ई) रीतिवाचक क्रियाविशेषण-उपवाक्य—

जैसै कंवल पत्र जल बासा। अैसै तुम साहेब हंम दासा ।[8]

(ख) **जटिल वाक्य**—जटिल वाक्य में एक से अधिक प्रधान वाक्य रहते हैं। कबीर में इस प्रकार के वाक्य मिश्रित वाक्यों से कम ही हैं। इन वाक्यों के दो विभिन्न रूप मिलते हैं:—

---

१. र० १-८ २. सा० २०-६-२ ३. सा० १५-६०-२
४. १६४-२ ५. १६-३ ६. ३५-५
७. सा० २-२-२ ८. १८-४

पूर्ण जटिल वाक्य
संकुचित जटिल वाक्य

(१) **पूर्ण जटिल वाक्य**—इस प्रकार के वाक्यों में चार प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है—संयोजक, विभाजक, विरोधदर्शक और परिमाणबोधक। कबीर-काव्य से इनके उदाहरण निम्न हैं—

संयोजक—

कोई कहै धरम सब साधे **और बरत सब कीन्हां** ।[1]

विभाजक—

गुर परसादि अकिलि भई अवरै **नातरु था बेगांनां** ।[2]

विरोधदर्शक—

भगति जाउ **पर भाव न जइयौ** ।[3]

परिणामबोधक—

अबहिं न माता **सु कबहुं न माता** ।[4]

(२) **संकुचित जटिल वाक्य**—"जब संयुक्त (जटिल) वाक्य के समानाधिकरण उपवाक्यों में एक ही उद्देश्य अथवा एक ही विधेय या दूसरा कोई एक ही भाग बार बार आता है तब उस भाग की पुनरुक्ति मिटाने के लिए उसे एक ही बार लिखकर संयुक्त (जटिल) वाक्य को संकुचित कर देते हैं।"[5] कबीर-काव्य में इस प्रकार के 'संयोजक' सम्बन्ध के आधार पर वाक्य विशेष रूप से पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति दी जा रही है—

ताहि न लिपै पुन्नि अरु पाप ।[6]

इस वाक्य का अर्थ है—'ताहि पुन्नि न लिपै' 'ताहि पाप न लिपै'।

यहां पर पुनरावृत्ति को बचाने के लिए इस जटिल वाक्य को संकुचित रूप दे दिया गया है।

---

१. १६५-११ २. १३४-२ ३. ८८-६
४. १६०-७
५. हि० व्या०—का० प्र० गु०; पृ० ५४५
६ १३०-१४

३.५ **भाव**—भाव या अर्थ के अनुसार वाक्यों के आठ भेद होते हैं।[1] इनमें से कबीर-काव्य में निम्न प्रकार के वाक्यों का विशेष रूप से प्रयोग मिलता है—

(१) सामान्य—
मेरै मन का संसै भागा।[2]

(२) निषेधवाचक—
धन जोबन का गरब न कीजै।[3]

(३) प्रश्नार्थक—
कौंन पुरिख को काकी नारी।[4]

(४) विस्मयादिबोधक—
हा हा करते ते मुए।[5]

(५) संकेतार्थक—
अढ़ाई मैं जे पाव घटै तौ करकच करै घरहाई।[6]

(६) आज्ञार्थक—
डगमग छांड़ि दे मन बौरा।[7]

---

१. विधानार्थक, निषेधवाचक, आज्ञार्थक, प्रश्नार्थक, विस्मयादिबोधक, इच्छाबोधक, संदेहसूचक, संकेतार्थक।
हि० व्या०—का० प्र० गु०; पृ० ५५०

२. १६-२ ३. ७४-४ ४. ४६-३

५. सा० १६-२३-२ ६. १११-६ ७. ५८-१

अष्टगगन,[१] नाद,[२] सहज,[३] सुरति[४] आदि ।

(४) कबीर ने विभिन्न पौराणिक पात्रों का उल्लेख किया है । उनके नाम भी तत्सम रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—
गरुड़,[५] नरहरि,[६] नारद,[७] हरि[८] आदि ।

(५) विभिन्न आभूषण तथा अंगों से सम्बन्धित कुछ शब्दावली भी यहां तत्सम रूप में है, जैसे—
आभूषण—आरसी,[९] माला.[१०] सिंदूर,[११] आदि ।
अंग—दंत,[१२] नख,[१३] मुख,[१४] आदि ।

४.१.२ **तद्भव**—तद्भव शब्दोंको निम्नांकित वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) ऐसे शब्द जो प्रायः पूरे हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित हैं, जैसे—
आंगन,[१५] कुबेर,[१६] गुन,[१७] तीरथ,[१८] धरम,[१९] सरीर[२०] आदि ।

(२) ऐसे शब्द जो केवल क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं जिन्हें क्षेत्रीय प्रयोग कहा जा सकता है, जैसे—
चिरकुट[२१] (अवधी, भोजपुरी), डागल,[२२] (बुंदेलखंडी), दोवर, तेवर[२३] (राजस्थानी), थारो,[२४] (खड़ी बोली, राजस्थानी), पछेवरा,[२५] पटम (भोजपुरी),[२६] कालर,[२७] कदे,[२८] नालि,[२९] परधा,[३०] सदकै[३१] (पंजाबी, हरियानी) आदि ।

(३) एक वर्ग ऐसे शब्दों का है जिनके प्राकृत रूपों का तो पता है पर संस्कृत रूप संदिग्ध हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि ये संस्कृत से ही व्युत्पन्न हैं, उदाहरणार्थ :—

---

१. १०८-४ २. ११७-५ ३. ४-३
४. ४-४ ५. १५३-४ ६. १०-६
७. ५३-१ ८. ७-३ ९. सा० १५-११-१
१०. १७५-४ ११. सा० ११-१३-१ १२. सा० ११-७-२
१३. २६-१० १४. १९-१ १५. सा० १३-३-१
१६. १५५-९ १७. १०-१५ १८. ३-३
१९. ४४-२ २०. ५-५ २१. ६५-१०
२२. सा० १५-६३-१ २३. २५-२ २४. चौ० र० ३२-२
२५. ५३-५ २६. सा० २५-१३-२ २७. सा० २४-१५-२
२८. सा० ३०-८-१ २९. सा० २-४१-१ ३०. सा० १५-५४-२
३१. सा० १-२०-१

अघाइ[१] <अग्घाण; ओढ़न[२] <ओड्ढण;
कोथली[३] <कोत्थल; टोकनी[४] <टोक्कण; ढोल[५] <ढोल्ल;
भेटत[६] <√भिट्ट; आदि।

(४) सिद्ध नाथों से गृहीत बहुत से प्रतीक तद्भव रूप में हैं, जैसे—
बिटिया,[७] माता,[८] म्रिग,[९] सियार[१०] आदि।

(५) ऐसे तद्भव शब्द जिन्हें पहचानना कठिन हो जाता है जैसे—
गुआर[११] <ग्वाला; पूठि<पृष्ठ;[१२] रोज<रोदन[१३] आदि।

४.१.३ देशज—देशज शब्द उन शब्दों को कहते हैं जो तत्सम, तद्भव या विदेशी—इन तीनों में से किसी वर्ग में नहीं आते। ऐसे शब्द या तो संदिग्ध या अज्ञात व्युत्पत्ति वाले हैं या अनुकरणात्मक। इसका आशय यह भी है कि भविष्य में व्युत्पत्ति के क्षेत्र में अनुसंधान होने पर इनमें से बहुत से शब्द अन्य तीन वर्गों में से किसी में आ सकते हैं जैसाकि 'देशी नाम माला' के शब्दों के विषय में 'पिशेल' या अन्य विद्वानों के अनुसंधान के पश्चात् हुआ है। कबीर के काव्य में इस प्रकार के शब्द लगभग ७५ हैं जिन्हें नीचे दो पृथक् वर्गों में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) **अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्द**—

उदिक,[१४] औभड़,[१५] औडेंरा,[१६] करकच,[१७] चिउंटी,[१८] चुहाड़ा,[१९] चौज,[२०] छेती[२१] झोंकिया,[२२]

---

१. सा० १५-१४-२ २. ५३-५ ३. सा० ३१-१५-१
४. सा० २१-२५-१ ५. १४-२ ६. ११८-१०
७. ११०-४ ८. ३७-४ ९. ६४-८
१०. ७१-६ ११. १८८-७ १२. सा० १६-३०-१
१३. सा० ३२-१३-१ "गावन ही मैं रोज है, रोवन ही मैं राग।"
"रोज शब्द रुलाई अर्थ में आगरे बीकानेर आदि के पास अब भी बोला जाता है।"
—हि० सा० इ०, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५२९।
१४. १३२-९ १५. सा० १६-२७-१ १६. चौ० र० ११-२
१७. १११-६ १८. सा० १०-८-१ १९. ६५-१०
२०. सा० १५-४८-१ २१. सा० १६-२६-१
२२. सा० १८-८-२ यह अपेक्षाकृत पुराना शब्द है इसके प्राकृत होने की संभावना है।

टोटी,[1] ठेलिया,[2] तिवास,[3] थोथी,[4] निहोरा,[5] पमावही,[6] पेड़,[7] बिझुका,[8] बीठुला,[9] बेही,[10] बोझ,[11] माल्हंतांह,[12] मुराड़ा,[13] मैंवासी,[14] रोझ,[15] रोटी,[16] लात,[17] न्हीर,[18] लेंहड़ी,[19] सपचै,[20] सावज,[21] सेरी,[22] हरहाई,[23] हींगला[24]।

(२) **अनुकरणात्मक शब्द**—

अरस,[25] आल,[26] कूछि,[27] खड़की,[28] खाद,[29] गड़गड़ी,[30] गहगचि,[31] घमसांनां,[32] घुराऊं,[33] चकमक,[34] चटाइ,[35] चिलकाई,[36] चिहुटिया,[37] चीसा,[38] जगमगै,[39] झकोरै,[40] झगरा[41], झझकि,[42] झिरमिर,[43] टिपकै,[44] टूलै,[45] ठोंकि,[46] डगमग,[47] डहडही,[48] ढबका,[49] तलफत,[50] थरहर,[51]

---

१. १९७-५ यह अपेक्षाकृत पुराना शब्द है इसके प्राकृत होने की सम्भावना है।

२. सा० १-६-२ यह अपेक्षाकृत पुराना शब्द है इसके प्राकृत होने की सम्भावना है।

३. सा० २९-२२-२

४. सा० २-१२-१ यह अपेक्षाकृत पुराना शब्द है इसके प्राकृत होने की संभावना है।

५. ३८-२ ६. सा० १४-१४-१ ७. ३८-५

८. ९१-५ ९. १०-१ १०. १२-४

११. सा० २६-९-२ १२. सा० १६-२७-१ १३. सा० ५-१३-१

१४. ४-६ १५. सा० २५-९-२ १६. सा० २१-३-२

१७. सा० १५-६-२ १८. सा० २४-१७-२ १९. सा० ४-१८-२

२०. सा० २-८-१ २१. र० १२-१ २२. सा० २५-१२-१

२३. सा० २१-१८-२ २४. सा० २५-२-२ २५. १७९-७

२६. २६-४ २७. ८६-७ २८. सा० १६-३८-२

२९. सा० ४-२५-१ ३०. सा० १५-५१-१ ३१. सा० २१-१३-१

३२. ५९-४ ३३. ४-७ ३४. सा० २९-१३-२

३५. सा० १८-६-२ ३६. ५३-३ ३७. सा० १७-८-२

३८. २३-४ ३९. सा० ९-५-१ ४०. ११२-६

४१. २७-१ ४२. चौ० र० ३-७ ४३. सा० २२-९-१

४४. सा० २२-५-१ ४५. सा० १६-१५-१ ४६. सा० १५-३०-२

४७. ५८-१ ४८. सा० १३-२-१ ४९. सा० १५-५९-२

५०. सा० २-३९-२ ५१. ७०-३

धाहड़ी,[१] निधड़क,[२] पुरझि,[३] फटकि,[४] फूंक,[५] बंब,[६] बरराइ,[७] भुनगा,[८] मचाइ,[९] रटत,[१०] सांटि,[११] हक्क,[१२] हाहा,[१३] हा हू[१४]।

४.२.४ **विदेशी**—यों तो कुछ विदेशी शब्दों को विद्वानों ने वेदों और उपनिषदों से भी खोज निकाला है।[१५] पर भारतीय भाषाओं में उस श्रेणी के अधिक शब्द १००० ई० के बाद ही मुसलमानों तथा यूरोपीय लोगों के सम्पर्क से आए हैं। प्रवृत्ति के आधार पर विदेशी शब्दों के निम्न वर्ग हैं :—

(१) कबीर के काव्य में विदेशी शब्द तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में हैं, जैसे—

तत्सम —आब,[१६] दरबार,[१७] दीदार,[१८] आदि।

तद्भव—असरार,[१९] (इसरार), करज[२०] (कर्ज), खरच[२१] (खर्च), खुसी[२२] (खुशी), जार[२३] (यार), तमासा[२४] (तमाशा), तरगस[२५] (तरकश), दरद[२६] (दर्द), दोजक[२७] (दोजख), सिकारी[२८] (शिकारी) आदि।

(२) कबीर ने जिन विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है उनमें अधिकांश शब्द सरल तथा लोक प्रचलित हैं, जैसे—

आलम,[२९] कसाई,[३०] खबर,[३१] खसम,[३२] खून,[३३] खूब,[३४] दरिया,[३५] दोस्त,[३६] पीर,[३७] महल,[३८] राह[३९] आदि।

किन्तु कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो कठिन हैं तथा अरबी फारसी के ठेठ शब्द कहे

१. सा० २-६-२ २. सा० १६-१७-१ ३. सा० २१-४-२
४. सा० १७-७-१ ५. सा० १-५-२ ६. सा० १५-१६-२
७. सा० ४-१३-१ ८. १७६-६ ९. सा० १४-३५-२
१०. १५-२ ११. २३-५ १२. १८३-७
१३. सा० १६-२३-२ १४. १३०-५
१५. "A few assyro-babylonian words which were adopted by the aryans are found in vedic e. g. the word 'MANA' a measure from the semitic minah."
Indo Aryan and Hindi, Dr. S. K. Chatterji, p. 27
१६. सा० २६-८-२ १७. १५५-६ १८. ३६-८
१९. सा० ३-४-१ २०. १९५-१२ २१. ८९-५
२२. ८७-५ २३. सा० ११-५-२ २४. १४४-८
२५. ४-४ २६. ३६-७ २७. १९६-२
२८. १५७-४ २९. ६६-३ ३०. १९१-६
३१. ८९-५ ३२. २१-३ ३३. १७७-४
३४. सा० २१-३-१ ३५. १-६ ३६. ६६-१
३७. १०२-३ ३८. ४२-२ ३९. ९०-८

जा सकते हैं, जैसे—

करगह,[१] गोर,[२] तसबी,[३] ताजनैं,[४] नफर,[५] फिल,[६] मुरसिद,[७] सुन्नति[८] आदि।

(३) कबीर को जहां मुसलमानों या मौलवियों को समझाना या डांटना फटकारना हुआ है, उन्होंने अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है। बहुत से पूरे पद ही ऐसे हैं जिनमें दो चार संस्कृत के तत्सम या तद्भव शब्दों को छोड़कर विदेशी शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ—

(८७)

बंदे खोजु दिल हर रोज नां फिरु परेसानीं मांहिं।
यहु जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नांहिं ।।टेक।।
बेद कतेब इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ।
टुक दम करारी जउ करहु हाजिर हजूर खुदाइ ।।१।।
दरोगु पढ़ि पढ़ि खुसी होइ बेखबरु बादु बकाहिं।
हम सांच खालिक खलक म्यांनैं स्याम मूरति नांहिं ।।२।।
असमांन म्यांनैं लहंग दरिया गुसल करदन बूद।
करि फिकिर दाइम लाइ चसमैं जहां तहां मौजूद ।।३।।
अल्लाह पाकंपाक है सक करउ जे दूसर होइ।
कबीर करम करीम का यहु करै जांनैं सोइ ।।४।।

कबीर के काव्य में प्राप्त विदेशी शब्दों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) फारसी—

अंदेसा,[९] अंदेह,[१०] असमांन,[११] असवार,[१२] आब,[१३] कंगुरै,[१४] कमांन,[१५] करगह,[१६] करदन,[१७] कागद[१८], कालबूत[१९], खरच,[२०] खाक,[२१] खुदाई,[२२] खुमारि[२३] खुसी[२४]

---

१. १५०-३ २. सा० ३-१-२ ३. सा० १९३-३
४. ८१-४ ५. सा० ६-१०-२ ६. सा० ३-१०-२
७. १८४-४ ८. र० ६-४ ९. सा० १०-५-१
१०. १३-३ ११. ८७-७ १२. सा० १४-३५-१
१३. सा० २६-८-१ १४. सा० १४-३६-२ १५. ४-४
१६. १५०-३ १७. ८७-७ १८. ३-५
१९. ९७-४ २०. ८९-५ २१. १६-४
२२. ८७-४ २३. सा० १२-५-१ २४. ८७-५

खून,[1] खूब,[2] खोजादे,[3] ख्वार,[4] गंदा,[5] गज,[6] गिरद,[7] गुजारैं,[8] गुदरानै,[9] गुनह,[10] गुमांन,[11] गूंगा,[12] गोर,[13] चरखा,[14] चसम,[15] चाबुक,[16] चिराक,[17] चोंगी,[18] जंजीर[19] जंबूरै,[20] जार[21] जिंदा,[22] जीन,[23] जुलाहा,[24] जोर,[25] तंगी,[26] तरगस,[27] तराजू[28] ताजनैं,[29] दफतरि[30] दमांमां,[31] दम,[32] दर,[33] दरगह,[34] दरद,[35] दरबांनीं,[36] दरबार,[37] दरवाजा,[38] दरिया,[39] दरोगु[40] दरमांदा,[41] दस्तगीरी,[42] दिल,[43] दिवांनां,[44] दीदार,[45] दुरुस,[46] दोजक,[47] दोस्त,[48] नजीकि,[49] नरी,[50] नाज,[51] नापाक,[52] निवाज[53] निवारा,[54] निसांन,[55] नेजा,[56] नौबति,[57] पनह,[58] परदा,[59] परेसानीं,[60] पलीता,[61] पाकंपाक[62] पासंग,[63] पिग्राला,[64] पियादैं,[65] पीर,[66] पुरिजा,[67] पैकाकार,[68] पैगंबर,[69] पैदा,[70] पोच,[71] बंदगी,[72]

---

१. १७७-४   २. सा० २१-३-१   ३. १७८-८
४. सा० २१-२२-१   ५. १६६-१   ६. १११-३
७. सा० १४-६-१   ८. १८४-५   ९. ४२-१
१०. सा० ३०-१३-२   ११. १६५-१३   १२. १५७-८
१३. सा० ३-१-२   १४. ११०-८   १५. १६५-३
१६. ४-३   १७. १५५-५   १८. १३३-५
१९. २४-३   २०. ३४-८   २१. सा० ११-५-२
२२. १०५-३   २३. ८१-३   २४. ३०-५
२५. २३-१   २६. १-९   २७. ४-४
२८. सा० १५-७६-२   २९. ८१-४   ३०. सा० २१-५-२
३१. सा० १४-२६-१   ३२ .८७-४   ३३. ८०-५
३४. १८९-५   ३५. ३६-७   ३६. २५-३
३७. १५५-६   ३८. २५-३   ३९. १-६
४०. ८७-५   ४१. ४५-१   ४२. ८७-२
४३. ८७-१   ४३. ४२-५   ४४. ३६-८
४६. १७२-४   ४७. १९६-२   ४८. ६६-१
४९. ४२-८   ५०. १५०-३   ५१. सा० ३२-२-१
५२. १८३-९   ५३. ४४-४   ५४. ६५-५
५५. १६४-१०   ५६. सा० २२-१२-२   ५७. १००-१
५८. ४२-८   ५९. सा० २०-२-२   ६०. ८७-१
६१. २५-७   ६२. ८७-९   ६३. ९३-४
६४. १३३-७   ६५. सा० १४-१०-२   ६६. १०२-३
६७. सा० १४-१२-२   ६८. सा० २१-१७-१   ६९. ४२-३
७०. १०२-३   ७१. र० १६-५   ७२. सा० ४-३६-२

बंदा,[१] बकसहु,[२] बराबरि,[३] बांग,[४] बाज,[५] बाजारि,[६] बाजी,[७] बाजीगरी,[८] बिचारी[९] बिरांनीं[१०] बींद,[११] बीबी,[१२] बेखबरु,[१३] बेगांनां,[१४] बेहद,[१५] भिस्ति,[१६] मरद,[१७] मस्त,[१८] मामा,[१९] मियां,[२०] मिहरबांनां,[२१] मिहरि,[२२] मुरदन,[२३] मुहर,[२४] मैदा,[२५] मैदांनां,[२६] म्यांनैं,[२७] रग,[२८] राह,[२९] राही,[३०] रेजा,[३१] रोज,[३२] रोजा,[३३] रौंस,[३४] लंगर,[३५] लगांम,[३६] लसकरु,[३७] लहंग,[३८] सलार,[३९] सहनाई,[४०] साज,[४१] साहि,[४२] सिकदार,[४३] सिकारी,[४४] सौदागर,[४५] हजार,[४६] हजारी,[४७] हर,[४८] हस्ती,[४९] हिंदू ।[५०]

(२) अरबी—

अकिलि,[५१] अजब,[५२] अमलि,[५३] अलह,[५४] अहलजा,[५५] अवलिया,[५६] अव्वलि,[५७] असर,[५८] असरार.[५९] आदम,[६०] आलम,[६१] इतवारा,[६२] इफतरा,[६३] ईमांन,[६४] ऊजू,[६५]

---

१. १६३-८
२. ३७-२
३. १६-४
४. १२९-१
५. १३७-४
६. सा० १-३२-१
७. र० ११-४
८. ६०-८
९. १६२-६
१०. सा० १५-१३-२
११. सा० १६-२८-२
१२. ८९-६
१३. ८७-५
१४. १३४-२
१५. सा० ९-२१-१
१६. ४२-६
१७. १७७-१३
१८. ४-६
१९. र० ५-१
२०. ८९-६
२१. ५९-६
२२. १७७-२
२३. १०५-१
२४. ४-२
२५. सा० २०-१०-२
२६. ५९-४
२७. ८७-६
२८. सा० २-१७-१
२९. ६०-८
३०. १३१-१०
३१. सा० १५-६९-१
३२. ८७-१
३३. १८४-५
३४. सा० ३३-६-१
३५. १३७-४
३६. ४-३
३७. १२८-८
३८. ८७-७
३९. ४२-३
४०. सा० १५-५१-१
४१. ४४-४
४२. सा० १४-७-१
४३. सा० १५-६४-२
४४. १५७-४
४५. ४-१
४६. सा० १५-२७-१
४७. ११०-१
४८. ८७-१
४९. २३-२
५०. ८५-३
५१. १३४-२
५२. २-१
५३. सा० १२-४-२
५४. १७७-११
५५. सा० १६-३९-२
५६. १०२-३
५७. १८५-३
५८. ३४-४
५९. सा० ३-४-१
६०. ४२-६
६१. ६६-३
६२. १५२-१
६३. ८७-३
६४. १७२-४
६५. १७७-५

औरति,[१] कतेब,[२] कबीर,[३] करज,[४] करम,[५] करीम,[६] कलमां,[७] कसबी,[८] कसाई,[९] काजी,[१०] काबा,[११] किबला,[१२] कुरांन,[१३] कुलफु,[१४] खतनां[१५] खबर,[१६] खलक,[१७] खसम,[१८] खालसै,[१९] खाला,[२०] खालिक,[२१] खाली,[२२] खुसरै[२३] गरीब,[२४] गाफिलां,[२५] गालिब,[२६] गुसल,[२७] जगाती,[२८] जबाब,[२९] जमाति,[३०] जहंदम,[३१] जहाज,[३२] जाल,[३३] जिंद,[३४] जुलुम,[३५] जौहरी,[३६] तबल,[३७] तमासा,[३८] तरीकत,[३९] तलब,[४०] तसबी,[४१] दलाली,[४२] दावा,[४३] दीवांन,[४४] दुनिया,[४५] नजरि,[४६] नफर,[४७] नालि,[४८] नूर,[४९] फिकरु,[५०] फिल,[५१] बदलै,[५२] बलइया,[५३] बिसमिल,[५४] मक्के,[५५] मजलिसि,[५६] मसकला,[५७] मसकीन,[५८] मसखरा,[५९] मसीति,[६०] महल,[६१] महौला,[६२] मुकांमां,[६३] मुनारै,[६४] मुरसिद,[६५] मुसलमांन,[६६] मुलुक,[६७] मुल्ला,[६८] मुहकम,[६९] मौज,[७०] मौजूद[७१]

---

१. १७७-१३ २. ८१-५ ३. सा० ८-१-२
४. १९५-१२ ५. ८७-१० ६. ८७-१०
७. १६०-६ ८. १९३-३ ९. १९१-६
१०. २३-२ ११. सा० २०-१०-१ १२. १२९-३
१३. र० ६-२ १४. ८०-४ १५. १८२-४
१६. ८९-५ १७. ८७-६ १८. २१-३
१९. ८६-१० २०. सा० १४-३१-१ २१. ८७-६
२२. १७७-८ २३. १७४-५ २४. ४२-१
२५. सा० १५-५७-२ २६. १७०-५ २७. ८७-७
२८. १२६-६ २९. ४२-७ ३०. सा० ४-१८-२
३१. सा० २५-१५-१ ३२. सा० २१-६-२ ३३. २६-४
३४. २३-१० ३५. सा० २५-१५-२ ३६. सा० १८-१-१
३७. ४-७ ३८. १४४-८ ३९. चौ० र० २-१ ४०. ८३-१०
४१. १९३-३ ४२. ५१-१ ४३. सा० ३२-२-२
४४. सा० २१-२-२ ४५. ८७-२ ४६. ४२-६
४७. सा० ६-१०-२ ४८. २५-७ ४९. १८५-३
५०. ८७-३ ५१. सा० ३-१०-२ ५२. सा० १८-२-२
५३. १४०-१ ५४. १८३-३ ५५. १९३-४
५६. ४२-२ ५७. सा० १-८-१ ५८. १८४-२
५९. सा० २१-२०-१ ६०. १२९-२ ६१. ४२-२
६२. सा० १४-४१-२ ६३. १७७-११ ६४. सा० २६-३-१
६५. १८४-४ ६६. १२८-१० ६७. १७७-९
६८. १२८-३ ६९. ७२-४ ७०. सा० १५-४८-२
७१. ८७-८

रबाब,[१] रमजांनां,[२] रहीम,[३] सक,[४] सदकै,[५] सलांम,[६] सलामति,[७] सही,[८] साबित,[९] साबुन,[१०] सालिम,[११] साहिव,[१२] सिकली,[१३] सुन्नति,[१४] सुरतान,[१५] सूमहिं,[१६] सूरति,[१७] सेख,[१८] हक,[१९] हज,[२०] हजूर,[२१] हद,[२२] हरम,[२३] हरांम,[२४] हरांमीं,[२५] हलाल,[२६] हवाल,[२७] हाकिम,[२८] हाजिर,[२९] हाल,[३०] हौंस,[३१] हौवा।[३२]

३. तुर्की—

जंजाल,[३३] तुरकिनीं,[३४] वाबा,[३५] बाबुल[३६]।

४.१.५ मिश्रित शब्द— कबीर-काव्य में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते है जो इनमें से किसी एक वर्ग के न होकर दो या अधिक वर्गों या उपवर्गों के मिश्रण हैं। यहां कुछ इस प्रकार के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

भव (तत्सम) + सागर (तत्सम)—भवसागर[३७]
सिरजन (तद्भव) + हार (तद्भव)—सिरजनहार[३८]
बे (फारसी) + कांम (तद्भव) —बेकांम[३९]
दुनिया (अरबी) + ई (तद्भव)—दुनियाई[४०]
बे (फारसी) + हाल (अरबी)—बेहाल[४१]
सिकली (अरवी) + गर (फारसी)—सिकलीगर[४२]
सौदा (फारसी) + गर (फारसी)—सौदागर[४३]

---

१. सा० २-१७-१ २. १७७-७ ३. सा० २०-१०-१
४. ८७-६ ५. सा० १-२०-१ ६. १२८-४
७. १०२-१ ८. १०२-१ ९. सा० ९-३२-१
१०. सा० २२-३-२ ११. १४८-६ १२. १६-४
१३. ८१-३ १४. र० ६-४ १५. १२८-७
१६. ६५-७ १७. १७-६ १८. ४२-४
१९. ८७-६ २०. ८५-३ २१. ८७-४
२२. ११९-९ २३. ८९-६ २४. सा० ३१-११-१
२५. ९३-५ २६. १८३-४ २७. सा० २-३-२
२८. ९५-८ २९. ८७-४ ३०. र० ९-७
३१. सा० ३३-६-२ ३२. र० ५-१ ३३. सा० ३-१४-१
३४. १६०-६ ३५. ४२-६ ३६. ११०-५
३७. १४-६ ३८. १५-९ ३९. सा० ३-९-२
४०. ५३-४ ४१. १३-८ ४२. सा० १-८-१
४३. ४-१

सामान्य अर्थ में प्रचलित शब्द के प्रयोग के आधार पर अपने भावों की अभिव्यक्ति प्रायः की जाती है किन्तु संक्षेप में सुन्दरता के साथ अपनी अभिव्यक्ति करने में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी साहित्य और जनभाषाओं में कम प्रचलित नहीं। कबीर में भी इन दोनों का प्रयोग मिलता है। इनके कारण उनकी भाषा में और भी अधिक शक्ति तथा पूर्णता आ गई है। मुहावरे और लोकोक्तियों की सूची परिशिष्ट १ में दी जा रही है।

४.२ सामाजिक या सांस्कृतिक संकेतों की दृष्टि से—किसी कवि के शब्द-समूह का इस आधार पर किया गया अध्ययन अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसके द्वारा कवि की व्यापक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार का अध्ययन एक पृथक् शोध-प्रबन्ध का विषय भी हो सकता है।[१] कबीर की सम्पूर्ण शब्दावली का इस आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत प्रबन्ध में अनावश्यक विस्तार ही करेगा। अतः प्रमुख शब्दावली को सामाजिक या सांस्कृतिक संकेतों के आधार पर वर्गीकृत करके यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त शब्द—

कंत,[२] कन्या,[३] जंवाई,[४] जननि,[५] जेठ,[६] तिरिया,[७] दादा,[८] दुलहिनीं,[९] दूलह,[१०] देवर,[११] ननद,[१२] नाती,[१३] पिउ,[१४] पिता,[१५] पूत,[१६] बहनोई,[१७] बहुरिया,[१८] बाबुल,[१९] बिटिया,[२०] भईआ,[२१] माता,[२२] मामा,[२३] लमधी,[२४] समधी,[२५] ससुर,[२६] सासु[२७] आदि।

---

१. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन इसी दृष्टिकोण के आधार पर किया गया है। "सूरसागर की शब्दावली का एक अध्ययन" डॉ० निर्मला सक्सेना।

२. १९-४ ३. सा० १५-७३-१ ४. १६४-४
५. र० १-४ ६. १३५-३ ७. १७६-९
८. १५८-६ ९. ५-१ १०. १०९-६
११. १३५-४ १२. १३५-४ १३. ९९-३
१४. ११-१ १५. सा० ३१-२४-१ १६. सा० ३१-२४-१
१७. १४०-४ १८. ११-१ १९. ११०-५
२०. ११०-४ २१. १३५-६ २२. १९२-३
२३. र० ५-१ २४. ११०-७ २५. ११०-७
२६. १३५-३ २७. १३५-३

(२) वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन तथा रंग की सूचक शब्दावली—

वस्त्र—अड़बंद,[१] कपड़ा,[२] कामरी,[३] कोपीन,[४] चोलनां,[५] जनेऊ,[६] पटंबर,[७] बलकल;[८]

आभूषण—कंगन,[९] तागरी,[१०] माला,[११] मुकताहल,[१२] मेखुली,[१३] मोती;[१४]

प्रसाधन—आरसी,[१५] काजर,[१६] दरपन,[१७] सिंदूर;[१८]

रंग—काली,[१९] नील,[२०] पीत;[२१]

(३) खाद्य और पेय पदार्थों के सूचक शब्द—

आटा,[२२] आमिख,[२३] (आमिष=गोश्त), खटाइ,[२४] खांड,[२५] खीचरी,[२६] खीर[२७] घृत,[२८] चून,[२९] तिल,[३०] दही,[३१] दूध,[३२] पांन-सुपारी,[३३] पानी,,[३४] भोजन,[३५] मदु[३६] (शराब), महुआ[३७] (शराब), मिठाई,[३८] मैदा,[३९] लहसुन,[४०] लाडू,[४१] लापसी,[४२] लौंग,[४३] लौंन[४४]।

(४) गृहस्थी की उपयोगी वस्तुओं तथा स्थानों के सूचक शब्द—

ईंधन,[४५] कतरनीं,[४६] कपूर,[४७] करछी,[४८] कलस,[४९] कागद,[५०] कुहाड़ी,[५१]

---

१. १४३-६ २. सा० १५-६१-१ ३. सा० ४-३४-२
४. सा० १२-४-१ ५. ५०-४ ६. र० ६-४
७. ६५-५ ८. १८६-३ ९. १७-४
१०. ६५-१० ११. १७५-४ १२. ६५-४
१३. १३३-४ १४. ६५-४ १५. सा० १५-११-१
१६. सा० ११-१३-१ १७. ७२-७ १८. सा० ११-१३-१
१९. सा० ४-३४-२ २०. सा० ११-७-२ २१. १३०-५
२२. सा० १५-२५-२ २३. सा० २०-११-२ २४. सा० २१-१८-१
२५. ६२-३ २६. सा० २१-३-१ २७. २८-६
२८. सा० २२-५-२ २९. सा० २०-१०-२ ३०. सा० ९-१४-१
३१. १३१-७ ३२. सा० २२-५-२ ३३. सा० १५-२६-१
३४. र० ६-६ ३५. ३४-११ ३६. ५१-२
३७. ५६-३ ३८. सा० ३१-२४-२ ३९. सा० २०-१०-२
४०. सा० ३०-१-१ ४१. १८७-७ ४२. १८७-७
४३. १५७-३ ४४. सा० १-२४-१ ४५. सा० ३१-२८-१
४६. ९४-३ ४७. १०१-६ ४८. १९२-६
४९. सा० १२-१-२ ५०. ३-५ ५१. सा० १५-२९-२

कोइला,[१] खटिया,[२] गागरि,[३] गाठरि,[४] चरखा,[५] छुरी,[६] डंडा,[७] तराजू,[८] तूंबी,[९] थाल,[१०] दीपक,[११] धागा,[१२] पंखा,[१३] पलंघ,[१४] पिग्राला,[१५] पोटली,[१६] मटुकी,[१७] साबुन,[१८] हंढिया,[१९] अंगना,[२०] चउका[२१] आदि।

(५) शरीर के विभिन्न अंगों की सूचक शब्दावली—

आंखि,[२२] कांन,[२३] जिभ्या,[२४] दंत,[२५] नख,[२६] नाक,[२७] नाभि,[२८] नैंनां,[२९] पलक,[३०] पांव,[३१] पेट,[३२] भुजा,[३३] मस्तक,[३४] माथा,[३५] मुख,[३६] मूंड़,[३७] स्रवन,[३८] हाथ[३९] आदि।

(६) पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष आदि की सूचक शब्दावली—

पशु पक्षी—उंदरी,[४०] कउवा,[४१] कछुआ,[४२] काग[४३] कीट,[४४] कुंजर,[४५], कूकर,[४६] केहरि,[४७] गज,[४८] गाइ,[४९] गादह,[५०] घूंस,[५१] चकई,[५२] चकवा,[५३] चीता,[५४] जंबुक,[५५] तीतर,[५६] तुरंग,[५७] नाहर,[५८] पंखेरू,[५९] बटेरै,[६०] बाज,[६१] भंवरा,[६२] भुजंग,[६३]

---

१. सा० ३०-१७-२ २. १००-२ ३. ५०-३
४. सा० ३२-६-१ ५. ११०-८ ६. सा० ३०-३-१
७. १४३-५ ८. सा० १५-७६-२ ९. १७१-४
१०. सा० १६-४०-१ ११. सा० २४-१८-२ १२. १६-७
१३. ११९-७ १४. ६५-५ १५. १३३-७
१६. सा० ३१-२०-२ १७. १२७-५ १८. सा० २२-३-२
१९. सा० १५-३०-१ २०. १५-६ २१. १९२-७
२२. सा० २-४३-२ २३. १६५-५ २४. १८८-१
२५. सा० ११-७-२ २६. २६-१० २७. १६५-५
२८. ४३-५ २९. सा० २-४७-१ ३०. सा० ११-१४-२
३१. १४६-६ ३२. ९४-३ ३३. २३-३
३४. १७५-५ ३५. सा० ७-७-१ ३६. १९-१
३७. २३-३ ३८. ४५-३ ३९. ९४-३
४०. ११४-६ ४१. २८-५ ४२. ११४-६
४३. १३७-४ ४४. १८-५ ४५. सा० २९-२-१
४६. २०-७ ४७. १६९-४ ४८. २०-५
४९. १३७-३ ५०. ११४-४ ५१. ११४-५
५२. सा० २-४-१ ५३. ११४-८ ५४. १३७-३
५५. १६९-४ ५६. सा० १५-२-२ ५७. ८३-६
५८. १३७-३ ५९. सा० ३१-२५-२ ६०. १३७-४
६१. सा० १५-२-२ ६२. ११२-५ ६३. ३६-५

भेड़,[1] भैंसा.[2] भ्रिग,[3] मंजार,[4] मूस,[5] मेंडुक,[6] मैंगल,[7] म्रिग,[8] लंगर,[9] सारंग,[10] सिंघ,[11] सियार,[12] सुग्रटा,[13] स्वांन,[14] हंस,[15] हरिनि[16] आदि ।

पुष्प वृक्ष—कंवल,[17] कमल,[18] कमोदनी,[19] कलियां,[20] घास,[21] चंपक,[22] जावासा,[23] टेंसू,[24] तरवर,[25] तुरसी,[26] नीम,[27] पंकज,[28] पत्र,[29] पलास,[30] पांडल,[31] पुहुप,[32] पेड़[33] आदि ।

(७) जाति, व्यापार, व्यवसाय, सिक्के, धातु आदि की सूचक शब्दावली—

जाति तथा व्यवसाय—अहीरा,[34] अहेरी,[35] कसाई,[36] कुम्हार,[37] कोरी,[38] खेती,[39] खेवट,[40] गारडू,[41] गुजरी,[42] चुहाड़ा,[43] जगाती,[44] जुलाहा,[45] जुवारी,[46] जौहरी,[47] झींवर,[48] पनिहारी,[49] बटाऊ,[50] बधिक,[51] बनिज,[52] बनिजारा,[53] बनियां,[54] बांम्हन,[55] बाजीगरी,[56] भंगी,[57] भिखारी,[58] मसखरा,[59] महतौ,[60] महावत,[61] मालिनि,[62] राजा,[63] लुहार,[64] सिकलीगर,[65] सिकारी[66] ।

१. सा० २१-२८-२ २. ११४-४ ३. १-२
४. ९-४ ५. १३७-५ ६. ८४-५
७. सा० १२-७-१ ८. ९४-८ ९. १३७-४
१०. १०-८ ११. ७१-५ १२. ७१-६
१३. ९-४ १४. ६९-४ १५. सा० ३१-२५-२
१६. १३७-३ १७. १८-४ १८. २४-२
१९. सा० २-२६-१ २०. सा० १६-३४-१ २१. सा० १५-२३-२
२२. र० ९-४ २३. ३१-१३-२ २४. सा० १५-४५-२
२५. सा० ३१-२१-१ २६. १३१-११ २७. १६८-४
२८. ३०-४ २९. १८-४ ३०. सा० १५-४५-२
३१. सा० ३२-१०-१ ३२. ११२-५ ३३. ३८-५
३४. १३१-१० ३५. र० २१-१ ३६. १९१-६
३७. सा० १२-१-२ ३८. सा० १५-६९-१ ३९. २२-३
४०. सा० २९-२-२ ४१. ३३-१४ ४२. १२७-५
४३. ६५-१० ४४. १२६-६ ४५. ३०-५
४६. ९९-६ ४७. सा० १८-१-१ ४८. सा० १६-८-१
४९. ९५-३ ५०. सा० १४-३-२ ५१. सा० ५-६-२
५२. १२६-१ ५३. १२६-६ ५४. ९३-३
५५. सा० २१-४-१ ५६. ६०-५ ५७. १-४
५८. ४२-७ ५९. सा० २१-२०-१ ६०. ४१-३
६१. २३-५ ६२. १८७-११ ६३. ४-६
६४. सा० १-३०-१ ६५. सा० १-८-१ ६६. १५७-४

सिक्के, धातु—कंचन,[१] पीतल,[२] फटिक,[३] लोहा,[४] हीरा[५]।

(८) योग साधना से सम्बन्धित शब्द[६]—

अजपा[७] (जाप), अनहद[८] (नाद), अंम्रित,[९] अष्टगगन,[१०] आतम[११] (ग्यांन), इला,[१२] उनमनि,[१३] ओं,[१४] कुंभक,[१५] कुण्डलि,[१६] खसम,[१७] गाइत्री,[१८] नाद,[१९] निरंजन,[२०] निरति,[२१] पिंगला,[२२] बिंदु,[२३] ब्रह्मंड,[२४] सहज,[२५] सुन्नि,[२६] सुखमन,[२७] सुरति[२८] आदि।

(९) पौराणिक या ऐतिहासिक पात्रों की सूचक शब्दावली—

(क) **पुंल्लिग**—अनंगु,[२९] आदम,[३०] इंद्र,[३१] ऊधौ,[३२] कंसा,[३३] कबीर,[३४] कुबेर[३५] केतु,[३६] केसव,[३७] क्रिसन,[३८] गंध्रब,[३९] गनेसा,[४०] गरुड़,[४१] गोपीचंदा,[४२] गोबिंद,[४३] गोरखनाथ,[४४] चतुरभुज,[४५] जरजोधन,[४६] जसरथ,[४७] दमोदर,[४८]

---

१. सा० १-३०-२ २. सा० २१-१८-१ ३. सा० २९-२१-२
४. ३-५ ५. १८-२
६. इस प्रकार के कुछ शब्दों का विशेष अध्ययन निम्नलिखित ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है—
(क) कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१-११०
(ख) कबीर-साहित्य की परख, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २३०-२५३
(ग) कबीर की विचारधारा, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ३९३-४०८

७. सा० ९-१०-१	८. १३३-१	९. २-२
१०. १०८-४	११. १०-१४	१२. ११३-४
१३. ५६-२	१४. २० १-१	१५. ११५-८
१६. सा० ७-१-१	१७. २१-३	१८. १९६-३
१९. ११७-५	२०. ४८-८	२१. ११४-४
२२. ११३-४	२३. ३६-३	२४. ३-२
२५. ४-३	२६. सा० ९-२१-१	२७. ५१-६
२८. ४-४	२९. १२१-२	३०. ४२-६
३१. १४९-७	३२. १९८-५	३३. ११७-५
३४. १-१०	३५. १५५-९	३६. १४-३
३७. १६३-३	३८. १५८-७	३९. १३३-४
४०. १०३-३	४१. १५३-४	४२. ४८-७
४३. २३-१०	४४. १७५-५	४५. ७७-१
४६. १५५-१६	४७. १५८-५	४८. ४०-९

नंद,[१] नरसिंघ,[२] नरहरि,[३] नारद,[४] नाराइन,[५] नील,[६] बलि,[७] बिधि,[८] बिभीखन,[९] बिस्नु,[१०] ब्रह्म,[११] भरथरी,[१२] मदन,[१३] महादेव,[१४] महेस,[१५] माधौ,[१६] मुरारी,[१७] रघु-नाथ,[१८] रघुपति,[१९] रहिमांन,[२०] रहीम,[२१] रांम,[२२] रावन,[२३] संकर,[२४] संडैमरकै,[२५] सनंदन,[२६] सनक,[२७] सारिंगधर,[२८] सालिगरांम,[२९] सिंभु,[३०] सिव,[३१] सुकदेव,[३२] सुदांमां,[३३] स्याम,[३४] हनुमत,[३५] हरि,[३६] हिरनांकस[३७] आदि।

(ख) **स्त्रीलिंग**—काली,[३८] गनिका,[३९] जसवै,[४०] दुरगा,[४१] देवै,[४२] पारबती,[४३] बिदेही,[४४] भवांनीं,[४५] राधा,[४६] रुकमिनि,[४७] लखमीं,[४८] लोई,[४९] आदि।

(१०) **स्थान, कालविभाजन, दिशा, नक्षत्र आदि से सम्बन्धित शब्दावली—**

अगमपुर,[५०] आसरमां,[५१] कबिलास,[५२] कलियुग,[५३] काबा,[५४] कासी,[५५] गंडक,[५६] गया,[५७] गोकुल,[५८] जगन्नाथ,[५९] जमपुर,[६०] त्रेता[६१] द्वापर,[६२] द्वारावती,[६३] द्वारिका,[६४]

---

१. १५४-१ २. २६-११ ३. १०-६
४. ३५-१ ५. १८८-१ ६. सा० ११-७-२
७. र० ३-५ ८. २०-९ ९. ४८-५
१०. ९०-८ ११. १०-१३ १२. ४८-७
१३. ४३-३ १४. १५५-३ १५. १४७-४
१६. ३६-१ १७. १७१-५ १८ २४-५
१९. ८६-२ २०. सा० ९-३३-२ २१. सा० २०-१०-१
२२ १-१० २३. ७३-६ २४. १८१-७
२५. २६-५ २६. ४३-५ २७. ४३-५
२८. १३१-१२ २९. र० ३-६ ३०. सा० ९-२४-२
३१. ४३-५ ३२. ९०-४ ३३. ४५-५
३४. ८७-६ ३५. १०३-४ ३६. ७-३
३७. २६-१० ३८. सा० ४-३४-२ ३९. २०-५
४०. र० ३-३ ४१. १५५-४ ४२. र० ३-३
४३. १०३-३ ४४. र० ७-८ ४५. १६३-३
४६. १५८-७ ४७. १३१-१० ४८. १५५-९
४९. १९-५ ५०. ५९-७ ५१. र० ७-२
५२. १५५-३ ५३. सा० २१-२६-१ ५४. सा० २०-१०-१
५५. सा० २०-१०-१ ५६. र० ३-६ ५७. ३५-८
५८. १०-१ ५९. र० ३-८ ६०. १४-३
६१. १४३-५ ६२. १४३-६ ६३. र० ३-८
६४. सा० ४-२३-१

नंदन,[१] नरक,[२] पातालि,[३] पीहर,[४] वद्री (नाथ),[५] बनारस,[६] बैकुंठ,[७] भानु,[८] मंडल,[९] मक्के,[१०] मगहर,[११] मथुरा,[१२] मरहट,[१३] मांनसरोबर,[१४] लंका,[१५] सरग,[१६] सिवपुरी,[१७] सूरज,[१८] आदि।

दिशा—उतर,[१९] दखिन,[२०] पच्छिमि,[२१] पूरब[२२]।

(११) वाहन तथा मनोविनोद के साधनों से सम्बन्धित शब्द—

घोड़ा,[२३] जहाज,[२४] ढोल,[२५] तूरा,[२६] दमांमां,[२७] निसांन,[२८] बंसी,[२९] रबाब,[३०] सहनाई[३१] आदि।

इस प्रकार इन विभिन्न शब्दों से कबीर की व्यापक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों से शब्दों को ग्रहण करके पूर्ण सफलता से उनका प्रयोग किया। इस शब्दावली के अध्ययन से तत्कालीन समाज का भी पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकता है।

---

१. १५४-१
२. ६६-२
३. १५६-३
४. १६०-७
५. र० ३-७
६. ४६-२
७. २६-२
८. ५२-६
९. ११७-२
१०. १६३-४
११. ४६-४
१२. सा० ४-२३-१
१३. ६८-८
१४. २८-३
१५. ६६-५
१६. १५७-६
१७. ४६-४
१८. १३०-१२
१९. सा० २-१३-२
२०. सा० २-१३-२
२१. १७७-११
२२. १७७-११
२३. सा० १४-३५-१
२४. ९७-२
२५. १४-२
२६. १३१-९
२७. सा० १४-२६-१
२८. १६४-१०
२९. १५२-८
३०. सा० २-१७-१
३१. १५-५१-१

खण्ड २

कबीर की भाषा का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

कबीर की भाषा का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

पिछले खंड में कबीर की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उसमें केवल उस सामग्री का विश्लेषण है जो वर्ण से लेकर वाक्य तक फैली हुई है और व्यंग्यार्थ के निर्माण में उपादान कारणभूत है। किन्तु भाषा की आन्तरिक शक्ति, जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर होते हुए भी व्यंग्यार्थ को प्रस्फुटित करने वाला अनिवार्य साधन या निमित्त कारण है, काव्यशास्त्रीय अध्ययन से ही सम्बन्ध रखती हैं। किसी भी भाषा के शब्द-समूह को लेकर उसका प्रयोग तो सभी कर सकते हैं किन्तु विशेष अर्थ में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग करना कवि के सामर्थ्य पर भी निर्भर करता है। इसी को भाषा की आन्तरिक विशेषता कहा जा सकता है।

भाषा की इन आन्तरिक विशेषताओं में छन्द का उल्लेख भी किया गया है।[1] ध्यान देने योग्य बात यह है कि छन्द वास्तव में भाषा का धर्म नहीं। उनका सीधा सम्बन्ध शैली से है अतः ये शैली के अन्तर्गत हैं। उनकी अपनी योजना है, अपनी निर्माण-प्रक्रिया है, वे अर्थ की व्यंजकता अपने ढंग से मधुर करते हैं। भाषा का जो गुण है वह लय है, यही भाषा का संगीत (Rhythm) है। यह संगीत भावानुरूप माधुर्य, ओज आदि गुण-व्यंजक-वर्णों के प्रयोग में निहित है। छन्द का संगीत गणानुसारी या मात्रानुसारी होता है। उसे भाषा की विशेषता नहीं कहा जाएगा। अतः इस अंश में भाषा के संगीत की पृथक् चर्चा नहीं की जा रही है क्योंकि वह किसी न किसी रूप में भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित रीति, वृत्ति और गुण के ही अन्तर्गत है।

इस खंड में कबीर-काव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन :—

(१) शब्द-शक्ति

(२) ध्वनि

(३) वक्रोक्ति

(४) अलंकार

(५) प्रतीक और प्रतीक-योजना

(६) रीति, वृत्ति और गुण

इन छः शीर्षकों में रखकर किया गया है।

---

१. 'सूर की भाषा', डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पृ० ४८४ से ४८८ तक।

१. शब्द-शक्ति

कवि की अभिव्यक्ति-कला का परिचय उसके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शब्दों तथा उनमें गुम्फित विविध अर्थों का बोध कराने वाली शक्तियों द्वारा प्राप्त होता है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यही शक्तियां 'शब्द-शक्ति' नाम से अभिहित की गई हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियां कवि के अभीष्ट अर्थ तक पहुंचने में सहायक होती हैं। शब्द की शक्तियां होने के कारण इनका सीधा सम्बन्ध भाषा से है। इसी कारण शब्द विशेष से लेकर व्यंजित अर्थ तक इनका विस्तार है। 'साक्षात् संकेतित' अर्थ का बोध अभिधा द्वारा होता है 'वक्ता, बोधव्य आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाली' (आर्थी) व्यंजना कहलाती है। आर्थी व्यंजना से सूचित व्यंग्य शब्द विशेष पर अवलम्बित नहीं रहता।[१] इसी कारण यह भाषा के क्षेत्र से बाहर है। अस्तु, कबीर की भाषा के अभिव्यक्ति-सामर्थ्य का विवेचन अभिधा से लेकर शाब्दी व्यंजना तक ही सीमित रखकर किया जाएगा। कबीर-काव्य में इनका प्रचुरता से प्रयोग उपलब्ध होता है।

(१) **अभिधा**—भाषा का महत्त्वपूर्ण कार्य शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना है। अभिधा शक्ति इसी कार्य को पूरा करती है। किन्तु इसका क्षेत्र संकेतित अर्थ के बोध कराने तक ही सीमित है। योग्य, उपपन्न और प्रकरण सम्बद्ध अर्थ इसी के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। संकेतित अर्थ ही वाच्यार्थ कहलाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इन्दौर वाले भाषण में काव्य की रमणीयता इसी वाच्यार्थ में स्वीकार की।[२] डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के इस कथन पर विचार करते हुए लिखा है—'मानो जीवन भर विरोध करते करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"[३] किन्तु शुक्ल जी का कथन अनायास ही कहा गया किसी दुर्बल क्षण का कथन नहीं माना जा सकता क्योंकि इसी से मिलती जुलती बात हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उन्होंने वर्णित की थी—"उक्ति ही कविता है उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं है।"[४] इस विषय का अत्यन्त विस्तृत विवेचन डॉ० जयचन्द राय ने अपने शोध

---

१. का० द०, रामदहिन मिश्र, पृ० ३८
२. चि०, भाग २, पृ० १६६-१६७
३. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल—डॉ० स्नातक, गुलाबराय, पृ० ११६
४. हि० सा० इ०, पृ० ५७२

प्रबन्ध में किया है।[१] प्रस्तुत विवेचन में उस पूरे विस्तार की अपेक्षा नहीं। किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि शुक्ल जी के कथन को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद रहा है। सत्य यह है कि शुक्ल जी ने एक ओर काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में मानी और दूसरी ओर व्यंग्यार्थ के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया। वे मूलत: रस-वादी आचार्य हैं और रस व्यंग्य ही होता है। इन दोनों कथनों में विरोध नहीं है। इससे स्पष्ट संकेत यही मिलता है कि व्यंग्यार्थ के साथ वाच्यार्थ (अभिधा द्वारा प्राप्त अर्थ) का भी महत्व है। इसी आधार पर अभिधा शक्ति का शब्द-शक्तियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभिधा का शब्द से सीधा और निकट का सम्बन्ध होता है। शब्द द्वारा केवल अर्थ ग्रहण ही कवि का लक्ष्य नहीं होता वह बिम्ब-ग्रहण भी कराता है।[२] अर्थ-ग्रहण और बिम्ब-ग्रहण दोनों ही अभिधा के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस शक्ति द्वारा "जिन वाचक वा शक्त शब्दों का अर्थ बोध होता है उन्हें क्रमश: रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ कहते हैं।"[3] कबीर-काव्य में तीनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

कबीर-काव्य के दो भाग हैं—एक पद और रमैनियों का तथा दूसरा साखियों का। हठयोगियों के सांकेतिक शब्दों के आधार पर अद्भुत रूपक बांधने का प्रयास पदों और रमैनियों में किया गया है। उलटबासियां भी अधिकांशत: पदों में ही हैं। साखियों में सांकेतिक शब्दावली का केवल उल्लेख मात्र किया गया है। उनमें साम्प्रदायिक शिक्षा व उपदेश देने की प्रवृत्ति प्रबल है। किन्तु उसे भी लाक्षणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। यहां तक कि सर्वसाधारण में प्रचलित 'कबीर गरबु न कीजिऍ, काल गहे कर केस' (सा० १५-४४-१) जैसी उक्तियों में भी लक्षणा का ही चमत्कार है। अत: लाक्षणिक ढंग से बात कहने में ही कबीर की स्वाभाविकता थी। फिर भी अभिधा के उदाहरण कबीर-काव्य में अनन्त हैं। यथा—

"कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ।
रांम कहें भला होइगा, नातर भला न होइ॥"[४]

अत्यन्त सीधी सादी शब्दावली में राम नाम की महिमा का प्रतिपादन इस दोहे में कबीर ने किया है। इसी प्रकार के उदाहरण पद और रमैनियों में भी उपलब्ध हो जाते हैं:—

"भाग जाकै संत पाहुनां आवें।
द्वारै रचिहैं कथा कीरतन हिलिमिलि मंगल गावैं।"[५]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १०५-१११
२. चि०, भाग २, पृ० २
३. का० द०, रामदहिन मिश्र, पृ० २०
४. सा० ३-२५ ५. ३३-१, २

"कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरबांन ।"[१]

ऊपर कहा जा चुका है कि अभिधा द्वारा जिन अर्थों का बोध होता है वे रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ कहलाते हैं । कबीर-काव्य में प्रयुक्त तीनों प्रकार के शब्दों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

रूढ़ शब्द—कबीर ने जिन रूढ़ शब्दों का प्रयोग किया है वे दो प्रकार के हैं । एक सामान्य रूढ़ जैसे—करम (कर्म),[२] घर[३] प्रभु,[४] प्रीति[५] आदि और दूसरे पारिभाषिक रूढ़ शब्द जैसे—गंगा (इड़ा),[६] जमुनां, (पिंगला),[७] दुलहिनीं (आत्मा)[८] आदि ।

यौगिक शब्द—

"कोई जांनैं **जांननहारौ** ।"[९]
"अवधू दुखिया **भूपति** दुखिया ।"[१०]
"**बनमाली** जांनैं बन कै आदि ।"[११]
"जो **सतगुर** दिया बताइ ।"[१२]

योगरूढ़ शब्द—

"मांनौं मिले **गोपाल** ।"[१३]
"तिनकी पद **पंकज** हंम धूरि ।"[१४]
"**परमातम** लै चीन्हि ।"[१५]

इन उदाहरणों में 'गोपाल', 'पंकज', 'परमातम' शब्द यौगिक (गो+पाल, पंक+ज, परम+आतम) भी हैं और रूढ़ि के कारण इनका क्रमशः कृष्ण, कमल और राम (ईश्वर) अर्थ भी ग्रहण किया जाता है ।

(२) **लक्षणा**—लक्ष्यार्थ लक्षित करने में कबीर सिद्धहस्त हैं । लोकभाषा के कवि होने के कारण अत्यधिक स्वाभाविक ढंग से अपनी बात दूसरों तक पहुंचाना ही उनका उद्देश्य था । ऐसी स्थिति में आम बोलचाल में प्रयुक्त मुहावरों का समर्थ प्रयोग उन्होंने किया है । मुहावरों के पीछे प्रायः लक्षणा ही होती है । अतः कबीर के द्वारा प्रयुक्त इन मुहावरों में विभिन्न लक्षणाओं के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं । रूढ़ि, प्रयोजनवती दोनों प्रकार की लक्षणाओं के उदाहरण कबीर-काव्य

---

१. र० ७-७ २. १०-३ ३. ८०-८
४. ४०-२ ५. सा० ४-३०-१ ६. सा० १९-१०-१
७. १२३-५ ८. ५-१ ९. १७६-२
१०. ९०-६ ११. १४१-१ १२. सा० १६-२०-२
१३. सा० ४-३९-२ १४. ३०-४ १५. सा० २७-२-२

में बिखरे पड़े हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के अनेक भेदोपभेदों की चर्चा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में की गई है। उनके उदाहरण आगे प्रस्तुत किए गए हैं।

(क) **रूढ़ि—**

"मंगलचार मांहि मन राखौं। रांम रसांइन रसनां चाखौं ॥१॥"[1]

इसमें 'मन राखौं' वाक्य-खंड का अर्थ बाधित है। क्योंकि मन रखने की वस्तु नहीं है। रूढ़ि से ही इसका तत्सम्बन्धी अर्थ किया जाता है 'मन लगाना'। अतः यहां रूढ़ि लक्षणा का चमत्कार है। इसी प्रकार—

"माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ।"[2]

'माया, मोह, धन, जोबन' द्वारा सब लोगों को बांधने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि इन सूक्ष्म तत्त्वों से व्यक्तियों को बांधना सम्भव नहीं। रूढ़ि द्वारा ही तत्सम्बन्धी अर्थ —माया, मोह, धन, यौवन से प्रभावित होना—लक्षित होता है।

साखियों में रूढ़ि लक्षणा का विशेष चमत्कार दिखाई देता है। जैसे :—

"कबीर कुल सोई भला, जिहि कुल उपजै दास।"[3]

"दास उपजता' नहीं है। मुख्यार्थ बाध होने पर ही उसका तत्सम्बन्धी अर्थ 'उत्पन्न होना' रूढ़ि के कारण ग्रहण किया गया है।

(ख) **प्रयोजनवती—**

प्रयोजनवती लक्षणा के विभिन्न भेदों के आधार पर कबीर-काव्य से उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

गौणी लक्षणा—

"जिहि घटि रांम रह्या भरपूरि। तिनकी पद पंकज हंम धूरि ॥२॥"[4]

'पद' और 'पंकज' दो भिन्न पदार्थ हैं। दोनों एक नहीं हो सकते। अतः इनमें मुख्यार्थ का बाध है। किन्तु दोनों के गुण में समानता है। राम के पद उसी प्रकार कोमल और शीतलता प्रदान करते हैं जिस प्रकार पंकज। इसी गुण-साम्य के आधार पर पद को पंकज माना गया है। मुख्यार्थ बाध होने पर सादृश्य सम्बन्ध के कारण दोनों पदार्थों में समानता होने के कारण ही यहाँ गौणी लक्षणा है।

रमैनियों और साखियों में भी इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं, यथा—

"भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै सूल ॥"[5]

---

१. ६-३ २. र० १४-८ ३. सा० ४-९-१
४. ३०-४ ५. र० १-७

"कबीर मन मधुकर भया, करै निरंतर बास।"[१]

'संसै' (संशय) और 'सूल' (शूल) दो भिन्न पदार्थ हैं। इसी प्रकार 'मन' और 'मधुकर' भी एक नहीं हो सकते। किन्तु गुणों की समानता होने के कारण संशय को शूल और मन को मधुकर माना गया है। मुख्यार्थ बाध होने पर सादृश्य सम्बन्ध के कारण दोनों पदार्थों में भिन्नता न रहने के कारण गौणी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा—कबीर-काव्य में सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्बन्धों से भी लक्ष्यार्थ का बोध होता है। कुछ के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

(अ) अंगांगिभाव सम्बन्ध से—

"कर गहि केस करै जो घाता।"[२]

"सुमिरन करहू रांम का, काल गहे कर केस।"[३]

"भौसागर मैं बूड़ते, कर गहि काढ़ै केस।"[४]

केश हाथ से नहीं पकड़े जाते बल्कि हाथ के अग्रभाग अर्थात् अंगुलियों से पकड़े जाते हैं। अंगुलियों को कर कहने में मुख्यार्थ बाध है। कर का अंगुली लक्ष्यार्थ अंगांगिभाव सम्बन्ध से ज्ञात होता है।

(आ) आधाराधेयभाव सम्बन्ध से—

"सब जग ही मरि जाइयो।"[५]

"याही तैं जो अगम है, सो बरति रहा संसार।"[६]

"संसै खाया सकल जग, संसा किनहुं न खद्ध।"[७]

'जग का मरना', 'संसार का बरति रहना' तथा 'जग को खाना' सम्भव नहीं है। अतः यहां आधाराधेय भाव सम्बन्ध से जग या संसार का अर्थ जग में रहने वाली जनता या संसार में स्थित पदार्थों से है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में ही संसार की नश्वरता को व्यक्त करना प्रयोजन है।

उपादान लक्षणा कबीर की कविताओं में इस लक्षणा का चमत्कार विशेष द्रष्टव्य है। विशेषकर पदों में इसका सौंदर्य अत्यधिक है। उदाहरणार्थ—

"बजर परौ इहि मथुरा नगरी कान्ह पियासा जाई रे।"[८]

'पियासा' शब्द का यहां लक्ष्यार्थ है—अतृप्त रहना। किन्तु प्यासे रहने का अर्थ भी छूट नहीं पाया है। अतः वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित होने पर भी अपना अर्थ बना हुआ है। इसी प्रकार एक अन्य पद में—

"बूड़े बहुत सियांनां।"[९]

---

१. सा० ६-१६-१ २. ३७-३ ३. र० १२-८
४. सा० ५-३-२ ५. ११०-८ ६. र० ३-१०
७. सा० १-७-१ ८. १३१-६ ९. ६९-१०

'बूड़े' शब्द द्वारा अपना अर्थ 'डूबना' न छूटने पर भी लक्ष्यार्थ 'नष्ट होना' लक्षित होता है।

"अंधै अंधा ठेलिया, दोन्यूं कूप परंत ।।"[१]

कूप में पड़ने का लक्ष्यार्थ 'बुराइयों में पड़ना' है। किन्तु कूप में गिरने का' अर्थ भी छूट नहीं पाया है। अन्य अर्थ के लक्षित होने पर भी अपना अर्थ बना हुआ है इसी कारण उपादान लक्षणा का चमत्कार है।

लक्षण लक्षणा—पदों और साखियों में इस लक्षणा के उदाहरण यत्र-तत्र ही मिलेंगे। दोनों का एक-एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा—

"नाचु रे मन मेरो नट होइ।"[२]

'मन का नाचना' सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ की बाधा है। 'नाचु रे मन अपना अर्थ छोड़कर 'आनन्द मंगल मनाना' अर्थ लक्षित करता है। इससे लक्षण लक्षणा है।

साखियों में भी इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं। यथा—

"अंक भरे भरि भेंटिया, मन नहिं बांधै धीर।"[३]

मन द्वारा धैर्य बांधने में मुख्यार्थ की बाधा है। यहां वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ—'संतोष प्राप्त न होना' सूचित कर रहा है। अतः लक्षण लक्षणा का ही सौन्दर्य है।

सारोपा लक्षणा—

"कांमु किंवार दुख सुख दरबांनीं पाप पुन्नि दरवाजा।"[४]

यहां 'कांमु' पर 'किंवार' का, 'दुख सुख' पर 'दरबांनीं' का, तथा 'पाप पुन्नि पर 'दरवाजा' का आरोप है। साथ ही आरोप्यमाण और आरोप के विषय दोनों का शब्द द्वारा कथन किया गया है। अतः सारोपा लक्षणा विद्यमान है।

रमैनियों और साखियों में भी इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं। जैसे—

"गुर परसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल।"[५]

"माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि मांहि पड़ंत।"[६]

'संसै (संशय) पर 'सूल' (शूल) का, 'माया' पर 'दीपक' का, 'नर' पर 'पतंग' का आरोप है। आरोप्यमाण तथा आरोप के विषय दोनों के गुणों में समानता है। साथ ही दोनों की शब्द द्वारा उक्ति है इस कारण सारोपा लक्षणा का चमत्कार है।

---

१. सा० १-६-२   २. १४-१   ३. सा० ६-२६-१
४. २५-३   ५. र० १८-८   ६. सा० १-२६-१

साध्यवसाना लक्षणा—कबीर के पदों में इसके प्रयोग परम्परागत है। उलटबांसियों के माध्यम से बात कहना बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। विशेषकर नाथपंथियों ने इस प्रकार से अपनी बात कही थी। गोरखनाथ आदि से प्रभावित होने के कारण कबीर ने भी उलटबांसियों का आश्रय ग्रहण किया है। इस प्रकार के पदों में इसी लक्षणा का चमत्कार है। यथा—

"पहिलै पूत पिछै भई माई। चेला कै गुर लागै पाई।"[1]

'पूत', 'माई', 'चेला', 'गुर' प्रतीकात्मक हैं। ये केवल आरोप्यमाण हैं। आरोप के विषय का कथन नहीं है। विषयी में ही विषय का अध्यवसान हो जाने से साध्यवसाना लक्षणा है।

रमैनियों तथा साखियों में इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम हैं। यथा—

"सूर समांनां चांद मैं, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया कछु पूरबला लेख।"[2]

'सूर' और 'चांद' क्रमशः पिंगला और इड़ा नाड़ी के प्रतीकात्मक शब्द हैं। विषयी में ही विषय का अध्यवसान हो जाने से साध्यवसाना लक्षणा का चमत्कार है।

(३) **व्यंजना**—व्यंजना का क्षेत्र व्यापक है। किन्तु पहले भी कहा जा चुका है कि आर्थी व्यंजना से सूचित व्यंग्य शब्द विशेष पर अवलम्बित नहीं रहता। अतः आर्थी व्यंजना प्रस्तुत विवेचन के अन्तर्गत नहीं है। भाषा के अन्तर्गत केवल शाब्दी व्यंजना का ही चमत्कार वर्णित किया जा सकता है। इसी कारण कबीर-काव्य में प्रयुक्त 'शाब्दी व्यंजना' के ही उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। 'शाब्दी व्यंजना' के दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—

"चउथै पद कौं जो जन चीन्हैं तिनहीं परम पदु पाया।।
चिंतै तौ माधव चिंतामनि हरि पद रमैं उदासा।
चिंता अरु अभिमांन रहित है कहै कबीर सो दासा।।"[3]

अन्तिम 'पद' श्लिष्ट शब्द है। उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। यहां 'पद' शब्द में 'पैर' का अर्थ बोध कर ने वाली जो शक्ति है वह व्यंजना है और शब्द-विशेष पर ही वह आधृत है। इसी कारण अभिधामूलक है। इससे ध्वनि निकलती है कि माधव चिंतामनि हैं अतः उन्हीं के चरणों में मन लगाना चाहिए तभी मोक्ष प्राप्त होगा। यह ध्वनि अभिधामूला व्यंजना द्वारा ही व्यंजित होती है।

---

१. ११६-३ २. सा० २-२०-१,२ ३. ३२-६, ७, ८

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—

"रांम जपत तनु जरि किन जाइ।
रांम नांम चितु रह्यौ समाइ।।"[1]

'जरि' का अर्थ जलना है। 'तनु जरि' में मुख्यार्थ की बाधा है। अतः इसके मूल में लक्षणा है। साथ ही विरह के कारण संतप्त होने का भाव व्यंजित होता है। यही इसका व्यंग्य है। इस प्रकार यहां लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना है।

---

१. २१-१,२

२. ध्वनि

ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा पांच विभिन्न अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार हुआ है– व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्य अर्थ, व्यंजना (व्यंजना व्यापार) और व्यंग्य प्रधान काव्य।[१] ये पांचों अर्थ भिन्न होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं। सामान्य काव्यशास्त्रीय भाषा में ध्वनि का अर्थ व्यंग्य अथवा व्यंग्यार्थ है। किन्तु प्रत्येक व्यंग्यार्थ ध्वनि की विशिष्ट सीमा के अन्तर्गत नहीं है। चमत्कारी या रमणीय व्यंग्य ही इस रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसी कारण साहित्यदर्पण-कार ने 'वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः'[२] कहा है। इसी वाच्यातिशय्य को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण दिया—"वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।"[३] ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य ने "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"[४] लिखकर एक ओर ध्वनि के महत्त्व की प्रतिष्ठा की दूसरी ओर यह भी सूचित किया कि ध्वनि की चर्चा इनसे पूर्ववर्ती पण्डितों में थी। बाद में काव्यप्रकाशकार मम्मट की प्रबल युक्तियों द्वारा इस सम्प्रदाय को विशेष बल प्राप्त हुआ जिनसे ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधियों के मत का खण्डन भी हुआ और ध्वनि की पुनः स्थापना भी हुई।

"ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यंजना की स्थापना है।"[५] क्योंकि ध्वनि का विशाल भवन शब्दशक्तियों के आधार पर ही निर्मित किया गया है। व्यंजना इसकी आधारशिला है और व्यंजना के साथ अभिधा तथा लक्षणा भी सहायक रही हैं। इसी के फलस्वरूप ध्वनि के दो भेद किए गए—अभिधामूला और लक्षणा-मूला। इन्हें ही दूसरे शब्दों में क्रमशः विवक्षित-वाच्य-ध्वनि और अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि कहा गया है। इन दोनों के भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ध्वनि-भेदों के विवेचन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तीन हैं— लोचन टीका, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण। लोचनकार ने ध्वनि के पैंतीस शुद्ध भेदों की गणना की है—

---

१. हि० ध्व०, भूमिका, पृ० २४
२. सा० द०, पृ० १२६
३. हि० ध्व०, भूमिका, पृ० २४
४. हि० ध्व० १, १
५. हि० ध्व०, भूमिका, पृ० ३०

"......अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्ण-पद-वाक्य-संघटना-प्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पंचत्रिंशद् भेदाः।"[1]

इसके विपरीत काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने ५१ शुद्ध भेदों का उल्लेख किया है—

"भेदास्तदेकपंचाशत्।"[2]
"तदेवमेकपंचाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।"[3]

एक ध्वनि में दूसरी ध्वनियों के न मिले होने के कारण इन्हें शुद्ध भेदों की संज्ञा दी गयी है। एक ध्वनि में दूसरी ध्वनियों के मिश्रण के आधार पर लोचनकार ने ध्वनि के ७४२० भेद दिखलाये हैं।[4] लोचनकार की गणना दोषपूर्ण है।[5] इसके विपरीत काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के १०४५५ और साहित्यदर्पणकार ने ५३५५ भेदों का उल्लेख किया है। काव्यप्रकाश में गुणनप्रक्रिया तथा साहित्यदर्पण में संकलन प्रक्रिया को अपनाया गया है।[6] इसी गणन-प्रक्रिया के भेद के कारण इनकी संख्याओं में अन्तर आ गया है। भेद प्रभेद की सम्पूर्ण योजना में काव्यशास्त्रीय विभिन्न पक्षों को ध्वनि में समाहित करने का उद्देश्य परिलक्षित होता है। कबीर की भाषा का ध्वनि के आधार पर अध्ययन करते समय इस विस्तृत प्रपंच की अपेक्षा नहीं। अतः अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बद्ध प्रमुख भेदों का ही प्रस्तुत प्रसंग में आधार ग्रहण किया गया है। काव्य-शास्त्रीय परम्पराओं से दूर रहते हुए भी कबीर-काव्य का ध्वनि-सिद्धान्त से अनिवार्य और प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कबीर मूलतः रहस्यवादी कवि हैं इसमें सन्देह नहीं। डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन इस विषय में द्रष्टव्य है—"कबीर की बानी" को आद्योपान्त पढ़ जाने

---

१. ध्वन्यालोक की लोचन टीका द्वितीय उद्योत की इकतीसवीं कारिका की व्याख्या पृ० २८१

२. का० प्र०, वि०, ४, सूत्र ६२, पृ० १८६

३. सा० द० ४, ११; पृ० १४७

४. "तावत् पंचत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्तसहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि भवन्ति।"—ध्वन्यालोक की लोचन टीका, तृतीय उद्योत की तेंतालिसवीं कारिका की व्याख्या, पृ० ५०२

५. इसके विस्तृत उल्लेख के लिए देखिए का० प्र०, वि०, पृ० १९०

६. का० प्र०, वि०, पृ० १९१-१९३

पर ज्ञात हो जाता है कि वे सच्चे रहस्यवादी थे।"[1] उनकी अपनी रहस्यानुभूतियां ही उनके काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं। इन अनुभूतियों में साधनात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद का सामंजस्य है।[2] डॉ० नगेन्द्र ने स्पष्ट संकेत किया है कि—"रहस्यानुभूतियों का कथन नहीं हो सकता, व्यंजना ही हो सकती है। इसलिए कबीर ने अपने रहस्यानुभव को गूंगे का गुड़ बताते हुए सैना-बैना के द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति सम्भव मानी है। सैना-बैना का स्पष्ट अर्थ है सांकेतिक भाषा अर्थात् व्यंजना प्रधान भाषा।"[3] अतः कबीर-काव्य में ध्वनि के उदाहरण प्रभूत मात्रा में हैं।

ध्वन्याचार्यों ने ध्वनि के दो प्रधान भेद किए हैं—अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि और विवक्षित-वाच्य-ध्वनि। लक्षणा तथा अभिधा पर आधारित होने के कारण इन्हें क्रमशः लक्षणामूला और अभिधामूला भी कहा गया है। कबीर-काव्य से दोनों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(१) **अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि**—इसके दो भेद किए गए—अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत। वाच्यार्थ की विवक्षा न रहने पर जब यह वाच्यार्थ

---

१. कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६; इसी प्रकार की अन्य उक्तियां भी हैं—
(क) "कबीर का रहस्यवाद बहुत गहरा है।"
—कबीर का रहस्यवाद, पृ० २६
(ख) "इस प्रकार रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।" —वही, पृ० २६

२. (क) साधनात्मक—"इसी प्रकार उन्होंने (कबीर ने) हठयोगियों के **साधनात्मक रहस्यवाद** के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे, चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, औंधा कुआं) को लेकर अद्भुत रूपक बांधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं।"
—हि० सा० इ०, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७८
(ख) भावात्मक—"कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर **भावात्मक रहस्यवाद** की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है।"
—हि० सा० इ०, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७६

३. हि० ध्व०, भूमिका पृ० छप्पन, इस कथन की आधारस्वरूप कबीर की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है—
"कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया पूछें तैं क्या कहिए" १६६-८

दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है तब अर्थान्तरसंक्रमित तथा जब पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है तब अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि कहलाती है। दोनों ही कहीं पदगत और कहीं वाक्यगत होती हैं। कबीर की कविता से इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(क) **अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि**—

"नां कछु किया न करहिंगे, नां करनैं जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर।।"[1]

यहां द्वितीय बार प्रयुक्त 'कबीर' शब्द का यदि कबीर अर्थ ग्रहण किया जाये तो पुनरुक्तिदोष आ जाता है। अतः वाच्यार्थ अनुपयोगी है, बाधित है। द्वितीय बार के 'कबीर' शब्द का वाच्यार्थ 'श्रेष्ठ, बड़ा, जीवनमुक्त' इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। कबीर का 'हरि' के प्रति अटूट विश्वास तथा भक्ति-भावना की सफलता इससे ध्वनित होती है। केवल 'कबीर' पद में ध्वनि है अतः यहां पदगत अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि है। इसी प्रकार —

"हौं वारी मुख फेरि पियारे।
करवट दै मोहिं काहे कौं मारे।।टेक।।"[2]

'करवट दै' में मुख्यार्थ की बाधा अवश्य है किन्तु अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत न होकर दूसरे अर्थ में संक्रमण कर गया है। अतः मुख्यार्थ के साथ 'विरुद्ध होना' यह अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है। इसी प्रकार—

"जाका गुरु है आंधरा, चेला है जाचंध।
अंधै अंधा ठेलिया, दोन्यूं कूप परंत।।"[3]

गुरु और चेले दोनों के कूप में पड़ने का वाच्यार्थ 'संसार में लिप्त होकर नष्ट हो जाने' व्यंग्यार्थ में संक्रमण कर जाता है। संसार से मुक्ति पाने के लिए ज्ञानवान गुरु की आवश्यकता है यह अर्थ इससे ध्वनित होता है। 'कूपपरंत' वाक्य में ध्वनि होने के कारण यहां वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि है।

(ख) **अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि**—

"भौसागर जल बिख भरा, मन नहिं बांधैं धीर।
सबल सनेही हरि मिला, तब उतरा पारि कबीर।।"[4]

इसमें प्रथम पंक्ति का वाच्यार्थ है—"संसार रूपी सागर में विष रूपी जल भरा है मन धैर्य नहीं बांधता।" किन्तु न तो धैर्य बांधा ही जा सकता है और न

---

१. सा० ८-१ २. १६-१,२ ३. सा० १-६
४. सा० ८-६

मन बांध हीसकता है। अतः इसका व्यंग्यार्थ है -'संतोष प्राप्त न करना।' यहां 'बांधैं' शब्द के वाच्यार्थ का बाध होने के कारण सर्वथा छोड़कर इसका लक्ष्यार्थ 'प्राप्त करना' ग्रहण किया जाता है जिससे संसार सागर में डूबने का भय और मन की व्याकुलता ध्वनित होती है। 'बांधैं' पद में ध्वनि होने के कारण यहां पदगत अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है। एक अन्य उदाहरण है—

"मन जीतें जग जीतिश्रै जौ बिखिया तैं रहै उदास"।[1]

'जीतें' शब्द का अर्थ जीतना न होकर लक्षणा की सहायता से 'अधिकार में करना' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यंग्यार्थ है मन को अधिकार में कर लेने पर अथवा मन की चंचलता को वशीभूत कर लेने पर संसार ही जीत लिया जाता है। 'जीतें' पद में ध्वनि के कारण पद-गत अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है। वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है—

"हरि जस सुनहिं न हरि गुन गावहिं। बातन ही असमांनु गिरावहिं।"[2]

'बातन ही असमांनु गिरावहिं' इस सम्पूर्ण वाक्य का ही वाच्यार्थ सर्वथा असमर्थ है। क्योंकि आकाश न तो गिराया जा सकता है फिर बातों से तो यह कार्य पूर्णतया अशुद्ध है। लक्षणा से इसका अर्थ होगा व्यर्थ की बातें करना। 'व्यर्थ की बातें न करके हरि के यश सुनने और गुण गाने की ओर प्रेरित करना' इसका व्यंग्यार्थ है। सम्पूर्ण वाक्य में ध्वनि होने केकारण यहां वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है।

(२) **विवक्षितान्यपर-वाच्य-ध्वनि**—इसके दो भेद किए गए— असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। वाच्यार्थ विवक्षित होने पर जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर्य क्रम सम्यक् रूप से लक्षित न हो तो असलक्ष्यक्रम और पूर्वापर्यक्रम सम्यक् रूप से लक्षित होने पर संलक्ष्यक्रम-वाच्य-ध्वनि होती है। सम्पूर्ण रस-प्रपंच असंलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत है अतः वह प्रस्तुत वर्णन की सीमा के अन्तर्गत नहीं है। संलक्ष्यक्रम कहीं शब्द के, कहीं अर्थ के और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित होता है। भाषा के विवेचन में शब्दाश्रित संलक्ष्यक्रम ही अपेक्षित है। इसे ही दूसरे शब्दों में 'शब्द-शक्ति-उद्भव' भी कहा गया है। 'वस्तु ध्वनि और 'अलंकार ध्वनि' इसके दो भेद किए गए जो कहीं पदगत और कहीं वाक्यगत होते हैं। कबीर-काव्य से इन्हीं के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इनके काव्य में पूर्ण सफलता से इनका प्रयोग मिलता है।

---

१. १७३-६ २. १६७-३

(क) **शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि**—

"ऊजड़ खेड़े ठीकरी, गढ़ि गढ़ि गए कुम्हार।
रांवन सरिखा चलि गया, लंका का सिकदार।"[1]

यहां पहले वाच्यार्थ का बोध होता है कि कुम्हार ठीकरियों को गढ़ गढ़ कर मर गए यहां तक कि लंका का स्वामी रावन सरीखा भी इस संसार से चला गया। इस वाच्यार्थ के बोध हो जाने पर 'रावन सरिखा' शब्द से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि रावण सदृश्य वैभवशाली, शक्तिशाली और बुद्धिमान् व्यक्ति जब संसार से चला गया तब और की तो बात ही क्या। संसार की असारता और नश्वरता को प्रगट करना दोहे का व्यंग्यार्थ है। शब्द के आश्रय से ही यहां व्यंग्यार्थ में और अधिक शक्ति उत्पन्न हो गई है साथ ही व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार प्रतीत नहीं होता। अत: यहां शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि है जो पदगत है।

(ख) **शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि**—

जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि बिडरत नांहिं बिडारे॥
अपनैं अपनैं रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमांन बदत नहिं काहू बहुत लोग पचि हारे॥[2]

'यत्न के बिना मृग खेत उजाड़ रहे हैं, टालने से भी नहीं टलते, भगाने से भी नहीं भागते, सब अपने अपने रस के लोभी हैं, सबके भिन्न-भिन्न कार्य हैं, सब लोग इन्हें समझा कर हार गए हैं।" इस वाच्यार्थ का बोध अभिधा शक्ति द्वारा ही हो जाता है। तदनन्तर इस वाच्यार्थ द्वारा शरीर और इन्द्रियपरक अर्थ ध्वनित होता है कि इस शरीर को विभिन्न इन्द्रियां नष्ट किए जाती हैं, इनके भिन्न-भिन्न विषय हैं, विभिन्न रसों की ये लोभी हैं, ये नियन्त्रण करने से भी अपना कार्य नहीं छोड़तीं। यहां खेत और मृग पक्ष तथा शरीर और इन्द्रिय पक्ष में वाक्य की असम्बद्धार्थकता न हो जाय इस कारण प्राकरणिक (खेत और मृग पक्ष) तथा अप्राकरणिक (शरीर और इन्द्रिय पक्ष) के उपमेय-उपमान भाव की कल्पना की जाती है। इसलिए यहां रूपक अलंकार व्यंग्य है। 'मृग', 'खेत' और 'रस' पदों के एक साथ प्रयोग से ही इसका व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। अत: यहां पदगत शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि है। इसी प्रकार—

"कुल खोएं कुल ऊबरै, कुल राखें कुल जाइ।
रांम निकुल जब भेटिया, सब कुल रहा समाइ।"[3]

---

१. सा० १५-६४ २. ६१-१, २, ३, ४ ३. सा० १५-३७

कुल खोने से कुल उबरना, कुल रखने से कुल जाना और निकुल होने से सब कुल समा जाने में विरोध प्रतीत होता है। किन्तु कुल का 'सांसारिक वैभवपूर्ण प्रलोभन' तथा 'सारतत्त्व प्रभु' व्यंग्यार्थ ग्रहण कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है। अतः विरोधाभास अलंकार के व्यंग्य होने से तथा उसीका प्राधान्य विवक्षित होने से यहां शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि है।

३. वक्रोक्ति

वक्रोक्ति शब्द प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में तीन विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुआ है :—

(१) काव्य की आत्मा रूप में[१]
(२) शब्दालंकार रूप में[२]
(३) अर्थालंकार रूप में[३]

काव्य की आत्मा रूप में प्रतिष्ठित कर कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की ही स्थापना की। उनकी इस मान्यता के प्रेरक तत्त्व भामह और दण्डी के ग्रन्थों में विद्यमान हैं। भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर शब्द और अर्थ

---

१. "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥"
कुन्तक, हि० व० जी०, १।७

२. (क) "वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥"
रुद्रट, काव्यालंकार, २।१३

(ख) "गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह :—
यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।"
मम्मट, का० प्र०, ९।७८

(ग) विश्वनाथ ने अनुप्रासादि शब्दालंकारों के साथ ही वक्रोक्ति का उल्लेख किया है।
—सा० द०, १०।९, पृ० २८०

३. (क) "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।"
वामन ने अर्थालंकारों के साथ वक्रोक्ति का उल्लेख कर सादृश्य-निमित्तक लक्षणा को ही वक्रोक्ति कहा है।
—हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, ४।३।८

(ख) रुय्यक, अलंकारसर्वस्व, पृ० २१९

(ग) जयदेव, चन्द्रालोकः, ५।१११, पृ० १८०

(घ) अप्पयदीक्षित, हिन्दी कुवलयानन्द, पृ० २५९

दोनों की ही वक्रता इसमें समन्वित की थी।[१] दण्डी ने भी अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में वक्रोकित को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए इसे काव्य का अनिवार्य माध्यम स्वीकार किया।[२] किन्तु दण्डी के पश्चात् वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने केवल विशिष्ट अलंकार रूप में ही इसका वर्णन किया। कुन्तक द्वारा व्यापक रूप में प्रतिष्ठा के पश्चात् भी साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द व्यापक अर्थ में स्वीकृत न होकर विशिष्ट अलंकार अर्थ में ही रूढ़ हो गया। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्य कवियों में इस बात पर तो मतभेद रहा है कि वक्रोक्ति को अर्थालंकार वर्ग के अन्तर्गत परिगणित किया जाय अथवा शब्दालंकार के। किन्तु व्यापक अर्थ में ग्रहण करने का वहां प्रयास ही नहीं किया गया। केशव, जसवन्तसिंह, भूषण, मतिराम इसे अर्थालंकार तथा चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ आदि शब्दालंकार मानने के पक्ष में रहे।[३] आधुनिक काल में कन्हैयालाल पोद्दार तथा रामदहिन मिश्र ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार वर्ग के अन्तर्गत रखा है,[४] जबकि मिश्रबन्धुओं ने अर्थालंकार वर्ग के।[५] आधुनिक युग के समर्थ चिन्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चमत्कार का सम्बन्ध मनोरंजन से मानते हुए वक्रोक्ति को संकुचित अर्थ में ग्रहण कर वक्रता पर निर्मम प्रहार किया।[६] किन्तु भावोद्रेक से कथन में उत्पन्न बांकपन को उन्होंने काव्य की रमणीयता के भीतर माना।[७] साथ ही भावानुमोदित वचन-भंगी या वक्रता को स्वीकार किया[८]। छायावादी काव्य-विशेषताओं से सम्बन्ध होने के कारण जयशंकर प्रसाद ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में स्वीकार करते हुए उसे समग्र रूप में ग्रहण किया।[९] तथा छायावाद की विशेषताओं में 'उपचार वक्रता'

---

१. "वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।"
काव्यालङ्कारः १।३६

२. 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"
हिन्दी काव्यादर्श, २।३६३

३. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ४३६-४४१

४. अलंकार मंजरी, पृ० ४; का० द०, पृ० ३४६

५. साहित्य पारिजात, पृ० ३२३ से ३२५

६. चि०, भाग १, "कविता क्या है" निबन्ध, पृ० १६८

७. भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृ० ७१

८. चि०, भाग १, "कविता क्या है" निबन्ध, पृ० १७४

९. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', 'यथार्थवाद और छायावाद' निबन्ध, पृ० १२३

का भी उल्लेख किया।[१]

डॉ० नगेन्द्र ने वक्रोक्ति को 'कलावाद' अर्थात् काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व कला या उपस्थापन-कौशल ही है[२] कहकर वर्णित किया है। कला के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित मानते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलंकार सिद्धान्त का ही विकास माना है और वक्रोक्ति का आधार कल्पना को स्वीकार किया है।[३] इस प्रकार उन्होंने वक्रता को काव्य का अनिवार्य माध्यम स्वीकार कर इसके महत्व को प्रतिपादित किया है। अतः कबीर की भाषा का काव्यशास्त्रीय आधार पर अध्ययन करते समय वक्रोक्ति का आधार भी यहां ग्रहण किया गया है। कबीर की कविता में सीधी-सादी अभिव्यक्ति होते हुए भी प्रतिभाजन्य विदग्धता है। उनमें रहस्यभाव की सांकेतिक शैली और प्रतीक विधान में वक्रता की स्पष्ट स्वीकृति है।[४] शुक्लजी ने चमत्कार का विरोध करते हुए भी कबीर की 'चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातों'[५] की प्रशंसा की है।

कुन्तक ने काव्य-सौन्दर्य के सभी रूपों को वक्रोक्ति-भेदों में अन्तर्भूत करने का प्रयत्न किया है। काव्य के लघुतम अंश वर्ण से लेकर महत्तम रूप महाकाव्य तक वक्रोक्ति के ६ भेदों का विकास है। इनमें से प्रथम तीन—वर्णविन्यास, पद-पूर्वार्ध, पदपरार्ध ही प्रस्तुत प्रबन्ध की परिसीमा में आते हैं। वाक्य-वक्रता का सम्बन्ध विषय-वस्तु से है। 'वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है।'[६] प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता की परिधि में प्रबन्ध काव्य है। कबीर की कविताएं मुक्तक रूप में ही प्राप्त होती हैं अतः भाषा के अध्ययन में इन तीनों ही प्रकार की वक्रताओं का विवेचन अप्रासंगिक होगा। प्रथम तीन के भेदप्रभेदों के आधार पर कबीर-काव्य के विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(१) **वर्णविन्यासवक्रता**—वर्णों की आवृत्ति तथा समान वर्ण वाले किन्तु भिन्नार्थक शब्द वर्णविन्यास वक्रता के अन्तर्गत हैं। कबीर-काव्य में दोनों का सौन्दर्य विद्यमान है—

---

१. वही, पृ० १२६
२. हि० व० जी० भूमिका, पृ० २७६
३. वही, पृ० २८०
४. वही, पृ० २५३
५. हि० सा० इ०, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७६
६. हि० व० जी०, भूमिका, पृ० ८५

'बांधना' मूर्त का धर्म है किन्तु यहां माया, मोह, धन तथा यौवन इन अमूर्त तत्त्वों के लिए इसका वर्णन है। अतः मूर्त पदार्थ के धर्म का अमूर्त पदार्थों पर आरोप होने के कारण यहां उपचार-वक्रता है।

"सांचै मन तैं साहिब नेरै झूठै मन तैं भागा।"[१]

"कबीर मारूं मन कौं, टूक-टूक होइ जाइ।"[२]

मन के लिए सच्चा और झूठा विशेषण प्रयोग में तथा मन को मारने और उसके टुकड़े-टुकड़े होना वर्णन में उपचार-वक्रता का सौन्दर्य ही परिलक्षित होता है।

(ख) रूपक के आधार पर—

"चरण-कंवल चित लाइए रांम नांम गुन गाइ।"[3]

कमल का चरण पर आरोप होने के कारण यहां उपचार है। इस प्रकार के उपचार में रमणीय कल्पना का विलास होने से उपचार-वक्रता है।

(४) **विशेषण-वक्रता**—

"ग्रैसे लोगनि सौं का कहिए।
जे नर भए भगति तैं बाहज तिनतैं सदा डरांनैं रहिए॥
हरि जस सुनहिं न हरि गुन गावहिं। बातन हीअसमांनु गिरावहिं।
आप न देहीं चुरुआ पांनीं। तिहि निंदहिं जिन गंगा आंनीं॥"[४]

इस पद में उन लोगों का वर्णन है जिनसे सदैव डरने की बात कबीर ने कही है, पूरे पद की पंक्तियां उन्हीं लोगों के विशेषण रूप प्रस्तुत की गयी हैं। इस प्रकार के वर्णन द्वारा ऐसे मनुष्यों से पृथक् रहने के भाव को अधिक तीव्र किया गया है। भाव उद्बुद्ध करने का आधार विशेषण है इस कारण यहां विशेषण-वक्रता है। रांम के स्वरूप का वर्णन करने में भी इसी प्रकार की वक्रता का आश्रय ग्रहण किया गया है।

(५) **संवृति-वक्रता**—

हमारै गुर बड़े भ्रिंगी॥
आंनि कीटक करत भ्रिंग सो आपतैं रंगी॥ टेक॥
पाइं औरै पंख औरै और रंग रंगी।
जाति पांति न लखै कोई भगत औ भंगी॥[५]

---

१. १६-५
२. सा० २९-११-१
३. १०-१५
४. १६७-१,२,३,४
५. १-१,२,३,४,

यहाँ तीसरी पंक्ति में "औरै" शब्द में कहते-कहते बात का संवरण कर लिया गया है। इस संवरण से गुरु के स्वरूप की अनिर्वचनीयता की व्यंजना कर दी गयी है। अतः यहाँ संवृति-वक्रता है।

इसी प्रकार—

"खसम मरै तौ नारि न रोवै। उस रखवारा अउरो होवै।"[१]

"अउरो रखवारा" कहकर बात कासंवरण कर लिया गया है। अतः संवृति-वक्रता का सौन्दर्य है।

(६) वृत्ति-वक्रता—

"**भवनिधि तरन तारन चिंतामनि** इक निमिख न यह मनु लाया।"[२]

यहाँ समस्त पद-रचना के द्वारा प्रभु-महत्व के वर्णन का सफल प्रयास किया गया है। समास-रचना पर आधृत होने के कारण यहाँ वृत्ति-वक्रता है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के प्रयोग कम ही हैं।

(७) लिंगवैचित्र्य-वक्रता—

"मैं बिरहिनि ठाढ़ी मग जोऊं रांम तुम्हारी आस।"[३]

यहाँ विरह की तीव्रता अभिव्यक्त करने के लिए कबीर ने पुल्लिग होते हुए भी स्त्रीलिंग रूप 'बिरहिनि' का प्रयोग किया है। अतः लिंग-वैचित्र्य-वक्रता का सौन्दर्य है।

इसी प्रकार—

"हरि जननीं मैं बालक तोरा।"[४]

हरि से माता-पुत्र सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त हरि में 'जननीं' का आरोप लिंग-वैचित्र्य-वक्रता पर ही आधृत है।

(८) क्रिया वैचित्र्य-वक्रता—

"संत मिलहिं कछु सुनिऐ कहिऐ।"[५]

"हौं चितवत हौं तोहि कौं, तू चितवत कछु और।"[६]

इन दोनों ही उदाहरणों में क्रिया के कर्म की संवृति है। 'कछु' सर्वनाम द्वारा क्रिया के कर्मों का संवरण कर अपूर्व चमत्कार उत्पन्न किया गया है। अतः यहाँ क्रियावैचित्र्य-वक्रता है।

---

१. १६२-३ २. ४०-४ ३. १५-३,
४, ३७-१ ५. ६१-४ ६. सा० ११-६-१

(३) **पदपरार्ध-वक्रता**—इसके भी अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है। कबीर-काव्य में इनका सौन्दर्य भी परिलक्षित होता है। विभिन्न भेदों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(१) **कालवैचित्र्य-वक्रता**—

"अजहुं बिकार न छोड़ई पापी मनु मंदा।"[१]

मन ने विकार भूतकाल में ग्रहण किया था किन्तु वह आज भी नहीं छोड़ता। 'अजहुं न छोड़ई' क्रिया का वर्तमान कालचमत्कार का आधार है। काल पर आश्रित होने के कारण यहाँ 'काल वैचित्र्य-वक्रता' है।

(२) **वचन-वक्रता**—

"झूठा लोग कहैं घर मेरा।"[२]

झूठा शब्द एक वचन में है तथा लोग बहुवचन में। इन भिन्न वचन वाले शब्दों के एक साथ प्रयोग से विचित्र चमत्कार उत्पन्न हो गया है। वचन पर आश्रित होने के कारण यहाँ वचनवक्रता है। इसी प्रकार—

"हंम न किसी के न हमरा कोई।"[३]

कबीर को सामान्यतः अपने लिए एक वचन 'मैं' का प्रयोग करना चाहिए था किन्तु विरक्ति की व्यंजना के लिए बहुवचन 'हंम' 'हमरा' का प्रयोग चमत्कारी है अतः यहाँ वचन-वक्रता है।

(३) **पुरुष-वक्रता**—

"कहत कबीर भीर जन राखहु (हरि) सेवा करउं तुम्हारी।"[४]

'जन' शब्द अन्य पुरुष का है यहां उत्तम पुरुष का 'मेरी' शब्द होना चाहिए था किन्तु हरि से निकटता व्यंजित करने के लिए इस प्रकार का विपर्यय किया गया है। पुरुष-विपर्यय का सार्थक प्रयोग होने के कारण यहाँ पुरुष-वक्रता है।

(४) **उपग्रह-वक्रता**—

"मेरै मन का संसै भागा।"[५]

"कहै कबीर मन लागा।"[६]

इन दोनों उदाहरणों में प्रयुक्त 'संसै भागा' तथा 'मन लागा' में कर्म कर्तृ

---

१. ३९-४ २. ८९-१ ३. १९३-५
४. ४०-१० ५. १६-२ ६. १८-६

प्रयोग ही है इनके सचेष्ट प्रयोग से सौन्दर्य व्यंजना हुई है अतः यहाँ उपग्रह-वक्रता है।

(५) प्रत्यय-वक्रता—

"बालू के घरवा मंहि बैसे चेतत नांहि अयांनां।"[१]
"आंखड़ियां रतनालियां क्यौंकरि बंधे जालि।"[२]

यहाँ 'घरवा' शब्द में 'वा' तथा 'आंखड़ियां' में 'ड़' स्वार्थक प्रत्ययों का भावप्रेरित प्रयोग किया गया है। अत· प्रत्यय-वक्रता का सौंदर्य है। इसी प्रकार—

बलिहारी गुर आपकी द्यौहाड़ी सौ बार।[३]

द्यौहाड़ी शब्द दिवह+ड़ी का संयुक्त रूप है। इसमें 'ड़ी' स्वार्थक प्रत्यय है। दिवह शब्द दिवस का परिवर्तित रूप है।[४] 'ड़ी' स्वार्थक प्रत्यय का यह प्रयोग अत्यन्त भावपूर्ण होने के कारण प्रत्यय-वक्रता के अन्तर्गत है।

पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता का सम्बन्ध 'पद' से ही है। कुन्तक द्वारा वर्णित पद के दो अन्य—'उपसर्ग-वक्रता' और 'निपात-वक्रता'—भेदों का भी उल्लेख किया गया है।[५] इन दोनों के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

(१) उपसर्ग-वक्रता—

"गूंगा ग्यांन बिग्यांन प्रकास अनहद बांनीं बोलै।"[६]
"असतुति निंदा दोउ बिबरजित तजहिं मांनु अभिमांनां।"[७]

'बिग्यांन' और 'बिबरजित' शब्दों में 'बि' उपसर्ग चमत्कारी है। 'ग्यांन' के पश्चात 'बिग्यांन' कहने में विशेष भाव का द्योतन किया गया है। इसी प्रकार वर्जित शब्द मना करने के लिए पर्याप्त है किन्तु 'वि' उपसर्ग द्वारा और अधिक वर्जना का भाव अभिव्यंजित किया गया है। अतः यहाँ उपसर्ग-वक्रता है।

(२) निपात-वक्रता—

"मांगौं काहि रंक सम देखौं तुमही तैं मेरौ निस्तार।"[८]
"जिनि हंम जाए ते मुए, हंम भी चालनहार।"[९]

---

१. ६९-९ २. सा० १६-८-२ ३. सा० ५-१९-१

४. द्यौहाड़ी शब्द का यह विवेचन डॉ० माताप्रसाद गुप्त के लेख के आधारपर है। देखिए—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०२०; अंक १-२; पृ० ३६; लेख—'कबीर साखी में अर्थ की दृष्टि से कुछ विचारणीय स्थल'।

५. हि० व० जी०, भूमिका, पृ० ८२ ६. १५७-८

७. ३२-३ ८. ४५-४ ९. सा० १६-३२-१

प्रथम उद्धरण में 'ही' का प्रयोग अर्थ-गर्भित है। 'ही' के प्रयोग से रांम के प्रति अनन्य भाव व्यक्त होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'भी' के द्वारा संसार से चले जाने के प्रति निराशा भाव व्यक्त किया गया है। कबीर-काव्य में इस प्रकार की निपात-वक्रता के उदाहरण सर्वत्र विद्यमान हैं।

४. अलंकार

अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ पर ही आश्रित होते हैं। शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य है।[1] पंडितराज जगन्नाथ ने "रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्"[2] कहकर रमणीय अर्थ के साथ शब्द को भी संयुक्त किया। काव्य में जिन शब्द और अर्थ का प्रयोग होता है वे मूलत: अभिन्न हैं। कालिदास ने कहा—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।"

प्रथम: सर्ग: श्लोक १ (रघुवंश)

यही बात तुलसीदास ने भी व्यक्त की—

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।"

बालकाण्ड, १८ दोहा (रामचरितमानस)

किन्तु अभिन्न होते हुए भी शब्द और अर्थ पर आश्रित होने वाले शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का भेद किया गया। इसका आधार काव्य सौन्दर्य को पृथक्-पृथक् रखकर प्रस्तुत करना रहा होगा। वर्गीकरण की यह पद्धति साहित्य-शास्त्र के आचार्यों में विशेष रूप से पाई जाती है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के षोडश अध्याय में अलंकारों का विवेचन किया। उन्होंने शब्दालंकार या अर्थालंकार शब्द का प्रयोग तो नहीं किया किन्तु दोनों प्रकार के अलंकारों का एक साथ उल्लेख किया है—

'उपमादीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वार: परकीर्तिता:" ॥४०॥

---

१. भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' से जो भ्रम उत्पन्न हो गया है उसका निराकरण करते हुए प्रो० श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने अपने लेख में लिखा है—"भामह ने यहाँ दो मान्यताएं रखीं। एक तो यह कि काव्य के लिए केवल अर्थालंकार अपेक्षित हैं, शब्दालंकार नहीं, या केवल शब्दालंकार ही अपेक्षित हैं, अर्थालंकार नहीं, यह कहना गलत है। दोनों ही अपेक्षित हैं। दूसरी यह कि शब्द और अर्थ दोनों पर समान ध्यान देना चाहिए और दोनों के सहभाव या साहित्य से ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि हो सकती है।"

—परिषद् पत्रिका, वर्ष १, अंक २, पृ० २६

२. रसगंगाधर, १-१

भामह ने अनुप्रास को भी सूची में जोड़ दिया—

"अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे"···२-४

किन्तु शब्दालंकार या अर्थालंकार का स्पष्ट पृथक् उल्लेख वहां भी नहीं है। केवल 'वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते'[1] वाक्य से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि भामह वाणी की शोभा वक्र शब्द और अर्थ द्वारा निष्पन्न मानते हैं। अतः शोभा-वृद्धि करने वाले अलंकारों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि भामह के अलंकार विवेचन को भाष्यकारों ने 'शब्दालंकार और 'अर्थालंकार' नाम देकर प्रस्तुत किया।[2] इस आधार पर शब्दालंकार या अर्थालंकार नामोल्लेख का श्रेय भाष्यकार को है भामह को नहीं।

दण्डी ने इन अलंकारों को पृथक्-पृथक् अध्यायों में रखकर विवेचित किया है किन्तु नामोल्लेख वहां भी नहीं है। भट्टोद्भट और वामन के समय में शब्द और अर्थ का पृथक्करण स्पष्ट हो गया। भट्टोद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए भी श्लेष के शब्द श्लेष और अर्थश्लेष दो वर्ग प्रस्तुत किए तथा उनका शब्द और अर्थ वैशिष्ट्य ही आधार बनाया --

"द्विविधैरर्थ शब्दोक्ति विशिष्टं तत्प्रतीयताम्।"[3]

इसी प्रकार वामन ने गुणोंको शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण कहकर वर्गीकृत किया तथा उनके भेद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—

"शब्दार्थ गुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेदं दर्शयति अर्थस्य प्रौढ़िरोजः।"

अर्थात् शब्द और अर्थ गुणों के नाम एक समान होने पर भी उनमें भेद यह है कि शब्द गुणों के स्थल में प्रौढ़ि आदि 'वाचक' अर्थात् शब्द के धर्म होते हैं और अर्थ गुणों में प्रौढ़ित्व आदि शब्द के नहीं अपितु अर्थ के धर्म होते हैं।[4] वामन ने सर्वप्रथम अत्यन्त निर्भ्रान्ति शब्दों में गुण और अलंकार के अन्तर को भी स्पष्ट किया। अलंकार सम्प्रदाय के कुछ आचार्यों ने तो गुण और अलंकार के भेद को ही मिथ्या कल्पना माना।[5] वामन ने इन दोनों का तात्विक भेद प्रस्तुत कर गुण से अलंकार को पृथक् करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु उन्होंने काव्य के

---

१. काव्यालंकार, ५-६६

२. काव्यालंकार, भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० ३१, ३८

३. काव्यालंकारसार, पृ० ६३

४. काव्यालंकारसूत्र—आचार्य विश्वेश्वर अनुवाद, पृ० १४०

५. भट्टोद्भट, 'भामहविवरण' ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण मम्मट के काव्यप्रकाश में प्रस्तुत उद्भट के मत के आधार पर—पृ० ३८४।

सम्पूर्ण सौन्दर्य को ही अलंकार माना।[1] वामन की यह मान्यता आगे चलकर साहित्यशास्त्र में स्वीकार नहीं की गई और अलंकार शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गया। अलंकारों के विवेचन में वामन ने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को पृथक्-पृथक् अध्यायों में रखकर विवेचित किया। यहाँ स्पष्ट रूप से 'शब्दालंकार विचार:' में शब्दालंकार नाम प्राप्त होता है।

साहित्यशास्त्र में शब्दालंकार और अर्थालंकार के दो विभाजक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं—

(१) अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त;
(२) आश्रयाश्रयी भाव सिद्धान्त;

यह दोनों ही सिद्धान्त ध्वन्यालोक से प्राप्त होते हैं, इनका बाद में क्रमश: मम्मट और रुय्यक ने प्रतिपादन किया। मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में लिखा—

"इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभाग: स: अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।

(यहाँ (काव्य में) गुण, दोष, अलंकारों का शब्दगत और अर्थगत रूप से जो विभाग किया जाता है वह अन्वय-व्यतिरेक से ही ठीक बैठता है।)"[2]

"योऽलंकारो यदीयान्वयतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यत इति।

(जो अलंकार (शब्द और अर्थ में से) जिसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उसका अलंकार माना जाता है।)"[3]

मम्मट ने तो यहाँ तक स्वीकार किया कि आश्रयाश्रयी भाव कल्पना में भी अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लेना होगा।[4] आश्रयाश्रयी भाव सिद्धान्त का खण्डन मम्मट ने कहीं नहीं किया किन्तु रुय्यक ने स्पष्ट रूप से अन्वय-व्यतिरेक का खण्डन करते हुए आश्रयाश्रयी भाव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। श्लेष अलंकार का उदाहरण स्पष्ट करते हुए रुय्यक ने लिखा—

"पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत् न।

---

१. 'सौन्दर्यमलंकार:' काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, १-१-२

२. का० प्र०—आचार्य विश्वेश्वर अनुवाद, पृ० ४२३.

३. वही, पृ० ५६५

४. "योऽलंकारो यदाश्रित: स तदलंकार इत्यपि कल्पनायां अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याभावस्याभावात्। इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेकोज्यायान्।"
— वही, पृ० ५६७.

आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद्मवस्थानात् ।"[१]

अर्थात् अलंकार की स्थिति संसार के समान आश्रय आश्रयी के भाव से होती है न कि अन्वय-व्यतिरेक से । अपने ग्रन्थ के अन्त में फिर इसी बात पर बल देते हुए उन्होंने लिखा—

"लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकार निबन्धनम् । अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ । न तदलंकारत्वे । तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसंगात् । तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरंतनमतानुसृतिरिति भद्रम् ।"[२]

परवर्ती आचार्यों ने रुय्यक के सिद्धान्त को तो छोड़ ही दिया तथा अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त ही शब्दालंकार और अर्थालंकार के विभाजक सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया । इन दोनों का भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्व पर निर्भर है ऐसा स्वीकार किया गया । शब्द परिवृत्ति को सहन न करने वाला शब्दालंकार तथा सहन करने वाला अर्थालंकार माना गया है ।

इस विवेचन के साथ ही काव्य में अलंकारों की उपयोगिता पर भी संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक न होगा । उक्ति के चमत्कार[३] का नाम अलंकार है इस विषय में किसी को भी विरोध न होगा । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारों को एक 'बाह्य आडम्बर'[४] तथा 'केवल वर्णन-प्रणाली मात्र'[५] माना है । काव्य में इनका प्रयोग "प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की अनुभूति तीव्र करने के लिए ही"[६] होता

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १२४

२. 'चमत्कार' शब्द पर विचार करते हुए डॉ० राघवन ने लिखा है—

"It appears to me that originally the word Camatkara was an onomatopoeic word referring to the clicking sound we make with our tongue when we taste something snappy, and in course of its semantic enlargements, Camatkara came to mean a sudden fillip relating to any feeling of a pleasurable type."

राघवन ने १३३० ई० में सिंहभूपाल के आश्रित विश्वेश्वर के 'चमत्कार चन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है जिसमें गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार, रस को 'चमत्कार' के आलम्बन रूप में वर्णित किया गया है ।

'Some Concepts of Alankara Sastra', V. Raghavan P. 268-271.

३. चि०, भाग २, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', पृ० ११

४. चि०, भाग २, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य,' पृ० ५ ।

५. चि०, भाग २, 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ६६,

६. अलंकारसर्वस्व,—पृ० २५६-२५७

है। अलंकार की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी ने कहा – "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[१] इस विषय में डॉ० नगेन्द्र ने दूसरी ही बात प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है, 'काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवार्य ही है। परन्तु रमणीय उक्ति-वक्र उक्ति भी स्वभावत: अनिवार्य है। क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है।"[२] शुक्ल जी ने अलंकार को सीमित अर्थ में ग्रहण किया था और यहां पर नगेन्द्र जी ने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया। उन्होंने कहा कि काव्य में अलंकारों को अनिवार्य मानने के लिए "अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ अलंकारों तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमें अन्तर्भूत करना होगा।"[३] किन्तु अलंकार अपने विशिष्ट अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए तथा उन्हें काव्य के अस्थिर धर्म[४] मानना ही सही है। अत: काव्य में अलंकारों की उपयोगिता—भावों की उत्कर्ष व्यंजना में तथा प्रस्तुत वस्तु के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायता पहुंचाने के लिए सर्वथा स्पष्ट है। इन्हीं कार्यों की सिद्धि के लिए ही विभिन्न अलंकारों की परिकल्पना की गयी।

अत: कबीर की भाषा के आलंकारिक सौन्दर्य को बताने के लिए भाषा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण शब्दालंकारों के उदाहरण दिए जा रहे हैं। अर्थालंकारों का भाषा से, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।[५] किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वक्रोक्ति, श्लेष आदि अलंकारों के विषय में इस बात पर भी मतभेद रहा है कि

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १४७; रस-मीमांसा, पृ० २९२-२९३

२. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० ९०.

३. वही, पृ० ९०

४. "शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥"

—विश्वनाथ, सा० द०, १०।१

५. (क) "अलंकारों के अन्तर्गत भाषा के विचार में शब्दालंकारों का विवेचन ही अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इनका सम्बन्ध सीधे भाषा के बाह्य रूप से हुआ करता है।"

—तुलसीदास की भाषा, पृ० २९९

(ख) "भाषा को अलंकृत करने में शब्दालंकारों का ही विशेष योग रहता है।"

—सूर की भाषा, पृ० ५०७

वे शब्दालंकार माने जाएं या अर्थालंकार। यह बात भी अस्पष्ट ही है कि जो अर्थालंकार गिनाए गए हैं उनमें केवल अर्थ का ही चमत्कार है। प्रस्तुत विवेचन में उन अर्थालंकारों के भी उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनमें रूप या वाक्य सम्बन्धी किसी प्रकार का भाषा से प्रत्यक्ष सम्बन्धित सौन्दर्य भी विद्यमान है। अतः अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास और श्लेष शब्दालंकार तथा तुल्ययोगिता, कारक दीपक, देहलीदीपक, परिकर, परिकरांकुर, भेदकातिशयोक्ति, कारणमाला और एकावली अर्थालंकारों के आधार पर कबीर की भाषा के सौन्दर्य को प्रस्तुत किया जा रहा है। वक्रोक्ति शब्दालंकार के उदाहरण कबीर-काव्य में नहीं हैं।

अनुप्रास—वर्णों का साम्य अनुप्रास कहलाता है। कहीं एक बार और कहीं अनेक बार यह साम्य विद्यमान रहता है। छन्द के अन्त में भी इस प्रकार का आनुप्रासिक सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण सर्वत्र उपलब्ध हैं। यथा—

"काल अहेरी सांझ सकारा। सावज ससा सकल संसारा।"[१]

"नटवर पेखि पेखनां पेखै अनहद बेन बजावै।"[२]

"अखंड मंडल मंडित मंड। त्री असनांन करै त्री खंड।"[३]

इन उदाहरणों में स, प, ब, भ, ड की आवृत्ति चमत्कारक है। अन्त्यानुप्रास का उदाहरण निम्न है—

"निरगुन रांम जपहु रे भाई।
अबिगत की गति लखी न जाई।"[४]

अनुप्रास के प्रयोग में कबीर का अपना कोई वैशिष्ट्य नहीं है। अतः प्रयोग का दिग्दर्शन मात्र कराने के हेतु कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

यमक—निरर्थक वा भिन्नार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति यमक के अन्तर्गत है। यमक में वर्णों का प्रयोग तीन प्रकार से होता है[५]—(१) निरर्थक वर्णों की आवृत्ति, (२) एक बार निरर्थक और दूसरी बार सार्थक वर्णों की आवृत्ति, (३) भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति। कबीर-काव्य में तीनों ही प्रकार की आवृत्ति के उदाहरण विद्यमान हैं।

(१) निरर्थक वर्णों की आवृत्ति—

"करि बिचार बिकार परिहरि तरन तारन सोइ।"[६]

---

१. र० १२-१, २. १२२-१०, ३. १३०-८,
४. १५३-१, २ ५. काव्यकल्पद्रुम, द्वितीय भाग, पृ० ७२
६. ६७-७

यहाँ 'तरन तारन' में 'रन' शब्द दोनों ही स्थानों पर निरर्थक है तथा वर्णों की आवृत्ति एक ही क्रम से हुई है अतः यमक का सौन्दर्य है।

(२) एक बार निरर्थक तथा दूसरी बार सार्थक वर्णों की आवृत्ति—

"मन बांनियां बांनि न छोड़ै।"[१]

"साधन तैं सिधि पाइए किंबा होइम होइ।"[२]

'बांनियां बांनि' में पहला 'बांनि' निरर्थक तथा दूसरा सार्थक है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'होइम होइ' में पहला 'होइ' निरर्थक तथा दूसरा सार्थक है।

कभी-कभी पहली बार सार्थक और दूसरी बार निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होती है। जैसे—

"जो मेरै साध सौं अंतर राखैं सो नर नरकै जाहीं।"[३]

"हद बिन अनाहद सबद बागा।"[४]

'नर नरकै' तथा 'हद अनाहद' में पहले 'नर' और 'हद' सार्थक हैं तथा दूसरे निरर्थक।

(३) भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति—

"रज गुन तम गुन सत गुन कहिअै यह सभ तेरी माया।
चउथै पद कौं जो जन चीन्हैं तिनहीं परम पदु पाया।।
चिंतै तौ माधव चिंतामनि हरि पद रमैं उदासा।
चिंता अरु अभिमांन रहित है कहै कबीर सो दासा।।"[५]

यहां दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'पद' तथा तीसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'पद' भिन्न अर्थ वाले हैं। अतः यमक का सौन्दर्य है। इसी प्रकार—

"सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ।।"[६]

प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'सहज' 'प्रभु' के लिए तथा दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'सहज' 'सहज ज्ञानी' के लिए है। भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति होने के कारण यहां यमक है।

पुनरुक्ति—अभीष्ट भाव को रुचिकर बनाने के लिए एक ही शब्द की पुनरावृत्ति पुनरुक्ति के अन्तर्गत है। कबीर-काव्य में इस प्रकार की पुनरावृत्ति अनेक स्थानों पर की गई है। यथा—

---

१. ६३-१ २. १०-६ ३. ३५-२
४. ११६-६ ५. ३२-५,६,७,८ ६. सा० ३४-२

"स्वांग जती का पहिरि करि, घरि घरि मांगै भीख।"[१]

"रांम देव संगि भांवरि लेइहौं धंनि धंनि भाग हमारा।"[२]

यहां 'घरि घरि' और 'धंनि धंनि' इसी प्रकार के प्रयोग हैं अतः पुनरुक्ति अलंकार है।

वीप्सा—विस्मयादिबोधक भावों को प्रभावशाली रूप में व्यक्त करने के लिए शब्दों की पुनः पुनः आवृत्ति वीप्सा कहलाती है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के प्रयोग भी विद्यमान हैं। यथा—

"हरि रंग लागा हरि रंग लागा।"[३]

हर्षातिरेक अभिव्यक्त करने के लिए की गई वाक्य की यह पुनरावृत्ति वीप्सा के अन्तर्गत है। इसी प्रकार—

"राखि राखि मेरै बीठुला जनु सरनि तुम्हारी।"[४]

प्रभु की कृपा प्राप्त करने के लिए विनती की अभिव्यक्ति 'राखि राखि' शब्दों द्वारा की गई है। पुनरावृत्ति द्वारा यह अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुई है। अतः वीप्सा अलंकार है।

पुनरुक्तवदाभास—पुनरुक्ति की मिथ्या प्रतीति इसी के अन्तर्गत है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं। यथा—

"दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुनां, बहुरि न आवौं हट्ट।"[५]

'दीपक' और 'दीया' में पुनरुक्ति की प्रतीति होती है किन्तु यह मिथ्या है, क्योंकि 'दीया' का अर्थ 'देना' लिया गया है। अतः पुनरुक्तवदाभास अलंकार है।

श्लेष—अभंग और सभंग श्लेष की दृष्टि से कबीर की भाषा अत्यन्त पुष्ट है। अनेक स्थानों पर श्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया गया है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

"लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यौ पाइऐ, दुरलभ हरि दीदार।।"[६]

इस दोहे में 'मार' शब्द श्लिष्ट है। बटमार अर्थात् डाकू तथा काम जन्य विषय वासनाएं यह दोनों अर्थ पद के अभंग रूप में ही निकल आते हैं। इसी आधार पर प्रथम पंक्ति का एक अर्थ साधारण सांसारिक पक्ष से तथा दूसरा गूढ़ आध्यात्मिक पक्ष से सम्बद्ध है। यह दूसरी बात है कि कवि का अभीष्ट दूसरे अर्थ को प्रकट करना ही रहा हो। इसी प्रकार—

---

१. सा० १-२९-२ २. ५-६ ३. १६-१
४. ३६-२ ५. सा० १-१५-१-२ ६. सा० ३-१२-१,२

"सुरति समांनीं निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुलि गया सिंभु दुवार।"[१]

यहां 'सुरति निरति' पारिभाषिक शब्द हैं जिनका अर्थ क्रमशः इड़ा और पिंगला नाड़ी है। किन्तु इन दोनों शब्दों को भंग कर देने पर क्रमशः सुरति अर्थात् प्रभु-प्रेम तथा नि रति अर्थात् संसार से वैराग्य अर्थ भी निकल आते हैं इससे कवि के कथन में एक विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न होता है। निश्चय ही यह सौन्दर्य कबीर की भाषा के सामर्थ्य की ओर निर्देश करता है।

तुल्ययोगिता—गुण या क्रिया के द्वारा अनेक प्रस्तुतों या अप्रस्तुतों के एक ही धर्म का कथन तुल्ययोगिता अलंकार कहलाता है। अर्थालंकार होते हुए भी भाषा की विशेषता से सम्बद्ध मानने का कारण यह है कि इसमें अनेक शब्दों के लिए एक ही क्रिया का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार का प्रयोग सीधा वाक्य-विन्यास से सम्बन्धित है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के प्रयोगों से भी भाषा का अलंकरण हुआ है। यथा—

"जातैं जरा मरन भ्रम जाइ।"[२]

'जरा, मरन और भ्रम' तीनों के लिए एक ही क्रिया 'जाइ' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार—

"लोक लाज कुल की मरजादा तोरि दियो जस धागा।"[३]

'तोरि दियो' क्रिया 'लोक लाज' तथा 'कुल की मरजादा' दोनों के लिए ही प्रयुक्त हुई है। इन दोनों के एक ही धर्म का कथन होने के कारण यहां तुल्य-योगिता है।

कारक दीपक—अनेक क्रियाओं के लिए एक ही कारक का वर्णन कारक-दीपक के अन्तर्गत है। इसे भाषा की विशेषता मानने का प्रयोजन यह है कि इसका सीधा सम्बन्ध वाक्य-विन्यास से है। अनेक क्रियाओं के एक कारक के प्रयोग से जो चमत्कार उत्पन्न होता है उसका आधार वाक्य ही है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण भी विद्यमान हैं। यथा—

"उपजै निपजै निपजि समाई। नैंनन देखत यहु जगु जाई।"[४]

यहां 'उपजै' 'निपजै,' आदि क्रियाओं के एक ही कारक 'जगु' का प्रयोग किया गया है। विशेष प्रकार की वाक्य-रचना होने के कारण यह भाषा का गुण है।

देहलीदीपक—दो वाक्यों के बीचमें एक ही क्रिया का कथन देहलीदीपक कहलाता है। इस प्रकार के कथन में भी विशिष्ट वाक्य-रचना का सौन्दर्य है।

---

१. सा० ६-२४-१, २   २. १४४-२   ३. १६-७
४. ७६-३

कबीर ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार के सौन्दर्य का भी आश्रय लिया। उदाहरणार्थ—

"खोद खाद धरती सहै काट कूट बनराइ।"[1]

'सहै' क्रिया 'खोद खाद धरती' और 'काट कूट बनराइ' दोनों के मध्य में है। वाक्य-रचना सम्बन्धी वैशिष्ट्य यहां भी विद्यमान है।

परिकर—साभिप्राय विशेषण का कथन परिकर अलंकार के अन्तर्गत है। विशेषण विशेष के आधार पर चमत्कार होने के कारण यह भाषा से सम्बद्ध है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

"सांचै मन तैं साहिब नेरै झूठै मन तैं भागा।"[2]

'मन' के लिए सच्चे और झूठे विशेषणों का प्रयोग चमत्कारी है। इन विशेषणों को परिवर्तित कर देने से सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः साभिप्राय प्रयोग होने के कारण परिकर अलंकार है।

परिकरांकुर—साभिप्राय विशेष्य कथन को परिकरांकुर कहा जाता है। कबीर-काव्य में प्रभु राम के पर्यायवाची नाम जो विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुए हैं साभिप्राय होने के कारण भाषा की विशेषता से सम्बद्ध हैं यथा—

"दीनदयाल दया करि आवौ समरथ सिरजनहार।"[3]

"सांकर हू तैं सबल है, माया इहिं संसार।
ते क्यूं छूटे बापुरे, जिनि बांधे सिरजनहार।"[4]

यहां 'दीनदयाल' तथा 'सिरजनहार' शब्दों का विशेष्यवत् साभिप्राय प्रयोग है। अतः परिकरांकुर अलंकार का सौन्दर्य है।

भेदकातिशयोक्ति—'उपमेय के अन्यत्व वर्णन में अभिन्नता होने पर भी भिन्नता के कथन में भेदकातिशयोक्ति है।'[5] अर्थालंकार होते हुए भी भाषा के गुण रूप में इसे इस कारण स्वीकार किया गया है कि इसमें शब्द विशेष से कथन में चमत्कारिकता उत्पन्न होती है। कबीर-काव्य में इसका सौन्दर्य भी विद्यमान है। यथा—

"पाइं औरै पंख औरै और रंग रंगी।"[6]

परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'औरै' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस वाच्य शब्द द्वारा 'उपमान' से उपमेय को भिन्न कहा गया है। सौन्दर्य 'औरै' शब्द विशेष से ही उत्पन्न हुआ है। अतः भाषा की विशेषता ही कहा जाएगा।

---

१. सा० ४-२५-१, २. १६-५, ३. १५-६
४. सा० ३१-६-१,२ ५. का० द०, पृ० ३७४ ६. १-३

कारणमाला—जहाँ पूर्वकथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ के कराण रूप हो वहाँ कारणमाला अलंकारहोता है। यह सौन्दर्य भी वाक्यगत है। कबीर-काव्य में इस प्रकार के उदाहरण भी विद्यमान हैं। यथा—

"भै बिनु भाव न ऊपजै, भाव बिनां नहिं प्रीति ।।"[1]

यहां भय से भाव का और भाव से प्रीति का उपजना व्यंजित किया गया है। इस प्रकार के कथन से एक शृंखला बंध गई है। विशिष्ट वाक्य-रचना होने के कारण यह भाषा की विशेषता है।

एकावली—जहां वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक शृंखला-सी बन जाए वहां एकावली अलंकार होता है। वाक्य विन्यास सम्बन्धी सौन्दर्य यहां भी रहता है। कबीर की भाषा का अलंकरण इसके द्वारा भी हुआ है। उदाहरणार्थ—

"कहै कबीर मैं जांनां, मैं जानां मन पतियांनां।
पतियांनां जौ न पतीजै। तौ अंधे कौं का कीजै।।"[2]

इसके पूर्वार्द्ध में ग्रहण त्याग की एक शृंखला-सी बंध गई है अतः यहां एकावली अलंकार है विशेष प्रकार की वाक्य-रचना होने के कारण यह भाषा की विशेषता है।

---

१. सा० १५-८६-१ २. ७२.११.१२

५. प्रतीक और प्रतीक-योजना

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है अवयव या चिह्न।[१] सभी प्रतीक एक प्रकार के संकेत या चिह्न ही हैं। किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में प्रतीक केवल चिह्न ही नहीं चिह्न से भी कुछ और अधिक है।[२] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सभी प्रतीक चिह्न तो होते हैं किन्तु सभी चिह्न प्रतीक नहीं होते। "किसी अन्य स्तर की सगानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।"[३] पाश्चात्य विद्वानों ने प्रतीक की परिभाषा दी है—"प्रतीक किसी विचार, भाव या अनुभव का दृष्टिगत या श्रवणीय चिह्न या संकेत है जो उन तथ्यों को स्पष्ट करता है जो केवल मस्तिष्क, कल्पना या निरीक्षण के क्षेत्र में आने वाली ही वस्तुओं द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।[४] विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रतीक अप्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इनके प्रयोग से अभीष्ट अर्थ अथवा प्रस्तुत अर्थ संकेति किया जाता है। डॉ० नित्यानन्द शर्मा द्वारा दी गयी प्रतीक की परिभाषा इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

"अप्रस्तुत, अप्रेय, अगोचर अथवा अमूर्त्त का प्रतिनिधित्व करने वाले उस प्रस्तुत या गोचर वस्तुविधान को प्रतीक कहते हैं जो देश, काल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं से युक्त हमारे मन में अपने चिर साहचर्य के कारण किसी तीव्र भावना

---

१. (क) 'अंगप्रतीकोऽवयवोऽपघनो'—अमरकोषः, श्रीमदमरसिंह विरचित, मनुष्य वर्ग, श्लोक सं० ७०

(ख) 'किसी शब्द, संख्या, नाम, गुण या सिद्धान्त आदि का सूचक चिह्न'—संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० ६५३

(ग) 'हिन्दी साहित्य में विविधवाद'—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ० ४६८-६९

२. "A Symbol is always a sign but it is much more than a sign." Language and Reality, Urban; P. 403.

३. हि० सा० को०, प्रतीकवाद, पृ० ४७१

४. "A Symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought, emotion or experience, interpreting what can be really grasped only by the mind and imagination by something which enters into the field of observation."

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol 12, p. 139.

को जाग्रत करता है।"[1] संकेत से अन्तर स्पष्ट करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने अस्पष्ट शब्दों में यही बात प्रस्तुत की है—"प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका एक जीता-जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है।"[2] इस प्रकार प्रतीक भावों की सरलता पूर्वक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध हो जाते हैं। इन प्रतीकों में ऐसे अर्थ भी निहित होते हैं जो केवल अनुभव के ही विषय हैं। इसी कारण अव्यक्त, अनिर्वचनीय और अगोचर को भी प्रतीकों के माध्यम से सरलतापूर्वक अभिव्यक्त किया जा सकता है। कवि जब अपने भावों को सामान्य शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है तभी प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करता है। इन प्रतीकों के प्रयोग की आवश्यकता आध्यात्मिक और दार्शनिक अभिव्यक्ति के प्रसंग में विशेष रूप से अनुभव होती है।

प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का प्रयोग करना ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इससे भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि प्रतीक अप्रस्तुत योजना के ही विषय हैं और अप्रस्तुत योजना का सीधा सम्बन्ध अलंकारों से है अतः कहा जा सकता है कि प्रतीक अलंकारों में प्रयुक्त उपमान ही हैं। किन्तु प्रतीक और उपमान में बहुत अन्तर है। प्रतीक अलंकार प्रणाली के अन्तर्गत तो हैं किन्तु अलंकारों में प्रयुक्त उपमान नहीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है पर उसका मतलब यह नहीं कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते।"[3] सच्चे कवि जब उपमान रूप में वस्तुओं का प्रयोग करते हैं तो उनमें

१. 'आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक-विधान'—पृ० २१
२. कबीर साहित्य की परख, पृ० १४२
३. चि०, भाग २, पृ० ११०; डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी ने अपने शोध प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार विधान' में पृष्ठ १६६ पर इस बात को सुधांशु जी के नाम से उद्धृत किया है। मूलतः यह कथन शुक्ल जी का है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के पृ० १४७ पर शुक्ल जी से मिलती-जुलती बात कही है किन्तु उन्होंने शुक्ल जी को उद्धृत नहीं किया केवल भूमिका में शुक्ल जी से प्रेरणा प्राप्त करने की बात की है।

प्रतीकत्व होता है। इस प्रकार उपमा, रूपक आदि विभिन्न सादृश्यमूलक अलंकारों से प्रतीक की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। केवल रूपकातिशयोक्ति एक ऐसा अलंकार है जो प्रतीक के अत्यन्त निकट है किन्तु उससे भी प्रतीक का भेद स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि रूपकातिशयोक्ति में जिन उपमानों का प्रयोग होता है वे अधिक रूढ़ होते हैं जबकि बहुत से प्रतीक ऐसे भी हैं जिन्हें कवि रूढ़ होते हुए भी नवीन अर्थ से आवृत्त कर लेता है। इस प्रकार सभी रूढ़ उपमान प्रतीक तो होते हैं किन्तु सभी प्रतीक रूढ़ उपमान नहीं होते। रूपकातिशयोक्ति में रूढ़ उपमानों का प्रयोग रूढ़ अर्थ में ही किया जाता है। यहां 'काव्यबिम्व' से प्रतीक का अन्तर स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा। 'बिम्ब' शब्द पाश्चात्य से प्रभावित नव्य आलोचना-पद्धति का शव्द है। प्रतीक के समान इसके मूल में भी भाव की प्रेरणा रहती है। दोनों का सीधा सम्बन्ध उपमान से है। किन्तु 'बिम्ब' की परिधि अधिक विस्तृत तथा व्यापक है। "बिम्बविधान के अनेक उपकरणों में से उपमान एक अत्यन्त उपयोगी उपकरण है।"[1] अत: प्रतीक की सीमा में उपमान तो हैं बिम्ब नहीं। 'बिम्ब' प्रतीक से अधिक विस्तृत तथा व्यापक तत्त्व है।

काव्य में प्रतीकों का प्रयोग विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए किया जाता है। वैसे तो मानव जीवन का सारा यंत्र ही अपनी गति के लिए उस (प्रतीक) पर आश्रित रहता है।[2] 'भाषा भी अपने आप में प्रतीक ही है।'[3] फिर भी प्रतीकों का प्रयोग एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें से एक विशेषता का प्रतीक से सीधा सम्बन्ध है—"भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।[4] इस विशेषता से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भावना को मूर्त रूप देने के लिए प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। यही प्रतीकों के प्रयोग का मुख्य प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त कुतूहल और विस्मय उत्पन्न करने के लिए तथा गोपनीय वस्तुओं को दूसरों से गुप्त रखने के निमित्त भी प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार प्रतीकों के प्रयोग के स्पष्टत: तीन प्रयोजन हैं—

(१) भावना को मूर्त रूप देने के लिए।

---

१. काव्य-बिम्ब, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७-८

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३७७

३. "Language itself is a symbol." Trends in Literature, P. 150.

४. चि० भाग १, पृ० १७६; रसमीमांसा, पृ० ३४

(२) कुतूहल और विस्मय उत्पन्न करने के लिए।

(३) गोपनीय को दूसरों से गुप्त रखने के लिए।

कबीरदास ने प्रतीकों का प्रयोग प्रथम और द्वितीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही किया। गोपनीय को दूसरों से गुप्त रखने की प्रवृत्ति उनमें न थी क्योंकि वे कवि और भक्त होने के साथ-साथ समाज-सुधारक भी थे। उलटबांसियों में व्यवहृत प्रतीकों द्वारा एक ओर समाज में कुतूहल और विस्मय जगाया तथा दूसरी ओर धर्म की जिज्ञासा भी उत्पन्न की।[१] कबीरदास द्वारा व्यवहृत प्रतीक विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं। अत: प्रतीकों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रसंगानुकूल ही है।

प्रतीकों के क्रमिक विकास का इतिहास अत्यन्त रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है। वैदिक काल से लेकर कबीरदास के समय तक नवीन अर्थों से युक्त नए प्रतीकों का निर्माण होता रहा है। इन विभिन्न प्रतीकों की योजना दो प्रकार की रही है— एक साम्यमूलक और दूसरी विरोधमूलक। विभिन्न रूपकों तथा संख्यावाची शब्दों का प्रयोग साम्यमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत है तथा विरोधमूलक प्रतीक योजना से उलटबांसी शैली का विकास हुआ है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने एक लेख में प्रतीक योजना के इतिहास का संक्षिप्त विवरण देते हुए ऋग्वेद, उपनिषद्, महाभारत आदि में प्राप्त प्रतीकों का संकेत करने के पश्चात् लिखा है— "धीरे-धीरे इन प्रतीकों द्वारा गंभीर और दार्शनिक भाव-भूमि को स्पष्ट दिख दिया...नाथपंथियों और संत कवियों ने इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया।"[२]

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उलटबांसियों का प्रयोग बहुत बाद का है। वर्माजी नाथपंथियों के साहित्य से ही इसका प्रारम्भ मानते हैं। अस्पष्ट रूप से धर्मवीर भारती ने भी यही संकेत किया है कि विरोधमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत उलटबांसी का रूप ११वीं-१२वीं शती के आस-पास ही धारण किया गया।[३] अनुसन्धान करने पर नाथपंथियों के साहित्य से पूर्व के साहित्य में भी इस प्रकार की विरोधमूलक प्रतीक योजना के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। नाथपंथियों और संत कवियों ने तो इन्हें लोक में अधिक प्रचलित किया। उन्होंने

१. "वे (कबीर) धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उलटबांसियां लिखते थे।"

—डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६८

२. 'हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना' लेख, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक; हिन्दी अनुशीलन, पृ० ३८६-८७

३. सिद्ध साहित्य, पृ० २८४

अपनी साधना-पद्धति और कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली ग्रहण करके नवीन प्रतीकों का निर्माण किया किन्तु उलटवांसी-शैली उन्हें परम्परा से ही प्राप्त हुई थी। इन दोनों प्रकार की प्रतीक-योजना के अन्तर्गत व्यवहृत प्रतीकों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतीक-योजना की इन दोनों शैलियों का उद्गम स्थल वैदिक साहित्य ही है।

वेदों में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना—वेद भारतीय चिन्ताधारा के आदि स्रोत माने जाते हैं। साम्यमूलक और विरोधमूलक दोनों प्रकार की प्रतीक-योजना के बीज उनमें विद्यमान हैं। आध्यात्मिक और रहस्यात्मक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकात्मक शैली को उनमें अपनाया गया है। इन्द्र, मित्र, मरुत्, सवितृ, वरुण, रुद्र, अश्विन् आदि विभिन्न देवता विभिन्न प्रतीक ही हैं जो क्रमशः शक्ति, चेतना, बल, प्रेरणा, धर्म, दण्ड तथा दिव्य भेषज के लिए वर्णित किए गए हैं। वेदों में प्रयुक्त इन दोनों प्रकार की प्रतीक-योजनाओं के उदाहरण पृथक् वर्गों में रखकर नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

साम्यमूलक प्रतीक-योजना—ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में व्यवहृत विभिन्न उपमान प्रतीक रूप में व्यवहृत किए गए हैं। संख्यावाची शब्दों को भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के सहायक रूप में ग्रहण किया गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले तृण, औषधि आदि के लिए 'रोम' शब्द का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में हुआ है—

"यद् वातजूतो, वना व्यस्थादग्निर्ह दाति, रोमा पृथिव्याः।"[1]

इसी प्रकार त्वष्टा (बल) के बालक रूप में अग्नि का उल्लेख है जिसका भरण-पोषण दश अथक कुमारियों द्वारा किया जाना वर्णित है—

"दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति।।"[2]

दश अथक कुमारियां दश अंगुलियों का प्रतीक है। प्रतीकात्मक शैली में किया गया सूर्य के रथ का वर्णन भी उल्लेखनीय है जिसमें विभिन्न संख्याओं का आश्रय ग्रहण किया गया है—

"सप्तयुंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनामि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः।।"[3]

एक अन्य मन्त्र में यही चक्र 'वर्ष' के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है—

---

१. ऋग्वेद, १, ६५-८
२. ऋग्वेद, १, ९५-२
३. ऋग्वेद, १, १६४-२

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।।"[1]

चक्र वर्ष, बारह प्रधियां बारहमास, तीन नाभियां तीन ऋतुओं तथा तीन सौ साठ शंकु दिनों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार पंच अराओं वाले चक्र का सारे लोकों में घूमने का वर्णन किया गया है—

"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ।।"[2]

यजुर्वेद के एक मन्त्र में 'सप्त परिधयः' तथा 'त्रिः सप्त समिधः' प्रतीक क्रमशः सात गायत्री आदि यज्ञ के मन्त्रों तथा प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार आदि २१ तत्त्वों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[3] अथर्ववेद में एक वृक्ष पर साथ-साथ रहनेवाले दो पक्षियों का वर्णन भी प्रतीकात्मक ही है—

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।"[4]

इस मन्त्र में वृक्ष संसार का और दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा के प्रतीक हैं।

विरोधमूलक प्रतीक-योजना—वेदों में रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति विपर्ययोक्तियों में भी हुई है। विपर्ययोक्तियां तो असंख्य हैं किन्तु ऐसी विपर्ययोक्तियां जिनमें प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया है कम ही हैं। इस प्रकार की उक्तियों में व्यवहृत प्रतीक विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत ही हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्र अन्य वैदिक साहित्य में ज्यों के त्यों उपलब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार की विरोधमूलक उक्तियों के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिनमें विभिन्न प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। इस शरीर का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।"[5]

इस शरीर में नदियां बहती हैं और जल स्थिर रहता है। एक अन्य मन्त्र में पिता के पुत्री में गर्भाधान किए जाने का उल्लेख है—

---

१. ऋग्वेद, १, १६४-४८ २. ऋग्वेद, १, १६४-१२

३. यजुर्वेद, ३१-१५

४. अथर्ववेद, ६, ६-२०; ऋग्वेद, १, १६४-२०। यही मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।६) मुण्डकोपनिषद् (३-१) में भी है।

५. ऋग्वेद, ५, ४७-५

"उत्तानयोश्चम्वो ३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।"[१]

वृषभ के चार श्रृंग, तीन पाद, दो शिर तथा सात हाथों का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

"चत्वारि श्रृंगात्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासौ अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आ विवेश ।।"[२]

एक अन्य मन्त्र में देवता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके माता के गर्भ में लिपटे होने तथा साथ ही उसके अनेक बच्चे होने का वर्णन है—

"य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ।"[३]

पुत्र होकर भी माताओं को जन्म देने का[४] तथा पक्षी के भीतर निहित जीव की इन्द्रियों का अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान और चरणों द्वारा जल पीने का[५] वर्णन इसी विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत है।

उपनिषदों में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना—उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण और सगुण रूप का विशद वर्णन किया गया है। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी होने के कारण इन्हें 'वेदान्त' की संज्ञा दी गई है। इन उपनिषदों में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। वेदों के समान ही विभिन्न देवी-देवताओं का उल्लेख प्रतीकात्मक शैली पर ही आधृत है। तैत्तिरीयोपनिषद् के पहले ही श्लोक में आए मित्र, वरुण, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु आदि नाम क्रमशः दिन और प्राण, रात्रि और अपान, बल और भुजा, वाणी और बुद्धि तथा पैरों के अधिष्ठाता रूप में प्रतीक ही हैं।[६] 'ॐ' शब्द भी ब्रह्म का प्रतीक है जो निर्गुण निराकार परमात्मा की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के आलम्बनों में सबसे श्रेष्ठ और चरम आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित है।[७] बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म रूप की

---

१. ऋग्वेद, १, १६४-३३; अथर्ववेद, ९-१०-१२
२. ऋग्वेद ४, ५८-३
३. ऋग्वेद, १, १६४-३२; अथर्ववेद, ९, १०-१०
४. "क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः ।"
—ऋग्वेद, १, ९५-४
५. "इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ।"
—ऋग्वेद, १, १६४-७; अथर्ववेद, ९, ९-५
६. तैत्तिरीयोपनिषद्, १।१
७. कठोपनिषद्, १।२।१६-१८

उपासना के प्रसंग में वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि में पुरुष का उल्लेख भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही है।[१] उमा ब्रह्म विद्या के लिए,[२] गुहा बुद्धि[३] और हृदय के लिए,[४] वृक्ष शरीर[५] और संसार के लिए,[६] हंस जीवात्मा[७] और प्रकाशस्वरूप परमात्मा[८] के लिए व्यवहृत विभिन्न प्रतीक ही हैं। इनके अतिरिक्त उपनिषदों में विभिन्न संख्याएँ भी प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त की गई हैं। कठोपनिषद् में ग्यारह द्वारों वाले शरीर का उल्लेख है।[९] इसी प्रकार श्वेताश्वतर में नौ द्वारों वाले पुर का वर्णन है।[१०] इन प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करने के कारण कहीं-कहीं अभिव्यक्ति अत्यन्त भावपूर्ण हो गई है। साथ-साथ रहने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय ग्रहण किए हैं।[११] इसी प्रकार विश्व चक्र का वर्णन[१२] भी साम्यमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत भावपूर्ण अभिव्यक्ति ही है।

उपनिषदों में विरोधमूलक प्रतीक-योजना के उदाहरण भी विद्यमान हैं। उस ब्रह्म और आत्मा की अभिव्यक्ति विपर्ययोक्तियों में तो अनेक उपनिषदों में की गयी है।[१३] किन्तु इन विपर्ययोक्तियों में प्रतीकों का आश्रय ग्रहण नहीं किया गया। ऐसे विरोधमूलक कथन जिनमें प्रतीक भी हैं विरोधमूलक प्रतीक-योजना

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।२-१३ २. केनोपनिषद्, ३-१२
३. कठोपनिषद्, १-३-१; मुण्डकोपनिषद् ३-१-७
४. कठोपनिषद्, २-१-७; श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-११
५. कठोपनिषद् २-३-१; मुण्डकोपनिषद् ३-१-१; ३-१-२
६. तैत्तिरीयोपनिषद् १-१०; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-६; ६-६
७. श्वेताश्वतरोपनिषद् १-६ ८. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६-१५
९. कठोपनिषद् २-२-१
१०. श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१८; श्रीमद्भगवद्गीता में भी नौ द्वारों वाले शरीर का उल्लेख है—
'नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।' ५-१३
११. मुण्डकोपनिषद् ३।१।१; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६
१२. श्वेताश्वतरोपनिषद् १।४
१३. (क) 'वह स्थिर रहता हुआ भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर देता है"—ईशोपनिषद् मं० ४
(ख) "वह आत्म तत्व चलता है, नहीं भी चलता; दूर भी है समीप भी है; सबके भीतर है बाहर भी है"—ईशोपनिषद् मं० ५
(ग) "ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता"—केनोपनिषद् २।३

के अन्तर्गत आएंगे। इस प्रकार के उदाहरण कम ही हैं। कठोपनिषद् में ऊपर की ओर मूल वाले और नीचे की ओर शाखा वाले सनातन पीपल के वृक्ष का वर्णन इसी प्रकार का है—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।"[1]

पुराण साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना—पुराण साहित्य में विभिन्न आख्यान हैं जिनमें अनेक पात्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये आख्यान तथा पात्र दोनों प्रतीकात्मक शैली में ही अभिव्यक्त हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रमुख आराध्यदेवता रूप में वर्णित किए गए हैं। मूलतः ब्रह्मा ज्ञान और सृष्टि-निर्माण कर्त्ता रूप में, विष्णु व्यापकत्व और सृष्टि-पालक रूप में तथा शिव शिवत्व और सृष्टि-संहारक रूप में प्रतीक ही हैं। अन्य देवता इन्द्र, बृहस्पति आदि भी ऐश्वर्य पराक्रम तथा ज्ञान आदि विशिष्ट गुणों के प्रतीक ही हैं। विभिन्न शक्ति रूप देवियाँ लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा, काली आदि भी क्रमशः वैभव, कला (ज्ञान), सुन्दरता, शक्ति और भयंकरता की प्रतीक हैं। देवी, देवताओं के वाहन रूप में वर्णित गरुड़ तीव्र गति के लिए, हंस विवेक ज्ञान के लिए तथा नान्दी कृपा के लिए व्यवहृत किए गए हैं। सिद्धि प्रदाता तथा विघ्नों के नाशक रूप में गणेश प्रतिष्ठित हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त पुराणों में वर्णित आख्यान भी प्रतीकात्मक शैली में ही वर्णित किए गए हैं। सम्भवतः आख्यानों के सार-तत्त्व को गोपनीय रखने के उद्देश्य से ऐसा किया गया है। त्रिपुरासुर की कथा, (त्रिपुर मानव के अहं का प्रतीक), बृहस्पति की पत्नी तारा का चन्द्रमा के द्वारा अपहरण की कथा तथा श्रीकृष्ण से सम्बन्धित चीर-हरण, रास-लीला आदि की कथाएँ

(घ) "वह न भीतर को प्रज्ञा वाला है, न बाहर को, न दोनों ओर।'
—माण्डूक्योपनिषद् मं० ७

(ङ) "जो परमात्मा समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है।"—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१७ इसी प्रकार की अन्य विपर्ययोक्तियों के लिए देखिए—
कठोपनिषद्, १।२।२१; १।२।२२
मुण्डकोपनिषद्, ३।१।७
श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१६; ४।१

१. कठोपनिषद् २।३
श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक में भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति है—
'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥' १५।१

भी प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्त हैं। इन आख्यानों का यदि प्रतीकार्थ ग्रहण न किया जाय तो इनकी उपादेयता ही नष्ट हो जाती है। तब भक्ति क्षेत्र से भी इन्हें पृथक् करना होगा और काव्य क्षेत्र में तो महत्त्व ही न रहेगा। ये केवल अश्लील कहानियां मात्र रह जायेंगी। कबीर के काव्य पर इन पौराणिक आख्यानों का प्रभाव नगण्य ही है। वे तो इनके विरोध में काव्य-सृजन कर रहे थे। अतः पुराणों के प्रतीकों को भी कबीर ने ग्रहण नहीं किया। कबीर के प्रतीकों का स्रोत वैदिक साहित्य तथा सिद्ध और नाथपंथियों का साहित्य ही है। यह दूसरी बात है कि उनमें बहुत से प्रतीक ऐसे भी हैं जो इन विभिन्न पुराणों में भी प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए अंधकार, अमृत, विष आदि इसी प्रकार के प्रतीक हैं ये प्रतीक कबीर के समय में इतने अधिक प्रचलित थे कि कबीर इनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। वास्तव में कबीर द्वारा व्यवहृत इस प्रकार के प्रतीक तत्कालीन वातावरण के प्रभाव स्वरूप ग्रहण किए गए हैं। पुराणों से इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं।

बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना—बौद्ध साहित्य में मत विशेष के सिद्धान्तों को प्रकट करने के निमित्त अनेक प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया। साम्यमूलक और विरोधमूलक दोनों प्रकार की प्रतीक-योजना के उदाहरण इस साहित्य में प्राप्त हो जाते हैं। विरोधमूलक प्रतीक-योजना के उदाहरण अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। ज़ेन् बौद्ध साहित्य में इस प्रकार की विरोधात्मक उक्तियों के लिए 'कुआन्' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१] साम्यमूलक प्रतीकयोजना के अन्तर्गत व्यवहृत प्रतीकों में रूपकात्मक, पारिभाषिक और संख्यामूलक प्रतीकों का वैशिष्ट्य है। विरोधमूलक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रतीक अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। बौद्ध साहित्य के प्रमुख प्रतीक निम्न हैं :—

प्रतीक	**संकेतित अर्थ**
द्वीप	निर्वाण अथवा संसार सागर में प्रतिष्ठाभूत अपने सुकर्म
बाढ़	विषयों की लिप्तता
उस पार	निर्वाण
अमृतपद	दुःखनिवृत्ति
अंधकार	अविद्या
प्रदीप	प्रज्ञा
नगर, गृह, वृक्ष	शरीर
गृहकारक	तृष्णा अथवा संस्कार

१. 'कुआन्' शब्द के लिए देखिए—
'An Introduction to Zen Buddhism', Dr. D. T. Suzuki, p. 101-103

मिथ्याधारणा	आत्मा में विश्वास करना तथा किसी भी पदार्थ का नित्य और सुख करके मानना
वन, झाड़ी	भव
नाव	धर्म
धारा	तृष्णा
उत्तमपद) उत्तम पदार्थ)	सत्य
ब्राह्मण	निष्पाप अथवा ज्ञानी
नद्धि	द्वेष
रस्सी	राग
पगहा	मोह
जूआ	अविद्या का सम्पूर्ण भार
पाँच	पाँच नीवरण (कामच्छन्द, सत्यान-मृद्ध औद्धत्य-कौकृत्य, व्यापाद, विचिकित्सा) पांच इन्द्रियाँ (श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, समाधि, प्रज्ञा) पांच स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) आदि

साम्यमूलक प्रतीक-योजना कहीं-कहीं अत्यधिक भावपूर्ण है, उदाहरण के लिए—

"उट्ठानेनप्पमादेन सञ्जमेन दमेन च ।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ।।"[१]

इस श्लोक में मेधावी पुरुषों को उद्योग, अप्रमान, संयम और दम द्वारा ऐसे द्वीप बनाने का उपदेश दिया गया है जिसे बाढ़ नहीं डुबा सके। एक अन्य उदाहरण में इस संसार से बहुत कम मनुष्यों के उस पार जाने का संकेत है । अधिकांश तो केवल किनारे ही किनारे दौड़ते रह जाते हैं। निर्वाण के लिए प्रयुक्त 'उस पार' शब्द भावपूर्ण है—

"अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ।।"[२]

इसी प्रतीक-योजना के अन्तर्गत संख्यामूलक प्रतीकों के माध्यम से किया गया सिद्धान्त-निरूपण भी द्रष्टव्य है—

१. धम्मपद—श्लोक २५ २. धम्मपद—श्लोक ८५

"पञ्च छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो ति वुच्चति।।"[१]

बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ 'अङ्गुत्तरनिकाय' में इस प्रकार के संख्यामूलक प्रतीकों का बाहुल्य है।

विरोधमूलक उक्तियों के द्वारा भी सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया गया है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में दो उदाहरण उलटवांसियों के ही हैं —

"मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।।
मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।।"[२]

माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओं आदि के साथ सारे राष्ट्र को तथा पांच नीवरणों को मार कर बाह्मण के निष्पाप हो जाने का कथन विरोधमूलक अभिव्यक्ति ही है किन्तु विभिन्न शब्दों के प्रतीकार्थ ग्रहण करने पर विरोधात्मकता समाप्त हो जाती है—माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), और अनुचर के साथ सारे राष्ट्र (संसार की सारी आसक्तियों) को मार कर ब्राह्मण (ज्ञान) निष्पाप होता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में केवल पांचों नीवरण प्रतीक ही नवीन है शेष वही शब्द हैं जो पहले श्लोक में प्रयुक्त हुए हैं। पांच नीवरण विषयकामना, द्वेष आलस्य, चित्तका चांचल्य, पश्चात्ताप तथा संशय हैं।

सिद्ध साहित्य के प्रतीक और उनकी योजना—सिद्ध साहित्य एक ओर बौद्ध धर्म से प्रभावित है तो दूसरी ओर योग साधनात्मक तंत्र विद्या से। यही कारण है बौद्धों के साथ-साथ तांत्रिकों के बहुत से प्रतीक भी इन्होंने ग्रहण किए। योग-मार्ग की गूढ़ता को प्रगट करने के लिए इन्होंने प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। "सिद्धों के प्रतीकों पर विज्ञानवादी दर्शन और योगाचार की ज्ञाण साधनाओं का प्रभाव है।"[३] इस प्रभाव को दिखाना प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय नहीं किन्तु इतना अवश्य प्रसंगानुकूल है कि सिद्धों ने विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किए गए प्रतीकों में अपने नए अर्थ भरने का प्रयास किया। इन्हीं प्रतीकों का विशेष प्रभाव कबीरदास पर पड़ा है। सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त कुछ प्रतीक जिन्हें कबीर ने कहीं ज्यों का त्यों और कहीं नवीन अर्थ देकर ग्रहण किया इस प्रकार हैं—

---

१. धम्मपद—श्लोक ३७०
२. धम्मद—श्लोक २९४, २९५
३. सिद्ध साहित्य, पृ० २७७

प्रतीक	संकेतित अर्थ
वृक्ष	शरीर
तरुवर, नगरी	काया
चादर	तन
गगन	ब्रह्मरन्ध्र
पीहर	संसार
सास	श्वास
कमल	भग तथा महासुख चक्र तथा अन्य चक्रों के लिए
कुलिश	लिंग
गंगा	ललना, इड़ा
यमुना	रसना, पिंगला
नौका	सहजयान
अग्नि	ब्रह्माग्नि
ननद	वासना
गाय	इन्द्रियां
हंस	चित्त, पवन या प्राण
हरिणी	माया
ससुराल	ब्रह्मलोक
जुलाहा	जीव
काग	अज्ञानी चित्त
चूहा या मूषक	अंधेरी रात और मन
मेंढ़क, शृंगाल, करभ	मन
सिंह	शून्य तथा वासनायुक्त मन
चोर	वासनात्मक मन
बैल	मन, बोधि चित्त
गज	कमल का प्रेमी, साधना प्रवृत्त मन
भंवरा	कमल चक्रों का प्रेमी मन
मृग	पंचेन्द्रियों में आसक्त मन
अन्धा व्यक्ति	अज्ञानी गुरु या श्रद्धाहीन शिष्य
पांच जना या पांच उडाल	पांच तत्व या पांच इन्द्रियां
दशम द्वार	ब्रह्मरन्ध्र
३२ योगिनियां	३२ नाड़ियां

इन प्रतीकों की योजना साम्यमूलक और विरोधमूलक दोनों प्रकार की है। साम्यमूलक के उदाहरण स्वरूप सरहपा की निम्न पंक्ति उद्धृत की जा सकती है—

'सरहा भणइ गअणे समाअ।'[१]

ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'गअण' (गगन) शब्द का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में ही है। अन्य सिद्ध कवियों ने भी इसे प्रयुक्त किया—

"गअणे उठि करअ अमिअ पाण।"[२]

"बाहनु कामलि गअण-उवेसें।"[३]

"गअण टाकली लागे लि रे चित्त पइट्ठणि बाणा।"[४]

"मइ अहारिल गअणत पणिआ।"[५]

विभिन्न संख्याएं भी प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत की गयी हैं—गंगा यमुना के बीच में चलने वाली नाव का वर्णन करते हुए सिद्ध कवि डोम्बिपा ने लिखा है—

"पांच केडुआल पडन्ते मांगे पीठत काच्छी बांधी।"[६]

इसी प्रकार 'दसवां द्वार' योग साधना का प्रसिद्ध संख्यावाची प्रतीक है—

"दसमी दुआरते चिह्न देखइआ।"[७]

एक अन्य उदाहरण में काया को तरुवर कहकर पांच डालों का उल्लेख भी साम्यमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत है—

"काआ तरुवर पंच बिडाल।"[८]

सिद्धों ने अपनी योग साधना के प्रचारार्थ तथा सामान्य जनता को चमत्कृत करने के निमित्त विरोधमूलक प्रतीक-योजना भी अपनायी। ढेण्ढणपा[९] के एक पद में मेंढक के सर्प से भयभीत होने, दुहे हुए दूध के थनों में लौटने, बैल के प्रसव करने, गाय के बांझ होने आदि का वर्णन इसी प्रकार का है—

"टालत मोर घर नाहिं पड़िवेशी
हाड़ीत मात नाहिं निति आवेशी

---

१. हि० का० धा०, पृ० १८
२. भूसुकुपा, हि० का० धा०, पृ० १३२
३. कमरिपा, हि० का० धा०, पृ० १४४
४. महीपा, हि० का० धा०, पृ० १६४
५. भादेपा, हि० का० धा०, पृ० १६६
६. हि० का० धा०, पृ० १४०
७. विरूपा, हि० का० धा०, पृ० १३८
८. लुईपा, हि० का० धा०, पृ० १३६
९. हि० का० धा० में इनका नाम टेंडण (तंति) पा दिया गया है। पृ० १६४

बेंगस सांप बढिल जाग्र
दुहिल दूधु कि बेन्टे समाग्र
वलद बिआअल गविआ बांझे
पिटा दुहिअउ ते तिनि सांझे
जो सो बुधी सो धुनि बुधी
जो सो चोर सोइ साधी
नित नित सिआल सिहे सम जुझग्र
ढेंढण पाएर गीत विरले बुझअ।"[१]

इसी प्रकार ऐसे शून्य तरुवर की कल्पना जिसमें मूल और डाल नहीं है विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत ही है -

"सुण्ण तरुवर णिक्करुण, जहि पुणु मूल ण साह।"[२]
'सुण्णा तरुवर गअण-कुठार। छेवइ सो तरु-मूल ण डाल।"[३]

इन विरोधमूलक उक्तियों का कबीरदास तथा अन्य परवर्ती संतों पर विशेष प्रभाव पड़ा हैं। इस विषय में डॉ० भारती का कथन सत्य ही है—"कबीर ने भक्ति के साथ साथ योग को भी प्रश्रय दिया श्रौर योगमार्गी परम्पराओं में जो भी वज्रयानी साधना पद्धतियां, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटबांसियां चली आ रही थीं वे सबको तथा उनके अनुयायी सन्तों को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुईं।"[४]

नाथ साहित्य के प्रतीक श्रौर उनकी योजना—नाथ साहित्य में व्यवहृत प्रतीकों का प्रभाव कबीरदास पर प्रभूत मात्रा में है। इस दृष्टि से इस साहित्य का विशेष महत्त्व है। नाथपंथियों के अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिनमें मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों का है।[५] इन विभिन्न सम्प्रदाय वालों का ऐसा विश्वास है कि "सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं।"[६] जनश्रुति में गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रूप में माने जाते हैं किन्तु "गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक नहीं थे। वे उसके अत्यन्त प्रबल प्रचारक आचार्य तथा संगठन कर्त्ता थे।"[७] उन्होंने तो 'परस्पर विच्छिन्न नाथपंथियों का

१. सिद्ध साहित्य, पृ० ४६६; यही पद हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ तथा हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६४ पर भी उद्धृत है किन्तु तीनों के ही पाठों में अन्तर है।
२. सरहपा, हि० का० धा०, पृ० १६
३. कण्हपा हि० का० धा०, पृ० १५४
४. सिद्ध साहित्य, पृ० ३२७
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६
६. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १
७. सिद्ध साहित्य, पृ० ३२३

संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था।'[1] इसी कारण नाथ पंथियों में गोरखनाथ का विशेष महत्त्व है। इनके साहित्य ने नाथपंथी योगियों को ही नहीं परवर्ती संत साहित्य को भी प्रभावित किया है। कबीरदास की अनेक ऐसी उक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं जो ज्यों-की-त्यों गोरखबानी में प्राप्त हो जाती हैं। प्रतीकों की दृष्टि से "गोरखबानी को यदि एक प्रकार से प्रतीकों का विपुल भंडार कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी।"[2] इन प्रतीकों के माध्यम से यौगिक साधनाओं का परिचय देने का प्रयास किया गया है। हठयोग की विशिष्ट शब्दावली के लिए अनेक प्रतीक व्यवहृत हुए हैं।

उदाहरणार्थ—हठयोग साधना में 'ब्रह्मरन्ध्र' का विशेष स्थान है। गोरखवानी में इसके लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है—

'पाताल की गंगा **ब्रह्मंड** चढ़ाइबा, तहां विमल विमल जल पीया।'[3]

'गगन मंडल मैं **ऊंधा कूवा** तहां अंमृत का बासा।'[4]

'ब्रह्मंड' और 'ऊंधा कूवा' ब्रह्मरंध्र के लिए ही प्रयुक्त प्रतीक हैं जिसमें विमल जल या अमृत तत्व भरा हुआ है। इसी ब्रह्मरन्ध्र के लिए उत्तराखंड शब्द भी प्राप्त होता है—

'उत्तरखंड जाइबा सुंनि फल खाइबा।'[5]

एक अन्य 'सबदी' में 'अधरा' शब्द का प्रयोग भी इसी के लिए हुआ है—

'अधरा धरे बिचारिया, घर या ही मैं सोई।'[6]

'तातै लोहै'[7], 'दसवां द्वार'[8], गुफा[9] आदि प्रतीक भी इसी ब्रह्मरंध्र के सूचक हैं।

इसी प्रकार मन के लिए भी मछली, ऊंट, मृग, कूकर आदि अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। नाथसाहित्य में विभिन्न संख्याएं भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त की गयी हैं—शरीर के नौ रन्ध्रों को 'नवद्वार', और 'नौ गाय' रूप में संकेतित किया है। इसी प्रकार 'पंच भूत' अथवा 'पंचेन्द्रियों' के लिए 'पांच बैल,' 'पंच देव' आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। नाथ साहित्य में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक हठयोग के साधना सम्बन्धी पारिभाषिक प्रतीक ही हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०

२. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रतीक विधान, डॉ० नित्यानन्द शर्मा, पृ० ६८

३. गो०, पृ० २; सबदी २

४. गो०, पृ० ६; सबदी २३

५. गो०, पृ० २४; सबदी ६७

६. गो०, पृ० ३४; सबदी ९८

७. गो०, पृ० ३६; सबदी १०५

८. गो०, पृ० ४७; सबदी १३५; तथा पद १६, २१ आदि

९. गो०, पृ० ४६; सबदी १३२

संकेलित अर्थ	प्रतीक
पिंगला	सूर्य, यमुना
इड़ा	चन्द्र, गंगा
सुषुम्ना	सरस्वती, घर
इन्द्रियों	पंचकटार, पंचदेव, समन्दर, पंच बैल
मन	ऊंट, मछली, मृग, कौआ, कूकर, असाधु
माया	बेस्या, बांझ, कामिनी, ऊंट, खरहा, शशा, बूढ़ी, बाघिन, सास
कुंडलिनी	पाताल की गंगा, देवी, धरती, जोगिनी, गागरी
आत्मा	ब्रह्मचारी, गाय, घर का गुसांई, बाघ, पनिहारी, हंस
ब्रह्म	पुरुष, विज्ञानी, बालक, हीरा, भील, शिकारी
ब्रह्मरन्ध्र	ब्रह्मंड, ऊंधा कूवा, अधरा, तातै लोहा, दसवां द्वार, शून्य द्वार
श्वास	भुवंगम
जीव	हंस, कौवा, मायाधीन पुरुष

नाथपंथियों द्वारा व्यवहृत प्रतीकों की योजना साम्यमूलक और विरोध-मूलक दोनों प्रकार की हुई है। साम्यमूलक के अन्तर्गत विभिन्न संख्याओं का भी बाहुल्य है। उदाहरण के लिए—

"उलटिया पवन षट चक्र बेधिया, तातै लोहै सोषिया पांणीं।
चंद सूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलष बिनांणीं।"[१]

"(प्राण वायु को उलटकर छहों चक्रों को बेध लिया। उससे तप्त लोह (ब्रह्मरन्ध्र) ने पानी (रेतस्) को सोख लिया। चन्द्रमा (इड़ानाड़ी) और सूर्य (पिंगला) दोनों को अपने घर (सुषुम्ना) में रखा, निमज्जित कर दिया। ऐसा (जो जोगी करै) वह स्वयं अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।)"[२]

विरोधमूलक प्रतीकयोजना विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इस प्रकार की विपर्ययोक्तियों के कथन में चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए—

नाथ बोलै अमृत बांणीं बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणीं ।। टेक ।।

---

१. गो०, पृ० ३६, सबदी १०५ २. गो०, पृ० ३६-३७ पर प्रस्तुत अर्थ

गाड़ि पडरवा बांधिलै षूंटा, चले दमांमां बाजिलै ऊंटा ।१।
कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै ।२।
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डकरिया ठौरै षाट ।३।
टूकिले कूकर मूकिले चोर, काढै घणीं पुकारे ढोर ।४।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी ।५।
मगरी परि चूल्हा घूंघाइ, पोवण हारा कौं रोरी खाइ ।६।
कांमिनि जलै अगीठी तापै, बिचि बैसंदर थरहा कांपै ।७।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई ।८।
नगरी कौ पांजीं कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।।४७ ।।"[1]

गोरखनाथ ने स्वयं इसे 'उल्टी चरचा' कहकर पुकारा है। इसी प्रकार एक अन्य पद में —

"चीटी केरा नेत्र मैं गज्येंद्र समाइला ।
गावडी के मुष मैं बाघला बिवाइला ।।४।।"[2]

चींटी की आंखों में गजेन्द्र का समाना तथा गाय के मुख में बाघिन के बिआ जाने का वर्णन अभिधार्थ में विरोधमूलक है किन्तु प्रतीकार्थ ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा कि सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप का समाना तथा भौतिक जीवन में उसको नाश करने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का उत्पन्न हो जाना।

इसी प्रकार 'गगन मंडल में औंधा कुआ,'[3] बिना मूल का वृक्ष,[4] बारह वर्ष में बांझ का ब्याना,[5] मछली का पहाड़ पर चढ़ना,[6] पानी में आग लगना,[7] पर्वतों का जल के बिना तैर जाना, चींटी का पर्वत गिराना,[8] गाय का बाघ की दुर्दशा करना, मृगों का चीते को मारना[9] आदि विपर्यय कथन इसी विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत हैं।

कबीरदास द्वारा व्यवहृत प्रतीक प्रमुखतः तीन स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं— (१) वैदिक साहित्य से—जैसे हंस, पद, वृक्ष आदि; (२) सिद्ध और नाथ साहित्य से—जैसे गंगा, जमुना, संसार, अहेरी, मृग आदि; (३) तत्कालीन वातावरण और व्यवसाय से—जैसे विष, अमृत, चादर, दीपक, बाती आदि। कबीर के काव्य में वैदिक साहित्य से प्रभावित प्रतीकों की संख्या बहुत कम है।

---

१. गो०, पृ० १४१-४२, पद ४
२. गो०, पृ० १२६, पद ३४
३. गो०, पृ० ६, सबदी २३
४. गो०, पृ० १०८, पद १८
५. गो०, पृ० १२६, पद ३४
६. गो०, पृ० ११२, पद २०
७. गो० पृ० ११२, पद २०
८. गो पृ० ९७, पद ११
९. गो०, पृ० १५४, पद ५७

सिद्ध और नाथों के साहित्य से तथा तत्कालीन वातावरण और व्यवसाय से प्रभावित प्रतीकों का बाहुल्य है।

कबीरदास द्वारा प्रयुक्त प्रतीक और उनकी योजना—

'प्रतीक रूप में विभिन्न वस्तुओं का व्यवहार अच्छी कविता में बराबर होता आया है।' इन विभिन्न वस्तुओं की क्षमता सहृदय पाठक की भावना या विचार उद्बुद्ध करने में निहित है। प्रतीकों के इसी प्रभाव के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीकों को दो प्रकार का माना है—एक मनोविकार या भावों को जगाने वाले प्रतीक (Emotional symbols) और दूसरे विचारों को जाग्रत करने वाले प्रतीक (Intellectual symbols)।[१] दूसरे शब्दों में इन्हें भावोद्बोधक और विचारोद्बोधक प्रतीक कहा जा सकता है। प्रतीकों का यह विभाजन अपने आप में विवादमुक्त नहीं। शब्द के विचारोद्बोधक और भावोद्बोधक दोनों गुण अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि अच्छी कविता में जहां विचारोद्बोधन होगा भाव-ऊर्मि उठना भी स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार भावोद्बोधन कराने में सफल काव्य में विचारोद्बोधन की सामग्री भी अवश्य होगी। विचार-रहित काव्य मनोरंजन मात्र होगा और विचारप्रधान भाव-हीन कविता दर्शन। किन्तु पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रखते हुए शुक्लजी द्वारा किए गए इस विभाजन में तथ्य है। कुछ प्रतीक ऐसे होते हैं जिनसे पाठक के हृदय में भाव का उद्बोधन नहीं होगा। इसके विपरीत कुछ प्रतीक ऐसे भी हैं जिनसे भावोद्बोधन होगा। इस बात को कबीर के निम्नलिखित दो उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) "तरवर एक पेड़ (पींड़ ?) बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाकै अष्ट गगन मुख बागा॥"[२]

(२) "दुलहिनीं गावहु मंगलाचार।
हंम घरि आए राजा रांम भरतार॥
... ...
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अबिनासी॥"[३]

प्रथम उदाहरण में तरवर (शरीर) विचारोद्बोधक प्रतीक कहा जाएगा। फल, फूल, शाखा, पत्रविहीन वृक्ष की कल्पना किसी भी सहृदय पाठक के हृदय में भावोर्मि नहीं उठाएगी। प्रस्तुत पंक्तियों के अर्थ-ग्रहण करने के लिए कबीर की भक्ति के साधना-पक्ष को जानना आवश्यक है। यह साधना पक्ष शुद्ध विचार से सम्बन्धित है। अतः इसे पढ़ कर पाठक के विचारों में ही उद्वेलन होगा। हृदय को स्पर्श करने की सामग्री इसमें नहीं है।

---

१. चि० भाग २, पृ० १०६ २. क० ग्र०, १०८-३,४ ३. क० ग्र०, पद ५

इसके विपरीत दूसरे उदाहरण में दुलहिनीं (आत्माएं) भावोद्बोधक प्रतीक है। राम से पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित करते हुए मंगलचार आदि गाने के लिए किया गया अनुरोध विवाह का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। यह विवाह आध्यात्मिक विवाह है। जैसे-जैसे पाठक इस पद की अन्तिम पंक्ति तक पहुंचता जाता है उसकी कोमल भावनाएं तरंगायित होती जाती हैं। यह दूसरी बात है कि पद के मध्य में विचारोद्बोधक प्रतीकों का आश्रय भी ग्रहण किया गया है।

पाश्चात्य विद्वान अरबन ने प्रतीकों को तीन भागों में विभक्त किया है—

(१) बाह्यस्थ प्रतीक (Extrinsic symbols)
(२) अन्तस्थ प्रतीक (Intrinsic symbols)
(३) अन्तर्दृष्टियुक्त प्रतीक (Insight symbols)

जैसाकि उन्होंने स्वयं ही संकेत किया है कि अन्तर्दृष्टियुक्त प्रतीक सदैव अन्तस्थ ही होते हैं। अन्तस्थ प्रतीकों से उनका केवल मात्रा का भेद है। अतः मूलतः प्रतीक पहले दो ही हैं। बाह्यस्थ प्रतीक वे हैं जिनका उनके शाब्दिक अर्थ से कोई संबंध नहीं होता। ये अधिकांशतः संकेत मात्र होते हैं। अन्तस्थ प्रतीक वे हैं जिनका उन वस्तुओं के आन्तरिक गुणों से सीधा सम्बन्ध होता है जिनके वे प्रतीक बनकर प्रयुक्त किए जाते हैं। धर्म और कला के क्षेत्र में प्रायः इसी प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग होता है।[1] किन्तु यह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से किया गया है। विभिन्न प्रतीकों की प्रवृत्ति का विवेचन करने के लिए इन्हें अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विभाजित करने की आवश्यकता है। कबीरदास ने जिन विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग किया है उन्हें निम्न चार वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) साधना पद्धति से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक प्रतीक—गगन-गुफा, गगनमंडल, चंद, सूर, घट, डांइनि, बाघिनी, औंधा कुवा, ज्योति, अवधू, नाद, बिंद, सहज आदि।

(२) संख्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त प्रतीक—एकै कुवां, दोइपुर, तीनि-जगाती, पंचचोर, पांचौ नाग, पांच किरसांना, सात समुंद, सात सूत, पंचनारि, छप्पन कोटि, तेतीस करोड़ी, सवा लाख, चौरासी लाख आदि।

(३) रूपक, अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक—जंत्र, मंदिर, हीरा, तरवर, पंखि, गज, बनमाली, मृग, खेत, गांउं, दुलहिनीं बालम, राजा, बांबी, बिसहर, गारडू, बालक, महतारी आदि।

(४) उलटबांसियों के प्रतीक—मच्छ, सिंघ, समुंदर, नीर, आगि, मुआ,

1. Language and Reality, Urban; P. 414.

काल, मिरिग (मृग), ससा, हरिनि, चीता. काग, बटेर, बाज, मूस मंजार, स्यारि, स्वांन, दादुल, भुवंगा, बैल गाह, बछरा, दादुर, सर्प आदि ।

कबीरदास द्वारा व्यवहृत प्रतीकों की योजना साम्यमूलक और विरोधमूलक दोनों प्रकार की हुई है। इन्हें पृथक् वर्गों में रखकर नीचे विवेचित किया जा रहा है।

(१) साम्यमूलक प्रतीक-योजना

साम्यमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत योग-साधनात्मक पारिभाषिकप्रतीक, संख्यावाची शब्दों से युक्त प्रतीक तथा रूपक, अन्योक्ति रूप में प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक हैं। इन तीनों प्रकार के प्रतीकों की साम्यमूलक योजना अत्यन्त सशक्त एवं बहुविध रूप में कबीरदास द्वारा की गयी है। इनके उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

(क) योगसाधनात्मक पारिभाषिक प्रतीकों के माध्यम से—योग साधना में 'ब्रह्मरन्ध्र' का विशेष महत्त्व है। इसी रन्ध्र को खोलने के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। इसी के खुलते ही अमृत रस झरने लगता है। कबीर ने इसकी अभिव्यक्ति की है—

"रस गगन गुफा मैं अजर झरै ।
अजपा सुमिरन जाप करै ।।टेक।।"[१]

'गगनगुफा' 'ब्रह्मरन्ध्र' के लिए ही प्रयुक्त प्रतीक है। इस ब्रह्मरन्ध्र तक जो पहुंच जाता है वह फिर लौटता नहीं है, काल का भी वहाँ वश नहीं —

"कहै कबीर जोगी जुगुति कमाई। गगन गया सो आवै न जाई।"[२]
"गगन मंडल आसन किया, काल रहा सिर कूटि।"[३]

इस 'ब्रह्मरन्ध्र' में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का संगम होता है इन्हीं के लिए चंद, सूर और घर शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है—

"सूर समांनां चांद मैं, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया कछु पूरबला लेख ।।"[४]
"मन मंजन करि दसवैं द्वारि, गंगा जमुनां संधि बिचारि।"[५]

इस सुषुम्ना नाड़ी से कुण्डलिनी ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। इसे ऊपर की ओर प्रेरित करने के लिए श्वास निरोध की आवश्यकता है इसके लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है। मन की एकाग्रता की सिद्धि के लिए बाधक माया है जो विभिन्न रूपों में साधना मार्ग से हटाती रहती है। इस माया के लिए डांइनि,

---

१. १४५-१,२ २. १५१-५ ३. सा० १७-६-२
४. सा० ६-२०-१,२ ५. १२३-५

भी प्रयुक्त हुए हैं—

'रह्यौ समाइ **पंच तजि नारी** ।'[१]

'**पंच बलधिया** फिरकिड़ी, ऊजड़ि ऊजड़ि जाइ ।'[२]

'ऐसा कोई नां मिलै अपनां घर देइ जराइ ।
पांचउ लरिके पटकि कै रहै रांम लौ लाइ ।'[३]

शरीर के आँख, कान, नाक आदि छिद्रों के लिए 'नऊं दुवार', 'नवै घर' अथवा केवल 'नउ' का प्रयोग हुआ है तथा ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'दसवैं द्वारि' या केवल 'दस' संख्या का व्यवहार हुआ है—

'**नऊं दुवार** नरक धरि मूंदे दुरगंधि ही से बेढ़े ।'[४]

'कहत कबीर **नवै घर** मूसैं **दसवैं** तत्त समाई ।'[५]

'**नउ** वहियां **दस** गोंनि आहि । कसनि बहत्तरि लागि ताहि ।'[६]

'कालकंठ कौ गहैगा रूंधै **दसहुं दुवार** ।'[७]

'**दसवैं द्वारै** ताड़ी लागी अलख पुरुख जाकौ ध्यांन ।'[८]

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद पांच विकारों के लिए प्रयुक्त 'पंच चोर', 'पंच पियादैं', 'पांच भुवंगा' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं—

'**पंच चोर** संगि लाइ दिए हैं इन संगि जनम गंवायो ।'[९]

'**पंच पियादैं** पारिकै, दूरि करै सब दूजि ।'[१०]

'एक ही दादुल खायौ **पांचहूं भुवंगा** ।'[११]

विभिन्न देवताओं के लिए 'तेतीस करोड़' तथा विभिन्न योनियों के लिए 'चौरासी लख' प्रतीक प्रयोग में आए हैं—

'**तेतीस करोड़ी** है खेल खांनां । **चौरासी लख** फिरै दिवांनां ।'[१२]

'निसि अंधियारी कारनैं, **चौरासी लख चंद** ।'[१३]

इसी प्रकार कलाओं और विद्याओं के लिए भी संख्यावाची प्रतीकों का व्यवहार किया है—

'**चौसंठि दीवा** जोइ करि, **चौदह चंदा** मांहिं ।'[१४]

(ग) रूपक अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत भावमूलक प्रतीकों के माध्यम से—

---

१. १५१-२ २. सा० ४-३३-१
३. सा० ५-१-१, २ ४. ६९-२ ५. ८०-८
६. १२६-४ ७. सा० ३-२२-२ ८. १४५-५
९. ३६-४ १०. सा० १४-१०-२ ११. १३७-७
१२. ४२-५ १३. सा० १-४-१ १४. सा० १-३-१

इस प्रकार की योजनाओं का कबीर-काव्य में बाहुल्य है ।कबीर की सिद्धिहै आत्मा परमात्मा का मिलन । यह मिलन विवाह के प्रतीक रूप में वर्णित किया गयाहै---

'दुलहिनीं गावहु मंगलचार ।
हंम घरि आए राजा रांम भरतार ।।टेक।।
....
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अबिनासी ।'[१]

यह विवाह आध्यात्मिक विवाह है । आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध भी विभिन्न रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं—एक पद में कबीर ने पति-पत्नी सम्बन्ध माना है—

'मैं सासुरे पिय गोहनि आई ।
साईं संगि साध नहिं पूजी गयौ जोबन सुपिनैं की नांई ।।'[२]

दूसरे पद में स्वामी अतिथि रूप में यह सम्बन्ध वर्णित है—

'कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया साव ।
सूनैं घर का पाहुंना, ज्यौं आवैं त्यौं जाव ।'[३]

एक अन्य पद में यही सम्बन्ध माता पुत्र रूप में वर्णित है --

'सुत अपराध करत है केते । जननीं कै चित रहैं न तेते ।'[४]

शरीर के लिए 'गढ़' प्रतीक का प्रयोग कर अत्यन्त भावपूर्ण अभिव्यक्ति की है—

'क्यौं लीजै गढ़ बंका भाई ।
दोवर कोट अरु तेवर खाई ।।'[५]

यह शरीर या संसार रूपी घर भी व्यक्ति का नही हैं मनुष्य झूठे ही इसे अपना मानते हैं—

'झूठा लोग कहैं घर मेरा ।
जा घर मांहीं भूला डोलै सो घर नांहीं तेरा ।'[६]

अन्योक्ति रूप में प्रस्तुत विभिन्न प्रतीक भी अत्यन्त भावपूर्ण हैं । भ्रमर और कंवल का वर्णन इसी प्रकार का है—

'चलि चलि रे भंवरा कंवल पास ।
तेरी भंवरी बोलै अति उदास ।।'[७]

संसार की नश्वरता तथा काल के महत्त्व को प्रस्तुत करने के लिए अन्योक्ति रूप में अभिव्यक्ति की गयी है—

---

१. पद ७ २. १०८-१,२ ३. सा० २-४६-१, २
४. ३७-३ ५. २५-१, २ ६. ८६-१, २
७. ७५-१, २

'माली आवत देखि कै, कलियां करैं पुकार।
फूली फूली चुंनि गई, काल्हि हमारी बार।।'[1]
'पात झरंता यौं कहै, सुनि तरवर बनराइ।
अब के बिछुड़े नां मिलैं, कहूँ दूर पड़ैंगे जाइ।।'[2]

मृत्यु के पश्चात् शरीर रूपी जंत्र के न बजने की अन्योक्तिपरक अभिव्यक्ति भी मार्मिक है—

'कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावनहार।।'[3]

विषयवासना रूप मृगों द्वारा शरीर रूपी खेत उजाड़ने का तथा शरीर रूपी वन में आत्मा रूपी बनमाली का वर्णन भी सुन्दर है—

'जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।'[4]
'बनमाली जांनैं बन कै आदि।
रांम नांम बिन जनम बादि।।'[5]

इस प्रकार साम्यमूलक प्रतीक-योजना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। निश्चय ही विरोधमूलक प्रतीक-योजना से इसकी योजना अधिक सुदृढ़ और काव्यात्मक है।

(२) **विरोधमूलक प्रतीक-योजना—**

विरोधमूलक प्रतीक-योजना आधार कल्पना न होकर उक्ति का चमत्कार होता है। विरोध के द्वारा वर्ण्य को रमणीय बनाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रतीक-योजना के अन्तर्गत उलटबांसियां हैं। अमरकोश तथा अन्य कोशग्रन्थों में प्रतिकूल, उल्टा आदि के अर्थ में प्रतीक के प्रयुक्त होने का उल्लेख है।[6] इसी कारण विरोधमूलक प्रतीक-योजना में विपर्यय अथवा उल्टे कथनों का आधार ग्रहण किया जाता है। परम्परा का अनुसरण करते हुए ही कबीरदास ने क्लिष्ट कल्पना के आधार पर उलटबांसियों की रचना की। कबीर 'धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उलटबांसियां लिखते थे।'[7] तत्कालीन वातावरण में इस

---

१. सा० १६-३४-१, २ २. सा० १६-३६-१, २ ३. सा० १६-१-१, २
४. ६१-१ ५. १४१-१,२
६. (क) अमरकोश, पृ० १५५; (ख) संस्कृत अंग्रेजी कोश—मोनियर-विलियम (ग) बृहद् हिन्दी कोश
७. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० २६८

बात के निश्चय की आवश्यकता थी कि कौन सा धर्म समाज के लिए उपयोगी और अनुकरणीय है। ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा के लिए एक ओर स्पष्टवादिता और स्वाभाविकता को कबीर ने अपनाया तो दूसरी ओर अत्यन्त दुरूह और गूढ़ योजनाओं के द्वारा रहस्यात्मक ढंग से अभिव्यक्ति की। कबीरदास योगियों से प्रभावित तो थे किन्तु योग-साधनाओं के अतिरिक्त भी उनका कुछ अपना था जो तत्कालीन समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ग्रहण किया गया था। इस प्रसंग में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन उल्लेखनीय है—"कबीरदास योगियों के द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं पर वे स्वयं वही नहीं हैं जो योगी हैं··· अनहदनाद बजता ठीक है पर वही परम सत्य नहीं है, चरम वह है जो उसे बजाता है। जो तोड़ भी सकता है और जोड़ भी सकता है, जो बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है, जो परम सत्य और परम तत्त्व है भक्ति से ही मिल सकता है।"[१] यही भक्ति कबीर की अपनी है। शुक्ल जी ने इसे ही 'योगमार्ग से युक्त प्रेम मार्ग' कहा है।[२] इसी की प्राप्ति के साधनों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने उलटबांसियों का आश्रय ग्रहण किया। यह अभिव्यक्ति-शैली कुतूहलजनक भी थी और अस्पष्ट भी। कबीरदास द्वारा अभिव्यक्त विपर्ययोक्तियां तो बहुत हैं किन्तु ऐसी विपर्ययोक्तियां जिनमें विभिन्न प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया, अपेक्षाकृत कम हैं। लगभग १५ पद ऐसे हैं जो विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत हैं। साखियों में इस प्रकार के उदाहरण अपेक्षाकृत कम हैं।

कबीर सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों में कबीर की उलटबांसियों को तीन प्रकार में विभक्त कर वर्णित किया गया है[३]—

(१) अलंकार मूलक या अलंकारप्रधान
(२) अद्‌भुत रस पूर्ण या अद्‌भुतप्रधान
(३) प्रतीकमूलक या प्रतीकप्रधान

इस प्रकार का विभाजन अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत नहीं, क्योंकि कबीरदास की जितनी भी उलटबांसियां हैं वे सभी चमत्कारपूर्ण होने के कारण आलंकारिक सौन्दर्य से युक्त हैं साथ ही सभी अद्‌भुत तत्त्व पूर्ण हैं। अतः प्रथम दो प्रकारों के आधार पर उलटबांसियों को वर्गीकृत करना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत दो वर्गों में अवश्य वर्गीकृत किया जा सकता है एक वे उलटबासियां हैं जिनमें केवल विपर्ययोक्ति हैं दूसरी वे हैं जिनमें विभिन्न प्रतीकों का आश्रय भी

---

१. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५०
२. सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४०
३. (क) कबीर की विचारधारा, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ३५६
(ख) कबीर साहित्य और सिद्धान्त, यज्ञदत्त शर्मा, पृ० ५८

हण किया गया है। उदाहरणार्थ 'बिनु नैंननि रूप निहारा' (पद ११८) में विरोधात्मक कथन तो है किन्तु प्रतीक नहीं अतः यह पहले वर्ग में हैं। किन्तु 'नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै, (पद १२०) में विरोधात्मक कथन भी है और 'स्यार' तथा 'सिंघ' क्रमशः जीव और काल के प्रतीक भी हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इन्हीं द्वितीय प्रकार की उलटबांसियों का वर्णन है।

रचना की दृष्टि से किया गया वर्गीकरण उपयुक्त है।[1] कबीर की अधिकांश उलटबांसियां ऐसी हैं जिनमें आरम्भ से अन्त तक उलटबांसियों में अभिव्यक्ति हुई है। इन्हें पूर्णपद उलटबांसी कहा जा सकता है। कुछ ऐसी भी हैं जिनमें किसी-किसी अंश में इस प्रकार की विरोधात्मक अभिव्यक्ति है, अतः इन्हें अंशपद उलटबांसी कहा जा सकता है। निम्नलिखित दो उदाहरणों द्वारा इस बात की पुष्टि की जा सकती है—

(१) "एक अचंभौ देखा रे भाई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।।टेक।।
पहिलै पूत पिछै भई माई। चेला कै गुर लागै पाई ।।१।।
जल की मछरी तरवरि ब्याई। कूता कौं लै गई बिलाई ।।२।।
बैलहिं डारि गौंनि घरि आई। घोरै चढ़ि भैंस चरावन जाई ।।३।।
तालि करि पत्ता उपरि करि मूल। बहुत भांति जड़ लागे फूल ।।४।।
कहै कबीर या पद कौं बूझै। ताकौं तीनिउं त्रिभुवन सूझै ।।५।।"[2]

(२) "असा ग्यांन बिचारु मनां।
हरिकिन सुमिरै दुख भंजनां ।।टेक।।
....
जब लगि सिंघ रहै बन मांहि तब लगि यहु बन फूले नांहि ।।
उलटि सियार सिंघ कौं खाइ। तब यहु फूलै सभ बनराइ ।।
....।"[3]

पहला उदाहरण पूर्णपद उलटबांसी का है दूसरा अंशपद उलटबांसी का। इस प्रकार विरोधमूलक प्रतीक-योजना का कबीर-काव्य में विशिष्ट स्थान है। सिद्ध कवि ढेण्ढणपा के पद[4] का स्पष्ट प्रभाव कबीरदास के निम्नलिखित पद पर परिलक्षित होता है—

---

१. कबीर एक विवेचन, डॉ सरनामसिंह शर्मा, पृ० ३३०
२. पद ११६, इसी प्रकार के अन्य पद १०८, १२०, १३७ हैं।
३. पद ७१, इसी प्रकार के अन्य पद ११०, ११६, १६६ हैं।
४. यह पद इसी शोध-प्रबन्ध के पृ० २५४-२५५ पर उद्धृत है।

"कैसैं नगर करौं कुटवारी
मांसु पसारि गीध रखवारी ।।टेक।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ । बछरहिं दूहै तीनिउं सांझ ।।१।।
मूसा खेवट नाव बिलइया । सोवै दादुर सर्प पहरिया ।।२।।
नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै । कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।३।।"[१]

इस पद की सभी अभिव्यक्तियां विरोधमूलक हैं साथ ही विभिन्न प्रतीकों की योजना इसमें है । यह विरोधमूलक प्रतीक-योजना का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है ।

अतः कबीरदास ने विभिन्न स्रोतों से विभिन्न प्रतीकों को ग्रहण अवश्य किया है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति में जो स्वाभाविकता और स्पष्टवादिता परिलक्षित होती है वह उनकी प्रतीक-योजना की अपनी विशिष्टता है। इसी प्रकार की योजनाओं से केवल अन्य संत कवि ही नहीं आधुनिक काल के बहुत से कवि भी प्रभावित हुए है।[२] अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर काव्य-रचना करने वाले इस 'मस्तमौला'[३] कवि का स्थान प्रतीकों की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है।

१. पद १२०
२. (क) अन्य निर्गुण संतोंकी प्रतीक योजाना के लिए देखिए प्रस्तुत लेखिक का लेख—परशुराम चतुर्वेदी अभिनंदन ग्रन्थ । (अप्रकाशित)
(ख) आधुनिक काल की "भक्तिमूलक कविताओं में प्रयुक्त प्रतीकों पर कबीरऔर तुलसी का प्रभाव है।"
आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रतीक विधान,
डॉ० नित्यानन्द शर्मा, पृ० १६६
३. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १५७
हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ९७

६. रीति, वृत्ति और गुण

रीति-वृत्ति—अलंकार और वक्रोक्ति आदि के समान 'रीति' भी संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण शब्द है। वामन ने तो काव्य की आत्मा ही स्वीकार करते हुए 'रीति' का वर्णन किया।[१] वामन से पूर्व दण्डी ने भी रीति का समर्थन किया था। भामह ने तो इस तत्त्व को महत्त्व ही नहीं दिया बल्कि जो लोग इस आधार पर काव्य को विभिन्न वर्गों में रखते हैं उनका 'अभेधस्' कहकर उपहास किया।[२] दण्डी ने 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया।[३] दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भी मार्ग (रीति) का प्राण माना।[४] संस्कृत काव्यशास्त्र में दण्डी ने सर्वप्रथम मार्ग (रीति) का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निरूपण किया था। यह दूसरी बात है कि सम्प्रदाय विशेष की स्थापना का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। रीति-सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय वामन को दिया जाता है। वामन ने विशिष्ट-पद-रचना को 'रीति' कहा है तथा इस विशिष्टता को गुणों पर आधारित माना है।[५] अतः वामन के वर्णन के आधार पर रीति का सम्बन्ध गुण तथा पदरचना दोनों से है। भामह और दण्डी के ग्रन्थों में वैदर्भी और गौड़ी दो ही का उल्लेख है।[६] वामन ने ३ रीतियों का उल्लेख किया—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।[७] बाद में रुद्रट और विश्वनाथ ने इनकी संख्या चार[८] तथा भोज ने छः तक पहुंचा दी।[९] परवर्ती आचार्यों ने तीन ही रीतियों का उल्लेख किया। रीति का यह वर्गीकरण प्रदेशा-

---

१. 'रीतिरात्मा काव्यस्य', हि० काव्यालंकार सूत्र, १, २, ६

२. 'काव्यालंकारः', १-३१-३२

३. 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ।' हि० काव्यादर्श, १-४०

४. 'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।' हि० काव्यादर्श, १-४२

५. 'विशिष्टपदरचना रीतिः।' हि० काव्यालंकारसूत्र, १, २, ७
'विशेषो गुणात्मा।' हि० काव्यालंकारसूत्र, १, २, ८

६. (क) काव्यालंकार, १-३१, ३२
(ख) हि० काव्यादर्श, १-४०

७. "सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली चेति।"
हि० काव्यालंकारसूत्र, १, २, ६

८. (क) काव्यालंकार, २-४
(ख) सा० द०, ६-१, २

९. सरस्वती कंठाभरण २-२७, २८, २९, ३०

श्रित था। देश-विशेष के आधार पर इनका नामकरण किया गया। विदर्भ देश की काव्य-रीति वैदर्भी, गौड़ देश की काव्य-रीति गौड़ी तथा पांचाल देश की काव्य-रीति पांचाली कहलाई। किन्तु आज प्रदेश-विशेष के आधार पर इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक काल ही 'रीति काल' के नाम से वर्णित किया गया है जिसमें 'रीति' शब्द अपना पृथक् ही महत्त्व रखता है।[१] आज 'रीति' शब्द शैली के पर्याय रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। जैसाकि पं० रामदहिन मिश्र ने संकेत किया है 'रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है।"[२]

'वृत्ति' शब्द नाट्यवृत्तियों और काव्यवृत्तियों दोनों रूपों में व्यवहृत होता रहा है। नाट्यवृत्तियों का सम्बन्ध नाटक से है अत: वे प्रस्तुत विवेचन में अपेक्षित नहीं। काव्यवृत्तियों में उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का उल्लेख किया जाता है। 'काव्यवृत्तियों की उद्भावना का श्रेय उद्भट को है।[३] उद्भट ने स्पष्टत: वर्ण-व्यवहार की प्रधानता वृत्तियों में स्वीकार की। उन्होंने वृत्तियों को वर्ण तक ही सीमित माना।[४] मम्मट ने इसी का अनुसरण करते हुए वृत्तियों को वर्ण-व्यवहार पर आश्रित माना।[५] इनसे पूर्व रुद्रट ने वृत्तियों को समासाश्रित स्वीकार किया था।[६] इस प्रकार रीति के समान वृत्ति भी वर्णव्यवहार और समास दो तत्त्वों से सम्बद्ध है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस विषय में भी मतभेद रहा है कि रीति और वृत्ति को एक ही माना जाय। मम्मट ने स्पष्ट रूप से संकेत किया कि वृत्तियों को ही अन्य आचार्यों ने रीति माना।[७] अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम वृत्ति मानकर पृथक् विवेचन किया।[८] इन्हीं का आधार ग्रहण कर

---

१. "हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग एक अन्य अर्थ में भी चिंतामणि के समय से होता आया है और वह अर्थ है--काव्य-रचना-पद्धति (तथा उसका निर्देशकशास्त्र)।"

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य, पृ० १७६

२. का० द०, पृ० ३१७

३. हि० काव्यालंकार सूत्र, भूमिका, पृ० ५२

४. वही, पृ० ५२

५. का० प्र०, नवम उल्लास, सूत्र, १०८, १०६, ११०

६. 'नाम्नां वृत्तिर्द्वेधाभवति समासासमाभेदेन।' काव्यालंकार, २, ३

७. 'केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयोमता:।'

का० प्र०, नवम उल्लास, सूत्र १११

८. हि० काव्यालंकारसूत्र, भूमिका, पृ० ५२

हिन्दी में पं० रामदहिन मिश्र ने रीति का स्वतन्त्र विवेचन कर उसके पृथक् महत्त्व को स्वीकार किया[1] जबकि कन्हैयालाल पोद्दार दोनों को एक ही मानने के पक्ष में हैं।[2] डॉ० नगेन्द्र ने भी वृत्ति को रीति का एक बाह्य अंग माना है।[3] वृत्ति की दृष्टि से ध्वन्यालोककार का मत इन सबसे पृथक् महत्त्व रखता है। उन्होंने शब्द और शब्द की रसानुकूल योजना को वृत्ति कहकर उसके शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित दो भेद किए।[4] मत-वैविध्य भले ही रहा हो किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि स्वीकृत तीनों वृत्तियों की परिभाषा में विभिन्न गुणों के अभिव्यंजक वर्णों का उल्लेख किया गया है।[5] अतः व्यावहारिक दृष्टि से वृत्ति का सीधा सम्बन्ध गुणों से हो जाता है।

रीति वृत्ति का परम्परागत रूढ़ अर्थ कुछ भी रहा हो किन्तु आज इन्हें 'शैली' के रूप में ही स्वीकार करना होगा। उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि दोनों का सम्बन्ध वर्ण-योजना और शब्द-योजना वा समास से है। निश्चय ही इन दोनों का अन्तर्भाव शब्दचयन और काव्य-गुणों में हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से रीति वृत्ति की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं।

गुण—गुणों का सीधा सम्बन्ध भाषा की आन्तरिक विशेषता के साथ है। संस्कृत काव्यशास्त्र में गुण का वर्णन प्रमुखतः दो रूपों में हुआ है—

(१) वामन के अनुसार शब्द और अर्थ (काव्य) के धर्म रूप में।[6]

(२) आनन्दवर्धन के अनुसार अंगीरस के आश्रित रहने वाले तत्त्व रूप में।[7]

---

१. का० द०, पृ० ३१६-३१६

२. काव्यकल्पद्रुम, गुणविवेचन, पृ० ३४३ की टिप्पणी।

३. "रीति के दो बाह्य तत्त्व हैं: (१) संघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका दूसरा नाम है वृत्ति।"
—हि० काव्यालंकारसूत्र, भूमिका, पृ० ५४

४. "शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपरा।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे।"
—हि० ध्वन्यालोक, ३।४८

५. का० प्र०, नवम उल्लास, सूत्र १०८, १०६, ११०

६. "काव्याशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।"
—हि० काव्यालंकार सूत्र, ३, १, १

७. "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता।" हि० ध्वन्यालोक, २, ६

परवर्ती आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ ने गुणों को रसाश्रित ही माना।[१] किन्तु रसाश्रित मानने वाले आचार्यों ने भी गुणों का वर्णों के साथ स्पष्ट सम्बन्ध स्वीकार किया। वास्तव में गुणों का सम्बन्ध काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों से है। इसी कारण गुणों के विवेचन में शब्द गुण, अर्थ गुण और उभय गुण तीनों की चर्चा की जाती है।[२] भरतमुनि ने काव्य के दस गुणों का उल्लेख किया।[३] वामन ने शब्द और अर्थ के पृथक्-पृथक् दस गुण माने।[४] इस प्रकार गुणों की संख्या का विस्तार होता गया। मम्मट के समय तक आते आते गुणों की संख्या निश्चित ही हो गयी। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"माधुर्य्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।"[५]

अर्थात् गुण तीन हैं— माधुर्य, ओज, प्रसाद न कि दस। परवर्ती आचार्यों ने इन्हें ही स्वीकार किया है। इनमें माधुर्य सबसे प्राचीन गुण है।[६] इन तीनों गुणों के अभिव्यंजक तत्त्वों में वर्ण की चर्चा की गई है। इन्हीं के आधार पर कबीर की भाषा की इस विशेषता का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

माधुर्य-गुण-व्यंजक-वर्ण—"ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर स्पर्श वर्ण, वर्गान्त वर्ण से युक्त अर्थात् अनुस्वार-सहित वर्ण, ह्रस्व 'र' और 'ण', समास का अभाव अथवा दो-तीन या अधिक से अधिक चार पद मिले हुए समास, और मधुर कोमल पद रचना ये सब माधुर्य गुण के व्यंजक हैं।"[७] कबीर की भाषा इस प्रकार के वर्णों से

---

१. (क) "ये रसस्याऽङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥"
का० प्र०, अष्टम उल्लास, सूत्र ८७

(ख) "रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।"[१] सा० द०, ८-१

२. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १०।४

३. नाट्यशास्त्र, गुण प्रकरण।

४. हि० काव्यालंकार सूत्र, तृतीय अधिकरण का प्रथम और द्वितीय अध्याय।

५. का० प्र०, अष्म उल्लास, सूत्र ८९

6. "Madhurya or sweetness is the earliest Guna."
Srangara prakasa, V. Raghavan, p. 258.

७. काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० ३३९-४०

इसके आधार स्वरूप मम्मट का कथन द्रष्टव्य है—

"मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥७४॥"
का० प्र०, अष्टम उल्लास, सूत्र ९९

विभूषित हुई है। यथा—

"हमारै गुर बड़े भ्रिंगी ।।
आंनि कीटक करत भ्रिंग सो आपतैं रंगी ।।टेक।।
पांइ औरै पंख औरै और रंग रंगी ।
जाति पांति न लखै कोई भगत भौ भंगी ।।
....
....
बंध तैं निर्बंध कीया तोरि सब तंगी ।
कहै कबीर अगम किया गम रांम रंग रंगी ।।"[1]

उपर्युक्त सम्पूर्ण पद में ही ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिनमें माधुर्य-गुण-व्यंजक वर्ण हैं। इसी प्रकार—

"संत न छांड़ै संतई, जौ कोटिक मिलहिं असंत ।
मलय भुयंगम बेढ़िऔ, तऊ सीतलता न तजंत ।।"[2]

इस दोहे में अनुस्वार सहित वर्णोंका प्रयोग माधुर्य गुण के अन्तर्गत ही है।

ओज-गुण-व्यंजक-वर्ण— कवर्ग आदि के पहले और तीसरे वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग, 'र' का वर्णों के ऊपर और नीचे अधिक प्रयोग, ट, ठ, ड, ढ की अधिकता तथा लम्बे समास ओज-गुण-व्यंजक हैं।[3] कबीर-काव्य की विषयवस्तु यद्यपि वीर आदि ओजस्वी रसों की नहीं है फिर भी खंडनात्मक शैली अपनाने के कारण ओजगुण से उनकी भाषा पुष्ट हुई है। उदाहरणार्थ—

"अखंड मंडल मंडित मंड । त्री असनांन करै त्री खंड ।"[4]

यहां 'ड' वर्ण का आधिक्य ओजगुण युक्त है। इसी प्रकार—

"ढढ्ढा ढिग ढूंढ़हि कत आनां । ढूंढ़त ही ढहि गए परांनां ।
चढ़ि सुमेर ढूंढ़ि जब आवा । जिहि गढ़ गढ़ा सु गढ़ महिं पावा ।।"[5]

इन पंक्तियों में ओज-गुण-व्यंजक-वर्ण का प्रयोग है। चौंतीसी रमैनी में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं।

---

१. पद १ २. सा० ४-२-१, २

३. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० ३४०

आधारस्वरूप द्रष्टव्य है—

"योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययोः, रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।७५।।
—का० प्र०, अष्टम उल्लास, सूत्र १००

४. १३०-७ ५. चौ० र० १९-१, २

प्रसाद गुण-व्यंजक-वर्ण—'शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद-गुण-व्यंजक होता है।'[१] कबीर की कविता में इस गुण का विशेष रूप से विकास पाया जाता है। विषयानुरूप होने के कारण इसका आधिक्य है। यथा—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नांहि।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देखा मांहि॥"[२]

"हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया।
रांम बड़े मैं तनक लहुरिया॥"[३]

दोनों उदाहरणों में श्रवण मात्र से अर्थ प्रतीति कराने वाले सरल, सुबोध शब्द प्रसाद गुण के ही व्यंजक हैं।

१. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० ३४१
आधारस्वरूप द्रष्टव्य है—
"श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥७६॥
— का० प्र०, अष्टम उल्लास, सूत्र १०१

२. सा० ९-१-१, २

३. ११-१, २

खण्ड ३

(क) कबीर की भाषा-शक्ति

(ख) कबीर की भाषा का सांस्कृतिक पक्ष

(क) कबीर की भाषा-शक्ति

व्यंग्यार्थ को प्रस्फुटित करनेवाली उपादान कारणभूत सामग्री, जो वर्ण से लेकर वाक्य तक फैली हुई है, भाषावैज्ञानिक अध्ययन से तथा अनिवार्य साधन या निमित्त कारणभूत सामग्री काव्यशास्त्रीय अध्ययन से सम्बन्धित है। दोनों का विवेचन पीछे किया जा चुका है। उस अध्ययन के फलस्वरूप कबीर की भाषा-शक्ति का परिचय देने वाली विभिन्न विशेषताएँ सम्मुख आती हैं जिनमें अप्रस्तुत-योजना, चित्रात्मकता, स्वाभाविकता और लाक्षणिकता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका उल्लेख इस अंश में किया जा रहा है। इन्हीं विशेषताओं पर भाषा का काव्य-सौष्ठव आधारित है।

अप्रस्तुत-योजना—अप्रस्तुत-योजना मूलतः भावव्यंजना के लिए ही की जाती है। इसी भावव्यंजक अप्रस्तुत-योजना द्वारा कवि के अभिव्यक्ति कौशल को आंका जा सकता है।[1] इसके महत्त्व पर बल देते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है, "यह (अप्रस्तुत योजना) काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवि की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद बनाती है और रमणीयता कोवर्द्धितकरती है।"[2] इसी अप्रस्तुत-योजना से युक्त कविता सहृदय पाठक या श्रोता को काव्यानन्द की अनुभूति कराने में समर्थ होती है। भावप्रवण कवि इसी के द्वारा मार्मिक और अखण्डानुभूति को प्रेषणीय बनाने में सफल होता है। इसी की सहायता से वह मूलतः काव्य-कलेवर को समृद्ध बनाता है।

यह अप्रस्तुत योजना—सादृश्य, साधर्म्य और प्रभावसाम्य इन तीन प्रकार-साम्यों के आधार पर की जाती है। इन तीनों में भी प्रभाव-साम्य अधिक प्रबल तथा महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि कवि-कर्म की सिद्धि इसी पर आधारित है।[3] कवि-कर्म की सिद्धि अभीष्ट अर्थ को पाठकों तक पहुँचाने में तथा रसानुभूति कराने में निहित होती है। कवि जैसा अनुभव करता है, चिन्तन करता है उसका समुचित प्रभाव पाठक पर पड़े यही उसका लक्ष्य होता है। कबीर इस दृष्टि से पूर्णतः सफल कवि हैं।

---

१. काव्य में अप्रस्तुत योजना, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ८०

२. वही, पृ० ७३

३. ब्रजभाषा के कृष्णभक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा; पृ० २३

कबीर की अप्रस्तुत-योजना अत्यन्त समृद्ध है। उन्होंने जिन उपमानों का प्रयोग किया है, वे पूर्ण तथा मार्मिक हैं। उपमानों की यही पूर्णता तथा मार्मिकता उनके काव्य को रमणीय बना देती है। सम्पूर्ण काव्य में एक भी उपमान ऐसा नहीं है जो बिम्ब प्रस्तुत करने में समर्थ न हो। कहीं कहीं तो ऐसे संश्लिष्ट बिम्ब उभरकर सम्मुख आते हैं जो पाठकों के हृदय को द्रवीभूत कर देते हैं। निश्चय ही कवि की अनुभूति जितनी संश्लिष्ट होगी वह उतने ही संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करने में सफल होगा। कबीर की अनुभूति की संश्लिष्टता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। उपमानों के सार्थक प्रयोग की पुष्टि के लिए कबीर के काव्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

"पांनीं केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
देखत ही छिपि जाइंगे, ज्यौं तारे परभाति।।"[1]

इस दोहे में 'पानी का बुदबुदा' तथा 'प्रातःकाल के तारागण' दो उपमानों का प्रयोग किया गया है। जीवन की क्षणभंगुरता को बतलाने के लिए 'पानी का बुदबुदा' तथा देखते-देखते जीवनकाल का ग्रास हो जाता है इसकी अभिव्यक्ति करनेवाले 'प्रातःकाल के तारे' अत्यन्त मार्मिक तथा समर्थ उपमान हैं। जीवन की क्षणभंगुरता के साथ-साथ सम्पूर्ण संसार की असारता भी व्यक्त की गई है। वहाँ भी उपमान का ही आश्रय ग्रहण किया गया है—

"अैसा यहु संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्यौहार हैं, झूठै रंग न भूल।।"[2]

इसी प्रकार एक अन्य दोहे में—

"मेरे मन मैं परि गई, अैसी एक दरार।
फाटा फटिक पखांन ज्यौं, मिला न दूजी बार।।"[3]

स्फटिक पाषाण जब फटता है तो ऐसी दरार पड़ती है जो फिर मिल नहीं पाती। ऐसी ही दरार कबीर के मन में पड़ी है जिसका मिलना सम्भव ही नहीं है। पाषाण की दरार उपमान भावाभिव्यंजन में पूर्ण है।

कबीर गृहस्थी होते हुए भी साधु थे। साधु की उनकी व्याख्या निराली है। उनके काव्य में साधु की प्रवृत्ति और स्वभाव को विभिन्न रूपों में प्रकट किया गया है। ये विभिन्न रूप विभिन्न उपमानों द्वारा भी वर्णित हुए हैं। साधु संसार में ऐसे है जैसे जल में कमल होता है। सदैव जल में रहता है फिर भी जल उसका स्पर्श नहीं कर पाता—

---

१. सा० १६-२१
२. सा० १५-४६
३. सा० २६-२१

"है साधू संसार मैं कंवला जल मांहीं।
सदा सरबदा संगि रहै जल परसत नांहीं॥"[1]

यह साधु दूसरों के कटु वचनों को ऐसे सहता है जैसे पृथ्वी 'खोद-खाद' सहती है तथा वन 'काट-कूट' सहता है—

"खोद खाद धरती सहै, काट-कूट बनराइ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सह्या न जाइ॥"[2]

कबीर मनुष्यों को मृत्यु के विषय में चेतावनी देना चाहते थे। काल की भयानकता का विभिन्न रूपों में उन्होंने वर्णन किया है। काल सभी को ग्रसेगा, जब रावन सरीखा व्यक्ति भी उसके ग्रास से नहीं बचा तो और की तो बात ही क्या—

"रावन हूं तैं अधिक छत्रपति खिन महिं गए बिलात।"[3]

यही बात एक साखी में भी व्यक्त की गई है—

"ऊजड़ खेड़े ठीकरी, गढ़ि गढ़ि गए कुम्हार।
रांवन सरिखा चलि गया, लंका का सिकदार॥"[4]

काल के अचानक ग्रस लेने की अभिव्यक्ति अन्य उपमानों के द्वारा भी की गई है। उदाहरण के लिए—

"काल अचानक मारि है, ज्यौं तीतर कौं बाज।"[5]

बाज जब तीतर को अचानक मारता है तो तीतर असहाय हो जाता है, यही स्थिति मानव की भी होती है। तीतर की विवशता तथा काल की भयानकता दोनों ही इस समर्थ उपमान द्वारा अभिव्यंजित हुए हैं। इसी प्रकार लोकलाज तथा कुल की मर्यादा को त्यागने की अभिव्यक्ति के लिए 'धागे को तोड़ने' उपमान का आश्रय लिया गया है —

"लोकलाज कुल की मरजादा तोरि दियौ जस धागा।"[6]

कबीर ने सांसारिक वस्तुओं के प्रति गर्व न करने की चेतावनी दी है। सांसारिक वस्तुएँ शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली हैं। शीघ्र नष्ट होने की अभिव्यक्ति उपमान द्वारा की गई है—

"धन जोबन का गरब न कीजै कागद ज्यौं गरि जाइगा।"[7]

कागज़ जैसे शीघ्र ही गल जाता है उसी प्रकार धन और यौवन दोनों ही शीघ्र नष्ट होने वाले हैं। शीघ्र नष्ट होने वाले यौवन का उल्लेख एक अन्य स्थान पर भी किया गया है, वहाँ कबीर दूसरे उपमान का आश्रय ग्रहण करते हैं—

---

१. ३४-१, २ २. सा० ४-२५ ३. ७३-६
४. सा० १५-६४ ५. सा० १५-२-२ ६. १६-७
७. ७४-४

"कबीर गरब न कीजिग्रै, इस जोबन की ग्रास।
टेसू फूले दिवस दोइ, खंखर भए पलास ।।"[१]

जिस प्रकार पलाश का वृक्ष कुछ ही दिन फूलता है अधिक समय तो खंखर ही रहता है, उसी प्रकार यह यौवन भी क्षणिक ही है। यौवन अथवा देह की सुन्दरता पर गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि जब यह आत्मा शरीर को त्याग देगी तो फिर ग्रहण नहीं करेगी। इस त्यागने की सूक्ष्मता को सर्प ग्रौर केंचुली उपमानों द्वारा व्यक्त किया गया है—

"कबीर गरबु न कीजिग्रै, देही देखि सुरंग ।
ग्राजु काल्हि तजि जाहुगे, ज्यौं कांचुरी भुवंग ।।"[२]

'भुवंग के द्वारा केंचुली छोड़ना' उपमान अन्य बात की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—

"देखा देखी भगति का, कदे न चढ़ई रंग ।
बिपति पड़े यौं छांड़िहै, ज्यौं केंचुली भुवंग ।।"[३]

देखादेखी की गई भक्ति विपत्ति पड़ने पर उसी प्रकार छोड़ दी जाती है जैसे भुवंग केंचुली छोड़ देता है। एक ही उपमान दो पृथक् अभिव्यक्तियों के लिए अपनाया गया है, यही कवि की सफलता है।

कबीर ने परनारी में ग्रनुरक्त होने की निन्दा की है । इसे भी उपमान द्वारा अभिव्यंजित किया गया है—

"परनारी को राचनौं, जस लहसुन की खांनि।
कोनैं बैठें खाइए, परगट होइ निदांनि ।।"[४]

लहसुन को किसी भी कोने में बैठकर खाया जाए फिर भी उसकी गन्ध सारे घर में फैल जाती है उसी प्रकार परनारी से अनुरक्ति को कितना ही गुप्त रखा जाए वह प्रगट हो ही जाती है। लहसुन उपमान अत्यन्त समर्थ तथा प्रभावशाली है।

कबीर ने उस पर ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध स्थापित किया था। यह सम्बन्ध अटूट था। इस सम्बन्ध के अटूट गुण को निम्न रूप में अभिव्यक्त किया गया है—

"मोहिं तोहिं लागी कैसे छूटै।
जैसे हीरा फोरे न फूटै ।।"[५]

हीरा फोड़ने पर भी नहीं फूटता उसी प्रकार कबीर और परमात्मा का सम्बन्ध छुटाने पर भी नहीं छूट सकता, वह तो अटूट है।

---

१. सा०१५-४५
२. सा० १५-२२
३. सा०२४-१६
४. सा० ३०-१
५. १८-१,२

अत: स्पष्ट है कि सूक्ष्म अभिव्यक्तिओं के लिए विभिन्न उपमानों की योजना कबीर ने की थी। यही उनकी समर्थ अप्रस्तुत-योजना है।

चित्रात्मकता— चित्रात्मकता से तात्पर्य शब्दों द्वारा चित्र-निर्माण करना है। वैसे तो सभी शब्द चित्रमय होते हैं किन्तु फिर भी कवि अपने कथ्य को पाठकों तक पूर्ण रूप में पहुँचाने के लिए विभिन्न चित्र उभारकर सम्मुख रखता है। यही चित्र काव्यभाषा को चित्रमय बना देते हैं। कथ्य के स्पष्ट होने पर चित्र भी स्पष्ट उभर कर आते हैं। जहाँ कथ्य अस्पष्ट होता है वहाँ चित्र भी धूमिल और अस्पष्ट रह जाते हैं। कबीर के चित्र इस दृष्टि से पूर्ण व स्पष्ट हैं। कहीं-कहीं इन चित्रों में दार्शनिक शब्दावली का आवरण होने के कारण दुरूहता अवश्य है किन्तु अस्पष्टता वहाँ भी नहीं है। यही कबीर की सफल चित्रात्मकता है।

चित्रात्मकता का विवेचन स्थूल व सूक्ष्म चित्रों की दृष्टि से किया जा सकता है। स्थूल चित्रों में बाह्य स्थूल चित्रों तथा सूक्ष्म चित्रों में भावपूर्ण आन्तरिक सूक्ष्म चित्रों का वर्णन अपेक्षित है। कबीर-काव्य के अध्ययन से जो विभिन्न स्थूल चित्र उभरकर सम्मुख आते हैं उन्हें वर्णन-सुविधा की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग उन चित्रों का है जो अत्यन्त संक्षिप्त रूप में सामने आते हैं। कवि उनका केवल संकेत मात्र करके छोड़ देता है। पाठक की कल्पना उन संकेतों से प्रबुद्ध होकर विभिन्न चित्रों का निर्माण कर लेती है। दूसरा वर्ग उन चित्रों का है जो स्वयं कबीर ने व्यापक रूप में प्रस्तुत किए हैं। इन व्यापक चित्रों द्वारा अधिकांशत: दार्शनिक अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। दोनों प्रकार के स्थूल चित्रों के क्रमश: उदाहरण दिए जा रहे हैं।

> "पांसा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
> सतगुर दांव बताइया, खेलै दास कबीर।।"[1]

इस दोहे में पासा पकड़ कर खेल खेलने का चित्र सम्मुख रखा गया है। सतगुरु के द्वारा दांव बताने पर कबीर की विजय अवश्यम्भावी है, ऐसी कल्पना की जा सकती है। पूरा चित्र यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है केवल संकेत ही दिए गए हैं। इसी प्रकार—

> "अैसा कोई नां मिलै, रांम भगति का मीत।
> तन मन सौंपै मिरिग ज्यौं, सूनैं बधिक का गीत।।"[2]

बधिक के गीत सुनकर मृग का तन और मन सौंपना यहाँ चित्रित किया गया है। यहाँ भी संकेत ही हैं। कल्पना द्वारा सम्पूर्ण चित्र कल्पित किया जा सकता है।

इन संक्षिप्त स्थूल चित्रों के अतिरिक्त कबीर-काव्य में व्यापक स्थूल चित्र भी सम्मुख आते हैं। मूलत: साधना तथा दार्शनिक अभिव्यक्ति के लिए इनका आश्रय

---

१. सा० १-३३ २. सा० ५-६

लिया गया है। 'गढ़' कबीर का प्रसिद्ध प्रतीक है। इससे सम्बद्ध अनेक चित्र चित्रित हुए हैं। 'बंके गढ़' का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

"क्यौं लीजै गढ़ बंका भाई ।
दोवर कोट अरु तेवर खाई ।।
कांमु किवार दुख सुख दरबांनीं पाप पुन्नि दरवाजा ।
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दुंदर मनु मैंवासी राजा ।।"[1]

इसी प्रकार एक अन्य पद में गढ़ तथा गढ़ जीतने वाले घुड़सवार का पूरा चित्र उभर कर सम्मुख आता है। यह भी स्थूल रूप में ही है—

"सतगुर साह संत सौदागर तहं मैं चलि कै जाऊं जी ।
मन की मुहर धरौं गुरु आगैं ग्यांन कै घोड़ा लाऊं जी ।।
सहज पलांन चित कै चाबुक लौ की लगांम लगाऊँ जी ।
बिबेक विचार भरौं तन तरगस सुरति कमांन चढ़ाऊं जी ।।
धीर गंभीर खड़ग लिए मुदगर माया कै कोट ढहाऊं जी ।
मोह मस्त मैंवासी राजा ताकौं पकड़ि मंगाऊं जी ।।"[2]

कहीं यह गढ़ महल रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसके नीचे खड़े हुए भिखारी का चित्र अत्यन्त समर्थ है—

"तहां मों गरीब की को गुदरावै ।
मजलिसि दूरि महल को पावै ।।
सत्तरि सहज सलार हैं जाकै । सवा लाख पैगंबर ताकै ।।
सेख जु कहि अहिं कोटि अठासी । छप्पन कोटि जाकै खेलखासी ।।
....
तुम दाते हंम सदा भिखारी । देउं जवाब होइ बजगारी ।।"[3]

इसी प्रकार नट-नृत्य का चित्र भी स्थूल रूप में ही चित्रित किया गया है—

"नाचु रे मन मेरो नट होइ ।
ग्यांन कै ढोल बजाइ रैनि दिन सबद सुनैं सब कोई ।
राहु केतु अरु नवग्रह नाचैं जमपुर आनंद होई ।।
छापा तिलक लगाइ बांस चढ़ि होइ रहु जग तैं न्यारा ।
प्रेम मगन होइ नाचु सभा मैं रीझै सिर जनहारा ।।"[4]

सूक्ष्म चित्रों की दृष्टि से कबीर के चित्र अत्यन्त भावपूर्ण है। वे जीवन की वास्तविक अनुभूतियों पर आधारित हैं। इसी कारण उनमें सजीवता, तीव्रता तथा संवेदनशीलता विद्यमान है। कबीर का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक मिलन की अभि-

---

१. २५-१, २, ३, ४
२. ४-१, २, ३, ४, ५, ६
३. ४२-१, २, ३, ४, ७
४. १४-१, २, ३, ४, ५

व्यंजना करना था। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध अनेक रूपों में वर्णित हुआ है। कबीर को पति-पत्नी सम्बन्ध अधिक प्रिय है। इस सम्बन्ध को प्रगट करने के लिए विवाह का चित्र खड़ा किया गया है। यह चित्र भावपूर्ण तथा मार्मिक है।

"दुलहिनीं गावहु मंगलचार ।
हम घरि आए राजा रांम भरतार ।।
तन रत करि मैं मन रति करिहौं पांचउ तत्त बराती ।
रांमदेव मोरै पाहुनैं आए मैं जोबन मैंमाती ।।
सरीरं सरोबर बेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचारा।
रांमदेव संगि भांवरि लेइहौं धंनि धंनि भाग हमारा ।।
सुर तैंतीसौं कौतिग आए मुनिवर सहस अठासी ।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अबिनासी ।।"[1]

एक अन्य उदाहरण में दीपक लेकर प्रिय-मुख देखने का वर्णन है। इस वर्णन द्वारा अत्यन्त मार्मिक चित्र चित्रित होता है—

'इस तन का दीवा करौं, बाती मेलौं जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यौं, तब मुख देखौं पीव ।।"[2]

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में प्रेमपूर्ण नारी की विवशता और संकोच चित्रित किए गए हैं—

"नां परतीति न प्रेम रस, नां इस तन मैं ढंग ।
क्या जांनौं उस पीव सौं, कैसे रहसी रंग ।।"[3]

इतना ही नहीं विरह में बाट देखती हुई नारी की स्थिति और भी विकट है—

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी रांम ।
जिय तरसै तुझ मिलन कौं, मन नांहीं बिसरांम ।।"[4]

विरहिनी नारी की व्याकुलता भी अत्यन्त सजीव रूप में चित्रित हुई है—

"बिरहिन ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का कबरे मिलिहिंगे आइ ।।"[5]

'प्रिय कब आकर मिलेंगे' इस एक शब्द को सुनने के लिए व्याकुल दौड़ दौड़-कर पथिकों से पूछती हुई नारी का चित्र मार्मिक है।

अस्तु, चित्रात्मकता की दृष्टि से कबीर सफल कवि हैं। स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के चित्र उनके काव्य में विद्यमान हैं। उनके चित्र सजीव, तीव्र संवेदनशील तथा मार्मिक हैं। समसामयिक युग-जीवन भी इन चित्रों में प्रतिबिम्बित हुआ है। कवि इन चित्रों के माध्यम से अभीप्सित भावों को पाठकों तक प्रेषणीय बनाने में

---

१. पद ५ २. सा० २-२२ ३. सा० ६-६
४. सा० २-१८ ५. सा० २-३१

समर्थ हुआ है। यही कबीर की भाषा की शक्ति है।

स्वाभाविकता—काव्य जितना ही स्वाभाविक-गुण युक्त होगा उतना ही पाठकों पर समुचित प्रभाव डालने में समर्थ होगा। कबीर का मुख्य दृष्टिकोण अपनी भावना तथा वैयक्तिक अनुभूति को जनसाधारण तक पहुँचाना था। यह वैयक्तिक अनुभूति जनभाषा में अभिव्यंजित हुई है। इसी कारण कबीर जन कवियों में सर्वप्रथम स्वीकार किए गए हैं।[1] उनके काव्य की स्वाभाविकता का ही यह परिणाम है कि उनके केवल पद और दोहे ही नहीं उलटबाँसियाँ भी जनता में अत्यधिक प्रचचित हैं। कबीर-काव्य की स्वाभाविकता निम्न तीन रूपों में द्रष्टव्य है—

(क) कबीर ने जो कुछ कहना चाहा है उसे सीधे-सादे शब्दों में कह डाला है। सीधी-सादी बात के लिए किसी प्रकार के बनाव श्रृंगार की आवश्यकता नहीं समझी। कबीर की इसी स्वाभाविकता ने उन्हें 'वाणी का बादशाह' या 'वाणी का डिक्टेटर'[2] बना दिया। 'राम बड़ा कि राम का दास' यह झगड़ा कबीर के सामने बराबर रहा। वे मूलत: राम के दास को ही बड़ा मानते थे किन्तु फिर भी इस को राम से सुलझाना चाहते थे—

"झगरा एक निबेरहु रांम।
जे (जउ?) तुम्ह अपनैं जन सौं कांम॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिन रे उपाया। बेद बड़ा कि जहां तैं आया॥
यहु मन बड़ा कि जेहिं मनमांनैं। रांम बड़ा कि रामहिं जांनैं॥
कहै कबीर हौं भया उदास। तीरथ बड़ा कि हरि का दास॥"[3]

सीधी-सादी बात अत्यन्त सीधे-सादे ढग से अभिव्यक्त हुई है। 'राम का दास' 'साध' के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है। कबीर ने स्पष्ट घोषणा की—

"जो मेरै साध सौं अंतर राखै सो नर नरकै जाहीं।"[4]

'साध' की महत्ता स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं कि कबीर को राम पर भरोसा न था उन्होंने तो कहा—

"अब मोहिं रांस भरोसा तोरा।
तब काहू का कवन निहोरा॥"[5]

सम्भवत: इसी कारण कबीर 'राम' के दर्शन के लिए लालायित रहते थे। बिना दर्शन कबीर का मन मानने को तैयार नहीं। इसी कारण वे स्पष्ट कह देते हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ६२
२. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० २१६ ३. पद २७
४. ३५-२ ५. ३८-१, २

"कहै कबीर हरिदरस दिखावौ। हर्माहिं बुलावौ कै तुम चलि आवौ ।।"[१]

कबीर ने अपना और परमात्मा रांम का सम्बन्ध पति-पत्नी रूप में अधिक व्यक्त किया है। वे 'रांम' की 'विरहिनी' हैं जो सदैव 'रांम' की आशा में मार्ग जोह रही है—

"मैं बिरहिन ठाढ़ी मग जोऊं रांम तुम्हारी आस।"[२]

'रांम' को विश्वास दिलाने के लिए उन्हें स्पष्ट कहना पड़ा—

"मैं तो तुम्हारी दासी हो सजनां तुम हमरै भरतार ।।"[३]

किन्तु विरह अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता। अतः उसके लिए भी कबीर ने कहा—

"कै बिरहिनि को मीच द, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझनां, मोपै सहा न जाइ ।।"[४]

और फिर जब इतने से भी कार्य सिद्धि न हुई तो कबीर ने स्पष्ट ललकार की—

"कै हंम प्रांन तजत हैं प्यारे कै अपनीं करि लेहु।"[५]

कबीर ने 'साधु संगति' और 'हरि भक्ति' पर बार-बार बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि इन दोनों के बिना कुछ भी हाथ नहीं आएगा—

"साधु संगति हरि भगति बिनु, कछू न आवै हाथ।"[६]

वे जो कुछ कहते थे यह भी जानते थे कि सभी सुन रहे हैं। इसी की स्वाभाविक अभिव्यक्ति निम्नलिखित दोहे में इस प्रकार हुई है—

"कबीर कहता जात है, सुनता है सब कोइ।
रांम कहे भला होइगा, नातर भला न होइ ।।"[७]

(ख) कबीर की स्वाभाविकता इस रूप में द्रष्टव्य है कि अत्यन्त सामान्य शब्दावली द्वारा गूढ़ रहस्यात्मक अभिव्यक्ति करने में वे पूर्ण सफल हुए। चारों ओर के वातावरण से उन्होंने शब्दों को बिना हिचक ग्रहण किया। जीवन की सरल, सामान्य घटनाएँ भी उनके लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गईं। इसी विशेषता के कारण वे जनता पर अभीष्ट प्रभाव डालने में समर्थ हुए। चलती चक्की को देखकर उनके द्वारा की गई अभिव्यक्ति में सामान्य शब्दावली का प्रयोग हुआ है किन्तु उसके माध्यम से रहस्यात्मक तथ्य ही अभिव्यंजित हुआ है—

"चाकी चलती देखि कै, दिया कबीरा रोइ।
दुइ पट भीतर आइकै, सालिम गया न कोइ ।।"[८]

---

१. ४७-५ २. १५-३ ३. १५-८
४. सा० २-४० ५. १५-१० ६. सा० ४-२३-२
७. सा० ३-२५ ८. सा० १६-५

इसी प्रकार 'माली को आता देखकर कलियों की पुकार करना' सामान्य वर्णन में रहस्यपूर्ण अभिव्यक्ति ही है—

"माली आवत देखि कै, कलियां करैं पुकार ।
फूली फूली चुनि गई कालिह हमारी बार ।।"[1]

विषयवासना रूप मृगों के खेत उजाड़ने का वर्णन भी रहस्यात्मक है—

"जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे ।
टारे टरत नहीं निस बासुरि बिडरत नांहि बिडारे ।।"[2]

मनुष्य इस संसार से चले जाने पर फिर इस संसार में नहीं आ पाता, इसी रहस्यानुभूति को सामान्य शब्दों में वर्णित किया गया है—

"पात झरंता यौं कहै, सुनि तरवर बनराइ ।
अब के बिछुड़े नां मिलैं, कहूं दूर पड़ैंगे जाइ ।।"[3]

इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् शरीर रुपी जंत्र के न बजने की अभिव्यक्ति मार्मिक है—

"कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गए सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले बजावनहार ।।"[4]

अतः अन्योक्तिपरक अभिव्यक्तियों में कबीर की स्वाभाविकता अद्वितीय है।

(ग) कबीर-काव्य की स्वाभाविकता इस बात में है कि वह पूर्णतः उन्मुक्त है। कुंठा रहित होने के कारण उसमें स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इसी के परिणाम स्वरूप कबीर समान रूप से मुल्ला और पंडित दोनों को खरी-खरी सुना सके, तीखे व्यंग्य करने में सफल हो सके तथा सामाजिक विभिन्न रूढ़ियों व विभिन्न मानव-वृत्तियों की कटु आलोचना करने में समर्थ हो सके। उनकी इसी प्रतिभा ने 'विलक्षण प्रभाव और चमत्कार'[5] उत्पन्न कर दिया। मुल्ला को फटकारते हुए वे कहते हैं—

"कहु रे मुल्ला बांग निवाजा ।
एक मसीति दसौं दरवाजा ।।"[6]

मुल्ला अल्लाह के लिए बांग देता है, उस पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कहा है—

---

१. सा० १६-३४ २. ६१-१, २
३. सा० १६-३६ ४. सा० १६-१
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ८०
६. १२६-१,२

"मुला मुनारै क्या चढ़हि, अलह न बहिरा होइ।
जेहिं कारनि तूं बांग दे, सो दिल ही भीतरि जोइ।।"[१]

इसी प्रकार काजी को भी सम्बोधित करते हुए वे व्यक्त करते हैं—

"काजी तैं कवन कतेब बखांनीं।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते गति एकौ नहिं जांनीं।।"[२]

कबीर ने पंडित को भी इसी रूप में फटकारा है—

"पंडिआ कवन कुमति तुम लागे।
बूड़हुगे परिवार सकल सिउं रांम न जपहु अभागे।।"[३]

कबीर की दृष्टि में तो मुल्ला और पंडित दोनों ही समान हैं। दोनों के कृत्य उनकी दृष्टि में हीन हैं। दोनों को ही खरी-खोटी सुनाते हुए वे कहते हैं—

"कोई फेरै माला कोई फेरै तसबी। देखौ रे लोगा दोनौं कसबी।।
कोई जावै मक्के कोई जावै कासी। दोऊ कै गलि परि गई पासी।।"[४]

हिन्दू तीर्थ स्थानों पर जाने में, जप, तप, संयम, पूजा आदि में विश्वास करते हैं, किन्तु इन सबकी उपयोगिता पर अत्यन्त स्वाभाविक रूप में कबीर ने व्यंग्य किया है—

"मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ।
साधु संगति हरि भगति बिनु, कछू न आवै हाथ।।"[५]

इतना ही नहीं—

"तीरथ करि करि जुग मुआ, जूड़ै पानी न्हाइ।
रांम नांम जांने बिनां, काल गरासा जाइ।।"[६]

जप, तप आदि के विषय में भी उन्होंने कहा है—

"जप, तप, संजम, पूजा अरचा जोतिग जग बौरांनां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलांनां मनही मन न समांनां।।"[७]

इसी तरह मुसलमान भी रोजा रखने, हज करने आदि में विश्वास करते हैं। कबीर उन पर भी आघात करते हैं—

"सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकौं कहां खुदाइ।।"[८]

कबीर तो सभी की निन्दा करने में सफल हो सके। सभी के कृत्य उनकी दृष्टि में बाह्याडम्बर मात्र हैं—

---

१. सा० २६-३ २. १७८-१, २ ३. १६१-१,२
४. १६३-३, ४ ५. सा०४-२३ ६. सा०२१-१६
७. ६६-५, ६ ८. सा० २१-७

"बुत पूजि पूजि हिंदू मूए तुरुक मुए हज जाई ।
जटा धारि धारि जोगी मूए तेरी गति किनहुं न पाई ।।"[1]

कबीर अत्यन्त स्वाभाविक रूप में तीखे व्यंग्य करने में सफल हुए हैं । 'कनक और कामिनी' दोनों ही हानिकारक हैं उन पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

"एक कनक अरु कांमिनीं बिख फल किया उपाइ ।
देखें ही तैं बिख चढ़ै, खाए तैं मरि जाइ ।।"[2]

'माया' भी मोहनी है, डाकिनी है । सभी को मोह लेती है और खा लेती है—

"कबीर माया मोहनीं मोहै जांन सुजांन ।"[3]
"कबीर माया डाकिनीं, सब काहू कौं खाइ ।"[4]

'माया' तो ठगिनी रूप भी है जो मधुर वाणी द्वारा सबको फाँस लेती है—

"माया महा ठगिनि हंम जांनीं ।
तिरगुन फांसि लिए कर डोलै बोलै मधुरी बांनीं ।।"[5]

कबीर की दृष्टि में जन्म और मृत्यु के कष्ट सबसे बड़े हैं । मनुष्य इन्हीं कष्टों को भूलकर फूला फूला घूमता है । मनुष्य की इसी वृत्ति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है—

"फिरहु का फूले फूले फूले ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले ।"[6]

मुक्ति के लिए अथवा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कर्म करता है । वे सभी व्यर्थ हैं, 'रांम नांम' के बिना कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ।[7] केवल वैष्णव परिवारों में ही नहीं भारतीय समाज में भी पुत्र-प्राप्ति से बड़ा सुख और कोई नहीं है । कबीर उस पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूके हैं—

"बेटा जाए क्या हुआ, कहा बजावै थाल ।
आवन जावन ह्वै रहा, ज्यौं कीड़ी का नाल ।।"[8]

अतः विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों की कबीर ने कटु आलोचना की है । सम्पूर्ण समाज को नष्ट करने वाली संशय, स्वार्थ, पाखंड, अभिमान, निंदा आदि मानव-वृत्तियां हैं । कबीर ने इनपर भी विभिन्न रूपों में प्रहार किया है । संशय पर तीखा व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

"संसै खाया सकल जग, संसा किनहुं न खद्ध ।
जे बेधे गुरु अक्खिरां, ते संसा चुनि चुनि खद्ध ।।"[9]

---

१. ८५-३, ४ २. सा० ३०-६ ३. सा० ३१-४-१
४. सा० ३१-८-१ ५. १६३-१, २ ६. ६८-१, २
७. पद १७४ ८. सा० १६-४० ९. सा० १-७

संसार स्वार्थी है। सभी सगे-सम्बन्धी इसी स्वार्थ के वशीभूत हैं, किन्तु जो निस्वार्थ भाव रखता है वही हरि की प्रीति पहचानने में समर्थ होता है --

"स्वारथ कौ सब कोइ सगा, जग सगला ही जांनि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांनि ॥"[1]

इसी प्रकार 'आशा' और 'तृष्णा' भी जीव के लिए हानिकारक हैं। इनसे सारा शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु इनका नाश होना सरल नहीं है—

"माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृस्नां नां मुई, यौं कहै दास कबीर ॥"[2]

अतः मुल्ला और पंडित को खरी-खरी सुनाने, तीखा व्यंग्य करने तथा विभिन्न रूढ़ियों और वृत्तियों की आलोचना करने में कबीर को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई। कटु आलोचक होते हुए भी अपनी स्वाभाविकता के कारण वे जनता के अधिक निकट पहुँचने में समर्थ हो सके। इसी स्वाभाविकता ने उनमें आत्म-विश्वास का वर्द्धन किया जिसके परिणामस्वरूप वे सिर से पैर तक मस्तमौला बन गए। उनके व्यक्तित्व के विषय में सत्य ही कहा गया है—"वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे—बेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।"[3]

लाक्षणिकता—लाक्षणिकता से तात्पर्य लक्षणा पर आधृत सौन्दर्य से है। लक्षणा अगोचर बातों या भावनाओं को गोचर रूप में रखकर मनुष्यों के लिए सहज ग्राह्य बना देती है।" लक्षणा के द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है।"[4] कबीर ने भी इस कवि-कर्म को अपनाया लक्षणा पर आधृत सौन्दर्य पीछे काव्यशस्त्रीय खंड के शब्द-शक्ति अंश में वर्णित किया जा चुका है। इस स्थान पर मुहावरों का सौन्दर्य वर्णित किया जाएगा। मुहावरों के पीछे लक्षणा का सौन्दर्य व चमत्कार विद्यमान रहता है। मुहावरे भाषा का श्रृंगार होते हैं। इनके प्रयोग से अभिव्यक्ति में स्पष्टता आती है, वाणी में हृदयग्राहिता और मार्मिकता की मात्रा बढ़ जाती है।[5] इनका प्रयोग "वाक्य के अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करके उसे साधारण वाक्यों से अधिक प्रभावशाली, समृद्ध और उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण बनाने के लिए होता है।'[6] कबीर जनता के कवि हैं। जन-साधारण की ही भाषा में अभिव्यक्ति करना उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा। जनता की भाषा में प्रायः मुहावरों की प्रचुरता रहती है। अतः जन सामान्य में प्रचलित अनेक मुहावरों को उन्होंने सहज ही ग्रहण कर लिया।

---

१. सा० ४-४२ २. सा० ३१-२७
३. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० १६६
४. रस मीमांसा, रामचन्द्र शुक्ल; पृ० ३४
५. मुहावरा मीमांसा, ओम्प्रकाश गुप्त; पृ० २६७-३१०
६. वही; पृ० ३७२

इस कथन की पुष्टि में कबीर-काव्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

"ग्राइ न सक्कौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥"[१]

मृत्यु की अभिव्यंजना के लिए 'जियरा लेना' मुहावरा अधिक शक्तिशाली व प्रभावपूर्ण है। इसी प्रकार—

"नैंननि प्रीतम रमि रहा, दूजा कहां समाइ ॥"[२]

'नेत्रों में प्रीतम का रमना', प्रीतम के प्रति अत्यधिक प्रेम को लक्षित करता है। इस प्रेम की मार्मिकता स्वतः सिद्ध है। इतना ही नहीं 'हिरदै हरि बसै'[३], 'चित में बसै'[४], 'मन लागा'[५] आदि मुहावरों द्वारा हरि के प्रति प्रेम ही अभिव्यंजित हुआ है। प्रेम-वर्णन में विरह की अभिव्यक्ति भी लाक्षणिक रूप में की गई है। वहाँ भी विभिन्न मुहावरों का प्रयोग किया गया है। विरह होने पर मन धैर्य नहीं बाँधता और नेत्र प्यासे ही मर जाते हैं—

"ग्रंक भरे भरि भेटिया, **मन नहिं बांधै धीर**।"[६]
"ग्रापहिं ग्राप बंधाइया **दोइ लोचन मरहिं पियास** रे।"[७]

उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए 'सीस काटकर पग तल रखने की' अथवा 'तन मन सौंपने की' आवश्यकता है, तभी यह विरह समाप्त हो सकता है—

"**सीस काटि पग तर धरै**, तब निकटि प्रेम का स्वाद।"[८]
"**तन मन सौंपा पीव कौं**, ग्रंतरि रही न रेख।"[९]

इस प्रकार विभिन्न मुहावरों के प्रयोग से उनकी अभिव्यक्ति में शक्ति आ गई है। निश्चय ही उनके मुहावरों की लाक्षणिकता उनकी भाषा-शक्ति का पूर्ण परिचय देती है।

अतः स्पष्ट है कि कबीर की भाषा का काव्य-सौष्ठव अत्यन्त समृद्ध है। उनकी भाषा में अद्वितीय प्रभाव डालने की सामर्थ्य विद्यमान है। पूर्ण व मार्मिक उपमानों का प्रयोग, चित्रात्मकता, स्वाभाविक अभिव्यक्ति और लाक्षणिकता विशेषताएँ उनकी भाषा को अपूर्व शक्ति प्रदान करती हैं। इसी भाषाशक्ति ने उनके काव्य को सरस और सुबोध बना दिया। "कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्त्व की ऊँची से ऊँची चीज़ प्राप्य है।···भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।"[१०]

---

१. सा० २-३२ २. सा० ११-१३ ३. सा० ३२-१२-१
४. सा० २२-६-१ ५. सा० ६-४०-१ ६. सा० ६-२६-१
७. १०-४ ८. सा० १४-१५-२ ९. सा० १४-२३-२
१०. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ ८०

(ख) कबीर की भाषा का सांस्कृतिक पक्ष

कवि की भाषा के सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों, वाक्यांशों तथा लोकोक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति 'किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करनेवाले तत्तद् आदर्शों की समष्टि'[१] का ही दूसरा नाम है। सामान्य अर्थ में संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जो मानव-व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं। सामाजिक अंग होने के कारण कवि का व्यक्तित्व देश विशेष की संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही व्यक्तित्व भाषा के माध्यम से काव्य में प्रगट होता है। अप्रत्यक्ष रूप में कवि की भाषा उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती है। सांस्कृतिक पक्ष की दृष्टि से कबीर की भाषा अत्यन्त समृद्ध तथा महत्वपूर्ण है।

भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं में निष्काम-कर्म-भावना, सहिष्णुता, समदृष्टि, परदुःखकातरता, अपरिग्रह आदि का विशेष उल्लेख है। यही विशेषताएँ व्यक्ति को सुसंस्कृत बना देती हैं।[२] कबीर के व्यक्तित्व में इन सभी का अद्भुत सामंजस्य दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि ये विशेषताएँ उनके काव्य में अनायास ही अभिव्यक्त हुई हैं।

भारतीय संस्कृति में निष्काम-कर्म-भावना अत्यन्त गहराई तक समाविष्ट है। कबीर ने इस भावना से प्रभावित होकर फलप्राप्ति की इच्छा को हेय बताया है। उनके अनुसार जब तक अपने कार्यों के प्रति दान की आकांक्षा मानव में बनी रहेगी, तब तक वह मानव नरक के समान है। जो मनुष्य फलप्राप्ति की कामना से रहित होकर रांम का स्मरण करता है, ईश्वर उसी को अपनाता है—

"नर नारी सब नरक हैं, जब लगि देह सकांम।
कहै कबीर ते रांम के, जे सुमिरैं निहकांम॥"[३]

दूसरे शब्दों में कबीर ने उस भक्तिभावना का प्रबल विरोध किया है, जिसके साथ फल-प्राप्ति की आकांक्षा सम्बद्ध हो। उनकी दृष्टि में ऐसी भक्ति निरर्थक

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० ४

२. "संस्कृति की चाहे कितनी ही गम्भीर और जटिल परिभाषाएँ की जाएँ, किन्तु पर-दुःखकातरता और अपरिग्रह से बड़ा कोई दूसरा गुण सुसंस्कृत व्यक्ति में नहीं होता।" कबीर—सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २३२

३. सा० ३०-५

है। ईश्वर का स्वरूप तो निष्काम का है। उसे ऐसी सेवा आकृष्ट नहीं कर सकती। अतः फल-प्राप्ति की आकांक्षा रखने वालों को ईश्वर क्यों प्राप्त होगा---

"जब लगि भगति सकांम है, तब लगि निरफल सेव।
कहै कबीर वह क्यौं मिलै, निहकांमीं निज देव।"[१]

इतना ही नहीं कबीर तो यह भी कहते हैं—

"निरबैरी निहकांमता, सांईं सेती नेह।
बिखया सौं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह॥"[२]

इस साखी में 'सांईं सेती नेह' तथा 'संतनि का अंग एह' जैसे वाक्यांश निष्काम-कर्म-भावना के प्रति कबीर के दृढ़ विश्वास को ही व्यक्त करते हैं। फल-प्राप्ति की आकांक्षा में स्वार्थ-भावना अनिवार्यतः निहित रहती है। इसी कारण कबीर की भाषा में अनेक स्थलों पर ऐसे वाक्य मिल जाते हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से मानव की स्वार्थ-भावना पर तीखा आघात किया गया है। कबीर ने स्पष्ट उद्घोषित किया है कि सारा जग ही स्वार्थ के अधीन होकर ईश्वर की उपासना करता है, किन्तु ऐसे लोग ईश्वरीय प्रेम को नहीं जानते, उस प्रेम को तो वही लोग जानते हैं जो स्वार्थ-भावना से ऊपर उठकर ईश्वर का आदर करते हैं—

"स्वारथ कौ सब कोइ सगा, जग सगला ही जांनि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांनि॥"[३]

हमारी सांस्कृतिक चेतना में निष्काम-कर्म-भावना के साथ सहिष्णुता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर अपने अनुभूत ज्ञान के सहारे विभिन्न उपमानों के माध्यम से इस सहिष्णुता पर बल देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी अपने वक्षस्थल पर 'खोद-खाद' सहन करती है, वनराज 'काट-कूट' सहन करता है, उसी प्रकार केवल साधु ही कठोर वचन सहने में समर्थ है, दूसरा कोई सहन नहीं कर सकता—

"खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराइ।
कुटिल बचन साधू सहै, दूजै सहा न जाइ॥"[४]

कबीर की दृष्टि में उसी व्यक्ति का जीवन सार्थक है, जो धरती की धूल के समान सहनशील है। रोड़ा या कंटक तो सदैव दूसरों के पैरों में चुभकर कष्ट देता है। कबीर इतने से ही संतुष्ट नहीं हैं। धूल उठकर राह चलनेवालों के अंगों पर छा जाती है अतः जीव को पानी के समान होना चाहिए, किन्तु पानी भी अत्यधिक ठंडा या गर्म होकर कष्टदायक हो सकता है, अतः ईश्वर भक्त को तो ईश्वर

---

१. सा० १५-४९ २. सा० ४-२४
३. सा० ४-४२ ४. सा० ४-२५

के समान ही होना चाहिए—

"रोड़ा भया त क्या भया, पंथी कौं दुख देइ।
हरिजन अैसा चाहिए, ज्यौं धरनीं की खेह ।।
खेह भई तौ क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
हरिजन अैसा चाहिए, ज्यौं पांनीं सरबंग ।।
पांनीं भया तौ क्या भया, ताता सीरा होइ।
हरिजन अैसा चाहिए, जैसा हरि ही होइ ।।"[1]

सहिष्णुता की भावना पर कबीर ने इतना अधिक बल दिया है कि वे स्वयं को संतों के दासों का दास अर्थात् चाकर अनुभव करते हैं। उन्होंने अपने जीवन को भी पैरों के नीचे दबी हुई घास के समान सहिष्णु बना रखा है—

"कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर अैसा होइ रहा, ज्यौं पांवां तलि घास ।।"[2]

कबीर भक्त होने के साथ-साथ बड़े समाज-सुधारक भी थे। उनके काव्य में अनेक ऐसी उक्तियाँ विद्यमान हैं जो उनकी समदृष्टि की अभिव्यंजना करती हैं। मानव मानव में भेद उत्पन्न करने वाले विश्वासों तथा आडम्बरों की उन्होंने कठोर निन्दा की है। "मानवमात्र की उत्पत्ति एक ही ज्योति से हुई है—एक ही ईश्वर सबमें व्याप्त है।"[3] सबको आपसी भेदभाव मिटाकर एक ही राम का नाम जपना चाहिए—

"एक रुधिर एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा।
एक बूंद तैं सृष्टि रची है कौंन बांह्मन कौंन सूदा ।।
....
कहै कबीर एक रांम जपहुरे हिंदू तुरुक न कोई ।।"[4]

एक ही मिट्टी नाना भेष धारण कर लेती है, सब में ब्रह्म एक समान ही है—

"माटी एक भेख धरि नांनां तामैं ब्रह्म समांनां।"[5]

समदृष्टि के आधार पर ही जाति-पांति का खंडन करते हुए वे कहते हैं—

"कबीर गुर गरवा मिला, मिलि गया आटैं लौंन।
जाति पांति कुल सब मिटै, नांउं धरौगे कौंन ।।"[6]

शाक्त, ब्राह्मण, वैष्णव और चाण्डाल को मिलाते हुए वे कहते हैं कि उन्हें एक-दूसरे को ऐसे आलिंगनबद्ध करना चाहिए, मानो उस रूप में स्वयं गोपाल मिले हों—

"साकत बांह्मन मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दै भेटिए, मांनौं मिले गोपाल ।।"[7]

---

१ सा० १९-७, ८, ९ २. सा० १९-१४
३. कबीर—सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २३३ ४. १८१—३, ४,
५. १८४-९ ६. सा० १-२४ ७. सा० ४-३९

कबीर अपने आपको तो उस देश का वासी बतलाते हैं जहाँ सभी समान हैं किसी प्रकार का भेदभाव शेष ही नहीं है, वहाँ तो 'शब्द' मिलता है, देह नहीं—

"हंम बासी उस देस के, जहां जाति पांति कुल नांहि ।
सबद मिलावा ह्वै रहा, देह मिलावा नांहि ।।"[1]

इस रूप में उन्होंने सम्पूर्ण सांसारिक बंधनों से मुक्ति पा ली है और केवल राम के ही रंग में रंगे हैं—

"बंध तै निर्बंध कीया तोरि सब तंगी ।
कहै कबीर अगम किया गम रांम रंग रंगी ।।"[2]

मानव की वह भावना, जिसके कारण वह दूसरों को दुःखी देखकर द्रवित होता है, पर दुःख कातरता कही जाती है । यह भावना मानवीय उदारता के धरातल पर प्रतिष्ठित होती है । समाज सुधारक के रूप में कबीर समाज के दुःखों को देखकर दुःखी होते हैं । कठोर वचन किसी व्यक्ति के हृदय पर बहुत आघात पहुँचाते हैं । इसीलिए कबीर ऐसे व्यक्ति की भर्त्सना करते हैं, जो साधु होकर भी सोच-विचारकर नहीं बोलता और जो अपनी जिह्वा पर तलवार बाँधकर दूसरों की आत्मा को कष्ट पहुँचाता है—

"साधु भया तौ क्या भया, बोलै नांहिं बिचारि ।
हतै पराई आतमां, जीभ बांधि तरवारि ।।"[3]

यह सम्पूर्ण संसार अनेक बंधनों में फँसा हुआ है । इस संसार के विभिन्न प्रपंचों के कारण अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं । जन्म, मरण के बीच में पिसनेवाले जीव के कष्टों को देख कबीर रो देते हैं—

"चाकी चलती देखि कै, दिया कबीरा रोइ ।
दोइ पट भीतर आइ कै, सालिम गया न कोइ ।।"[4]

परदुःख-कातरता की भावना कबीर-काव्य में इस सीमा तक मिलती है कि साधु-संगति का उपदेश इस कारण दिया गया है कि उससे दूसरे व्यक्तियों का दुःख दूर होता है—

"संगति कीजै साधु की, हरै और की ब्याधि ।"[5]

इस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का अंग होने के कारण परदुःख-कातरता की यह भावना उनकी भाषा में सहज ही अभिव्यक्त हुई है ।

भारतीय संस्कृति में अपरिग्रह का विशेष महत्व है । जीवन की चरम शान्ति के लिए भौतिक सुखों को त्यागना अनिवार्य है । अहंभाव तथा भौतिक सुखों के त्याग पर बल देते हुए कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मैं अपना कह सकूं, जो कुछ भी मेरे पास है, वह सब कुछ तेरा ही है । अतः तुझे सौंपते हुए मुझे तनिक भी संकोच नहीं है—

---

१. सा० १०-१४ २. १-६, १० ३. सा० १६-१५
४. सा० १६-५ ५. सा० २४-१०-१

"मेरा मुझमैं किछु नहीं, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपतां, क्या लागै मेरा।।"[१]

कबीर की दृष्टि में विरक्त व्यक्ति यदि सांसारिक भोगों में बँधता है तो बहुत दुर्भाग्यशाली होता है—

"बैरागी बंधन करै, ताकौ बड़ो अभाग।"[२]

स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण संगी और सम्बन्धियों के त्याग का भी कबीर उपदेश देते हैं—

"तेरा संगी कोइ नहीं, सबै स्वारथी लोइ।"[३]

ईश्वर के प्रति प्रेम में सांसारिक सम्पत्ति तथा नारी अत्यधिक बाधा पहुँचाती है। इसीलिए कबीर ने इन दोनों को त्याग दिया है—

"कबीर त्यागा ग्यांन करि, कनक कांमिनीं दोइ।"[४]

इतना ही नहीं अपरिग्रह की भावना अप्रत्यक्ष रूप में भी व्यक्त हुई है। मनुष्य अपने परिवार के पालन-पोषण में ही व्यस्त रहने के कारण राम नाम नहीं जान पाता और अपने धंधे में ही मर जाता है। इस कारण कबीर यही कहना चाहते हैं कि इसे त्यागने में ही सुख है—

"रांम नांम जांनां नहीं, पाला कटक कुटुंब।
धंधा ही मैं मरि गया, बाहरि भई न बंब।।"[५]

अतः कबीर की दृष्टि में सच्चा संत या साधु वही है जिसकी आवश्यकताएँ अत्यल्प होती हैं और जो अपरिग्रह में ही विश्वास करता है—

"संत न बांधै गाठरी, पेट समाता लेइ।
आगैं पाछैं हरि खड़ा, जब मांगै तब देइ।।"[६]

अस्तु, कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त समृद्ध है। अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्था तथा आत्मसमर्पण की चरम पराकाष्ठा उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व का अंग हैं। प्रेम का आखर कबीर की दृष्टि में सर्वोपरि है और इसी प्रेम की मस्ती में आत्मसमर्पण की सीमा तक वे पहुँच जाते हैं और कह उठते हैं—

"कबीर कूता रांम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले रांम की जेवरी, जित खैंचै तित जाउं।।"[७]

---

१. सा० ६-२ २. सा० १५-३४-२ ३. सा० १५-६२-१
४. सा० ३०-८-२ ५. सा० १५-१६ ६. सा० ३२-६
७. सा० ६-१

उपसंहार

कबीर की भाषा के भाषा-वैज्ञानिक तथा काव्यशास्त्रीय अध्ययन के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्ष

(१) कबीर-काव्य में विभिन्न ध्वनियों के अतिरिक्त आँ, ईं, ऊँ, एँ, ओं स्वरों का प्रयोग है।

शब्दों में अन्त्य 'अ' प्रायः उच्चरित नहीं होता, अन्त में संयुक्त ध्वनि होने पर उच्चरित होता है।

'ऋ' का प्रयोग लिपि में अवश्य है किन्तु उच्चारण में 'ऋ' और 'रि' में कोई अन्तर नहीं है।

'ष' का विकास 'ख' और 'छ' दोनों रूपों में मिलता है। संयुक्त रूपों में 'ष' लिपि में शेष है किन्तु उच्चारण में यह 'श' ही है।

तत्सम शब्दों में संस्कृत की संधि-सम्बन्धी प्रवृत्ति शेष है किन्तु कुछ शब्दों में ऐसा प्रयोग भी मिलता है जिनमें संधि नहीं है। साथ ही 'जभी', 'तभी' में आज 'ब+ह' की संधि है, यह प्रवृत्ति कबीर के समय तक विकसित नहीं हो पाई थी।

कबीर में 'संगम' सम्बन्धी प्रवृत्ति भी है, उससे अर्थ में परिवर्तन भी हो जाता है, जैसे—दिनन (बहुवचन), दिन न (निषेधात्मक)।

(२) कबीर के काव्य में रूढ़, यौगिक दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग है। विभिन्न शब्दों की रचना तीन प्रकार से की गई है—

(क) मूल में एक या अधिक उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर
(ख) दो या अधिक शब्दों को मिलाने से
(ग) शब्दों की आवृत्ति से

संज्ञा, परसर्ग, सर्वनाम, क्रिया और अव्ययों में—अवधी, ब्रज तथा खड़ी बोली —इन तीनों के रूपों का अत्यधिक मिश्रण है। प्रयोगावृत्ति की दृष्टि से संज्ञा तथा

क्रिया में ब्रज के रूप अधिक हैं, परसर्ग और अव्यय अवधी के अधिक हैं तथा सर्वनाम खड़ी बोली के। वैसे रूपों के वैविध्य की दृष्टि से अवधी के रूप अपेक्षतया अधिक पाए जाते हैं। भाषा निर्णय करते समय इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन तीनों के अतिरिक्त क्रमशः राजस्थानी, भोजपुरी और पंजाबी के रूप प्रयुक्त हुए हैं। संज्ञा और परसर्ग में राजस्थानी रूप तथा सर्वनाम और क्रिया में भोजपुरी रूप अपेक्षाकृत अधिक हैं। पंजाबी के (कदे, नालि आदि) रूप अव्ययों में विद्यमान हैं।

विशेषणों में संख्यावाची विशेषण पर्याप्त मात्रा में हैं। सार्वनामिक विशेषणों तथा सर्वनामों के विशेषणवत् प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक है।

बलात्मक रूपों तथा विभिन्न रूपों की पुनरावृत्ति के प्रयोग से कबीर की भाषा में अधिक शक्ति आ गई है।

(३) कबीर का साहित्य पद्यात्मक ही है अतः वाक्य-विन्यास की दृष्टि से उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता अपनाई गई है। कवि की सफलता इस बात में है कि इस स्वतन्त्रता से अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती।

विभिन्न रूपों के लोप की प्रवृत्ति अधिक है।

सरल तथा संयुक्त दोनों प्रकार के वाक्य हैं। आश्रित वाक्यों का आधिक्य है।

(४) कबीर-काव्य में लगभग ४००० मूल शब्द हैं जिनमें १४ प्रतिशत तत्सम, ७७ प्रतिशत तद्भव, ७ प्रतिशत विदेशी तथा २ प्रतिशत देशज शब्द हैं। देशज में अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्द कम हैं तथा अनुकरणात्मक शब्द अधिक हैं। विदेशी में अरबी, फारसी के शब्दों का बाहुल्य है, तुर्की के ४ शब्द प्राप्त होते हैं।

सांस्कृतिक संकेतों की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल संकेत मात्र ही किया गया है। इस दिशा में पृथक् से कार्य करने की अपेक्षा है। कबीर की व्यापक दृष्टि का परिचय उनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शब्दों से प्राप्त होता है।

भाषा का निर्णय

कबीर-ग्रन्थावली में २०० पद, २० रमैनी, १ चौंतीसी रमैनी तथा ७४४ साखियाँ हैं। भाषा की दृष्टि से साखियाँ कुछ भिन्न हैं तथा पद, रमैनी और चौंतीसी रमैनी पृथक् हैं। साखियों में खड़ी बोली के रूप अधिक हैं तथा पद, रमैनी और चौंतासी रमैनी में ब्रजभाषा तथा अवधी के रूपों का प्राधान्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया था।[1]

यह तथ्य "निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि कबीर का अधिकांश जीवन काशी

१. हि० सा० इ०, पृ० ८०

अथवा उसके आसपास के प्रदेशों में व्यतीत हुआ था।"[1] यह प्रदेश अवधी तथा भोजपुरी दोनों भाषाओं की सीमा पर स्थित है। यह बात भी निवादमुक्त है कि कबीर की मातृभाषा अवधी थी, सम्भवतः इसी आधर पर डॉ० बाबूराम सक्सेना ने उन्हें अवधी का प्रथम संत कवि कहा है।[2] इस आधार पर कबीर-काव्य में अवधी रूपों का वैविध्य तथा आधिक्य स्वाभाविक ही है। फिर भी केवल अवधी को कबीर की भाषा रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों भाषाओं के रूपों का इतना अधिक मिश्रण है कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कारण कबीर को किसी एक भाषा का कवि अथवा कबीर ग्रन्थावली की भाषा कोई एक बोली स्वीकार करना वैज्ञानिक नहीं। **कबीर की भाषा में—अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली—इन तीन भाषाओं का मिश्रण मानना ही अधिक न्याय संगत तथा वैज्ञानिक होगा। इन तीनों के मिश्रित रूप के साथ राजस्थानी, भोजपुरी तथा पंजाबी के रूपों का सहायक रूप में प्रयोग हुआ है।**

काव्यशास्त्रीय अध्ययन के निष्कर्ष

(१) शब्द-शक्तियों की दृष्टि से कबीर के काव्य में लक्षणा का वैशिष्ट्य है। लक्षणा में ही बात कहने में उनकी स्वाभाविकता है। साखियों में इस प्रकार के उदाहरणों का बाहुल्य है क्योंकि उनमें मुहावरों का अधिक आश्रय ग्रहण किया गया है और मुहावरे लक्षणा पर ही आधारित होते हैं।

(२) कबीर मूलतः रहस्यवादी कवि हैं। उनकी रहस्यानुभूति प्रबल थी तभी उसकी सफल अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी। रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि का आश्रय ग्रहण किया गया है। अकथ्य का ध्वनन उनके काव्य की चरम सिद्धि है। इसीसे उनके कवि-सामर्थ्य का परिचय प्राप्त होता है।

(३) वक्रोक्ति के आधार पर पदपूर्वार्ध तथा पदपरार्ध वक्रता के विभिन्न भेदों के उदाहरण उनके काव्य में विद्यमान हैं। भाषा की इसी शक्ति के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चमत्कार का विरोध करते हुए भी कबीर की 'चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण' बातों की प्रशंसा की थी।

(४) कबीर की भाषा का विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा भी अलंकरण हुआ है। सचेष्ट प्रयास न होते हुए भी उनके काव्य में विभिन्न अलंकारों के सुन्दर उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

(५) कबीरदास द्वारा व्यवहृत प्रतीक प्रमुखतः तीन स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं—

---

१. क० ग्र०, पा० ना० ति०, भूमिका, पृ० २४५

२. दक्खिनी हिन्दी, पृ० ३२

(१) वैदिक साहित्य से
(२) सिद्ध और नाथ साहित्य से
(३) तत्कालीन वातावरण तथा व्यवसाय से।

जिन पौराणिक प्रतीकों का उनके काव्य में प्रयोग है वे निश्चय ही तत्कालीन समाज में इतने अधिक प्रचलित थे कि कबीर के काव्य में स्वतः ही चले आए। कबीर मूलतः पुराण विरोधी थे तभी तो उन्होंने 'बेटा जाए क्या हुआ, कहा बजावै थाल' (सा० १६-४०-१) कहकर उन पौराणिक कृत्यों का भी खंडन किया जो जीवन की मुक्ति या सफलता के आधार माने जाते हैं।

कबीर द्वारा व्यवहृत प्रतीक चार वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(१) साधना पद्धति से सम्बन्धित विशिष्ट पारिभाषिक प्रतीक—
गगन, गुफा, चंद, सूर आदि।

(२) संख्यावाची शब्दों के साथ प्रयुक्त प्रतीक—
दोइपुर, पंचचोर, सातसूत आदि।

(३) रूपक, अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत भावमूलक प्रतीक—
तरवर, पंखि, गज, मृग आदि।

(४) उलटबांसियों के प्रतीक—
सिंघ, काल, चीता, बाज आदि।

इन विभिन्न प्रतीकों की योजना—साम्यमूलक तथा विरोधमूलक दोनों प्रकार की है।

(६) भाषा के अध्ययन की दृष्टि से रीति, वृत्ति की व्यावहारिक सत्ता नहीं है। उनका सीधा सम्बन्ध वर्ण-योजना से है अतः वे गुणों में समाहित हैं। कबीर-काव्य में विषयानुरूप माधुर्य और प्रसाद गुणव्यंजक-वर्णों का बाहुल्य है साथ ही ओज-गुण-व्यंजक-वर्णों के उदाहरण भी उपलब्ध हो जाते हैं। ओज गुण युक्त शब्दावली प्रायः वहीं अपनाई गई है जहाँ उन्हें दूसरों को डाटना और फटकारना है।

खंड ३ के निष्कर्ष

(क) कबीर की भाषा-शक्ति अद्वितीय है। पूर्ण व मार्मिक उपमानों के प्रयोग, चित्रात्मकता, स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा लाक्षणिकता ने उनकी भाषा में अपूर्व शक्ति भर दी है।

(ख) भाषा के सांस्कृतिक पक्ष की दृष्टि से निष्काम-कर्म-भावना, सहिष्णुता, समदृष्टि, परदुःखकातरता, अपरिग्रह आदि विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताएँ उनके काव्य में अनायास ही अभिव्यक्त हुई हैं। कबीर की दृष्टि में प्रेम सर्वोपरि है। अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए वे आत्मसमर्पण की चरम सीमा

परिशिष्ट १

कबीर द्वारा प्रयुक्त मुहावरों और लोकोक्तियों की सूची

(क) मुहावरे—

१. अंक भरे भरि भेटिये	—	सा० ४-२०-२, सा० ९-२६-१
२. अंग न मोरहीं	—	सा० २-२-२
३. अंगि लागा	—	११९-१०
४. अंम्रित मैं बिख घोलै	—	९३-५
५. आगि लगाइ मंदिर मैं सोवहिं	—	१६७-५
६. एकमेक होइ मिलि रहा	—	सा० ३४-३-२
७. कंवला जल मांहीं	—	३४-१
८. कछू न आवै हाथ	—	सा० ४-२३-२, सा० १५-५९-२
९. करवट दै	—	१९-२
१०. कांम परे ही जांनिए	—	सा० १४-१४-२
११. काल कंठ कौं गहैगा	—	सा० ३-२२-२
१२. काल रहा सिर कूटि	—	सा० १७-६-२
१३. गल मैं परिया फंद	—	सा० ३३-५-२
१४. गला कटावै कौंन	—	सा० २१-३-२
१५ गलि परि गई पासी	—	१९३-४
१६. चित चोरै	—	९३-२
१७. चित न लाई	—	सा० १५-३९-१, सा० ३३-१-२
१८. चित मैं बसै	—	सा० ३२-९-१
१९. छांड़ि अंम्रित काहे बिखु खाई	—	२०-८
२०. जनम गंवाया बादि	—	सा० २९-१५-२, सा० ३०-१४-२
२१. जस सोनैं संग सुहागा	—	१६-६, १८-६
२२. जियरा यौं ही लेहुगे	—	सा० २-३२-२

२३. झख मारि — सा० १५-१२-२
२४. टेढ़ पगरी — ४४-२
२५. तन मन सौंपा पीव कौं — सा० १४-२३-२
२६. तौ मुख तैं मोती झरै — सा० १५-७४-२
२७. दह दिसि लागी आगि — सा० २१-११-२
२८. दांत उपारूं पापिनीं — सा० ३१-८-२
२९. दिन दस — सा० १५-३-१, सा० १५-४६-२
३०. दिल खोजौं — सा० ६-५-२
३१. दिल बांधी — सा० ११-२-२
३२. दिल मिली — सा० ३२-७-१
३३. दिवस चारि का पेखनां — सा० १५-४-२, सा० १५-५५-२, सा० १६-१४-२
३४. दुख करि रोवै बलाइ — ५५-६
३५. दोइ लोचन मरहिं पियास रे— १०-४
३६. नवनिधि होइगी चेरी — १४-७
३७. नांगे हाथौं — सा० १५-२१-२
३८. नील रंगाऊं दंत — सा० ११-७-२
३९. नैंननि प्रीतम रमि रहा — सा० ११-१३-२ सा ९-१२-२
४०. पड़ा कलेजै छेक — सा० १५-४७-१
४१. पला न पकड़ै कोइ — सा० ४-१७-२, सा० २१-२-२
४२. फूला फूला डोलै — ९३-४, सा० १८-१०-२
४३. बातन ही असमांनु गिरावहिं— १६७-३
४४. बूड़ि मुएहु बिनु पांनीं — ६९-६, ९२-२
४५. संचै भांड़ै — ५८-४
४६. मन धरै — सा० १५-६५-१ सा० ९-३१-१
४७. मन नहिं बांधै धीर — सा० ८-९-१, सा० ९-२६-२
४८. मन मारि के — सा० २९-१६-१
४९. मन राखौं — ६-३
५०. मन लागा — सा० ९-८-१, सा० ९-४०-१
५१. मुख फांकै छारा — १९७-३
५२. मूंड़ महिं मार्‌यौ — २३-३, ६२-६, ६५-८

५३. मूंड मुड़ाइ फूलि का बैठे	—	१७०-३
५४. मूंड़ मुड़ाएं	—	१७४-४
५५. मूल छांड़ि गहि डाला	—	१७५-८
५६. मिलि गया आटैं लौंन	—	सा० १-२४-१
५७. मोटे भाग	—	सा० १०-१०-२
५८. रोवैं सीस कूटि	—	७५-८
५९. लांबे गोड़ पसारि	—	सा० ३-२-२
६०. सब देखी ठोंकि बजाइ	—	सा० १५-३०-२
६१. सिर कूटै	—	सा० ३२-१५-२
६२. सिर फोरै सूझै नहीं	—	सा० ३०-२२-२
६३. सिर साहिब कौं सौंपतां	—	सा० १४-२५-२, सा० १४-३४-२
६४. सिरि चढ़ा	—	सा० २१-२४-२
६५. सीस उतारै हाथ सौं	—	सा० १४-१८-२, सा० १४-३१-२
६६. सीस काटि पग तर धरै	—	सा० १४-१५-२
६७. सीस देइ	—	सा०१४-३२-२
६८. हाथ मलै तिनकौं पछिताई	—	१६४-८
६९. हिरदै हरि बसै	—	सा० ३२-१२-२

(ख) **लोकोक्तियां**—

१. अंधे कौं अंधा मिला, राह बतावै कौंन	—	सा० ३-२४-२
२. अंधे अंधा ठेलिया, दोन्यूं कूप परंत	—	सा० १-६-२
३. इत के भए न उत के, चाले मूल गंवाइ	—	सा० १५-५६-२
४. ऊजड़ जाइ बसाहिंगे, छोड़ि बसंता गांउ	—	सा० १५-६६-२
५. एकै साधें सब सधै, सब साधें सब जाइ	—	सा० १५-१४-१
६. ओसां प्यास न भाजई	—	सा० ३-१९-२
७. कहै कबीर कैसै बनैं, एक चित दुइ ठौर	—	सा० १२-६-२
८. कहै कबीर सब भोगिया, देह धरे का डंड	—	सा १६-६-२
९. कांची सरसौं पेलि कै, नां खलि भई न तेल	—	सा० २४-९-२
१०. काया हांड़ी काठ की, नां ऊ चढ़ै बहोरि	—	सा० १५-१८-२
११. कोयला होइ न ऊजरा, सौ मन साबुन लाइ	—	सा० २२-३-२
१२. कौड़ी कौड़ी जोड़तां, जोरै लाख करोरि	—	सा० १५-८-२
१३. खीर नीर का करै निबेरा	—	२८-६

१४. गांठि न बांधउं बेंचि न खांऊं — २२-२
१५. चलते चलते जुग गया, पाव कोस पर गांऊं — सा० १०-६-२
१६. जन जन कौ मन राखतां, बेस्वा रहि गई बांझ — सा० ११-४-२
१७. जांनि बूझि कंचन तजै, क्यौं तू पकरै कांच — सा० २१-३०-२
१८. जिहिं जिहिं डारी पग धरौं, सोई नइ नइ जाइ — सा० ८-३-२
१९. जिहिं पंथां तोहि चलनां, सोई पंथ संवारि — सा० १५-५३-२
२०. जैसैं दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक — सा० २९-२२-२
२१. जो ऊगै सो आथवै, फूलै सो कुम्हिलाइ — सा० १६-१९-१
२२. जो चुनिया सो ढहि पढ़ै, जांमैं सो मरि जाइ — सा० १६-१९-२
२३. जो जैसी संगति करै, सो तैसा फल खाइ — सा० २४-३-२
२४. जो रहै करवा सौ निकसै टोटी — १९७-५
२५. जो है जाका भावता, सो ताही कै पासि — सा० २-२६-२
सा० २-२८-१
२६. टेसू फूले दिवस दोइ खंखर भए पलास — सा० १५-४५-२
२७. डारी डारी मैं फिरौं, पातैं पातैं दुख — सा० ६-६-२
२८. तुझै बिरांनीं क्या परी, तूं अपनीं आप निबेरि — सा० १५-१३-२
२९. दाढ़ी मूंछ मुड़ाइ कै, चला दुनीं कै साथि — सा० २५-१४-२
३०. दिवस चारि की करहु साहिबी — ७३-४
३१. दोनों बूड़ेे धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव — सा० १-१७-२
३२. नौ नेजा पांनीं चढ़ै तऊ न भीजै कोर — सा० २२-१२-२
३३. पतिबरता नांगी रहै, तौ उसही पुरिख कौं लाज — सा० ११-८-२
३४. पांनीं मैं घी नीकसै, तौ लूखा खाइ न कोइ — सा० २९-५-२
३५. पांव कुहाड़ी मारिआ, गाफिल अपनैं हाथि — सा० १५-२९-२
३६. पांव न टिकै पिपीलिका, लोगनि लादे बेल — सा० १०-२-२
३७. पूंछ जु पकड़ै भेड़ की, उतरा चाहै पार — सा० २१-२८-२
३८. पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़ई चाकि — सा० १२-१-२
३९. पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा — सा० ३३-३-१
४०. बिख की क्यारी बोइ करि, लुनत कहा पछताइ — सा० २९-११-२
४१. बेस्वा केरा पूत ज्यौं, कहै कौंन सौं बाप — सा० ३-२०-२
४२. मन दस नाज टका दस गांठी ऐंड़ौ टेढ़ौ जात — ७३-२
४३. मरनैं तैं क्या डरपनां, जब हाथि सिंधोरा लीन — सा० १४-१-२
४४. मलय भुयंगम बेढ़िऔ, तऊ सीतलता न तजंत — सा० ४-२-२
४५. राई घटै न तिल बढ़ै, जौ सिर कूटै कोई — सा० ३२-१५-२
४६. राई तैं परबत करै, परबत राई मांहि — सा० ८-११-२

४७. रुई लपेटी आगि — सा० १५-७१-१
४८. लोह निहाला आगि ज्यूं, जरि वरि कोइला होइ — सा० ३०-१७-२
४९. लोहा माटी मिलि गया, तब पारस कौंनैं कांम — सा० २-१०-२
५०. लौंन बिलंगा पांनिया, पांनीं लौंन बिलंगि — सा० ९-४०-२
५१. समुझाए समुझै नहीं, तौ देहु धका दुइ और — सा० १५-८९-२
५२. सीचौ पेड़ पिवैं सब डारी — ३८-५
५३. सूधा जल पीवै नहीं, खोदि पियन की हौंस — सा० ३३-६-२
५४. सूनें घर का पाहुना, ज्यौं आवैं त्यौं जाव — सा० २-४६-२
५५. स्वारथ कौ सब कोइ सगा — सा० ४-४२-१
५६. होनां है सो होइहै — ८२-३

परिशिष्ट २

सहायक-ग्रन्थ सूची

(१) हिन्दी-संस्कृत

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग—सं० तथा अनु० रामलाल वर्मा, १९५९

२. अलंकारसर्वस्व—श्री राजानक रुय्यक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३९

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य—डॉ० जयचन्द्र राय, १९६३

४. आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार विधान—डॉ० जगदीश नारायण त्रिपाठी, १९६३

५. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान —डॉ० नित्यानन्द शर्मा, सं० २०२३

६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल —डॉ० स्नातक, गुलाबराय, १९५२

७. उक्तिव्यक्तिप्रकरण—सं० श्री जिनविजय मुनि, १९५३

८. उत्तरी भारत की संत परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी, सं० २००८

९. उपनिषद्—ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद् प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद, माण्डूक्योपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्; गीता प्रेस, गोरखपुर ।

१०. ऋग्वेद-संहिता—स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सूरत, सं० २०१३

११. कबीर-वचनावली—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, सं० २००४

१२. कबीर-साहित्य का अध्ययन—श्री पुरुषोतमलाल श्रीवास्तव, सं० २००८

१३. कबीर की विचारधारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, सं० २०१४

१४. कबीर : एक विवेचन—डॉ० सरनामसिंह शर्मा, १९६०

१५. कबीर और उनका काव्य – डॉ० भोलानाथ तिवारी, १९६२

१६. कबीर—सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, १९६५

१७. कबीर-दर्शन—डॉ० रामजीलाल 'सहायक', १९६२
१८. कबीर-साहित्य की परख—पं० परशुराम चतुर्वेदी, सं० २०११
१९. कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सं० १९९८
२०. कबीर-साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर, १९५०
२१. कबीर-ग्रंथावली—सं० श्यामसुन्दर दास, २०१६
२२. कबीर-ग्रंथावली—सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी, १९६१
२३. कबीर-बानी—सम्पादन और अनुवाद जाफ़री, हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, बम्बई।
२४. कबीर—साहित्य और अध्ययन—यज्ञदत्त शर्मा, १९५३
२५. कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा, १९६१
२६. कबीर की भाषा—माता बदल जायसवाल, १९६५
२७. कबीर काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० भगवत प्रसाद दुबे, १९६९
२८. काव्य में अभिव्यंजनावाद—श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, सं० २०१६
२९. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग, द्वितीय भाग) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सं० २०१२, सं० २००६। (रस मंजरी), (अलंकार मंजरी)।
३०. काव्य और कला तथा अन्य निबंध—जयशंकर 'प्रसाद', सं० २०१५
३१. काव्यप्रकाश—(मम्मटाचार्य) व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, स० डॉ० नगेन्द्र सं० २०१७
३२. काव्यालंकार—भाष्यकार—देवेन्द्रनाथ शर्मा, १९६२ (भामह विरचित)
३३. काव्यानुशासनम्—श्री हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४
३४. काव्यालंकार—श्री भामह, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सं० १९८५
३५. काव्यालंकार—श्री रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८
३६. काव्यमीमांसा—कविराज राजशेखर, अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत १९५४
३७. काव्य-दर्पण—पं० रामदहिन मिश्र, १९६०
३८. काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहिन मिश्र, सं० २००५
३९. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, १९५५
४०. कुवलयानन्द—श्रीमदप्पय दीक्षित, व्याख्याकार—डॉ० भोलाशंकर व्यास १९५६
४१. कूट काव्य : एक अध्ययन—डॉ० रामधन शर्मा, १९६३
४२. खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना—डॉ० आशा गुप्ता, १९६१
४३. गोरख-बानी—सं० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सं० २०१७
४४. चन्द्रालोक—श्री जयदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९६०
४५. चिन्तामणि (प्रथम तथा द्वितीय भाग)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१४

४६. जायसी की भाषा—डॉ० प्रभाकर शुक्ल, सं० २०२२
४७. ढोलामारू रा दूहा—सं० रामसिंह तथा सूर्यकरण पारीक, सं० २०११
४८. तुलसीदास की भाषा—डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, सं० २०१५
४९. दक्खिनी हिंदी—डॉ० बाबूराम सक्सेना, १९५२
५०. दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा—पं० राहुल सांकृत्यायन, १९५९
५१. धम्मपद—सं० तथा अनु० अवधकिशोर नारायण, १९४६
५२. ध्वन्यालोक—श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सं० १९९७
५३. नाट्यशास्त्रम्—ओरिन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४
५४. नाथ-सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५०
५५. नाथ सिद्धों की बानियां—सं० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० २०१४
५६. पुरानी राजस्थानी—मूल लेखक तेस्सितोरी, अनु० नामवरसिंह, सं० २०१२
५७. पूर्व, मध्यपूर्व एवं पश्चिम में प्रतीकवाद—डॉ० चन्द्रकला, १९६५
५८. पृथ्वीराज रासो की भाषा—डॉ० नामवरसिंह, १९५६
५९. प्रतीक तथा प्रतीकवाद—डॉ० चन्द्रकला, १९६५
६०. प्राकृतपैंगलम्—सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, १९५९
६१. बीजक—टीकाकार-विचारदास शास्त्री, १९५४
६२. बुद्ध-चरित—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१४
६३. बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डॉ० रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल, १९६३
६४. ब्रजभाषा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, १९५४
६५. ब्रजभाषा का व्याकरण—पं० किशोरीदास वाजपेयी, १९४८
६६. भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएं—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९५७
६७. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका (भाग २)—डॉ० नगेन्द्र, १९५५
६८. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, १९६३
६९. भारतीय संस्कृति और साधना—डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज, प्रथम खंड—द्वितीय खंड १९६३, १९६४
७०. भारतीय संस्कृति का विकास—डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, द्वितीय संस्करण, १९६४
७१. भाषा और समाज—डॉ० रामविलास शर्मा १९६१
७२. भाषा-विज्ञान—डॉ० भोलानाथ तिवारी, तृतीय सं० १९६१
७३. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, १९५८
७४. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डॉ० उदयनारायण तिवारी, १९५४
७५. महात्मा कबीर—श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, सं० १९९२

७६. मुहावरा-मीमांसा—डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त, १९६०
७७. युगद्रष्टा कबीर—डॉ० तारकनाथ बाली, १९५७
७८. रघुवंश महाकाव्यम्—श्री कालिदास, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस।
७९. रसगंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ, व्याख्याकार—श्री बदरीनाथ झा, श्री मदनमोहन झा, १९५५
८०. रसमीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१७
८१. राउल वेल और उसकी भाषा—सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, प्रथम संस्करण।
८२. राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९६०
८३. राजस्थानी भाषा और साहित्य (वि० सं० १५००-१६५०) डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, १९६०
८४. रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता—डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
८५. वर्ण-रत्नाकर—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या तथा बाबुआ मिश्र, १९४०
८६. विचार-धारा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, १९५६
८७. श्री रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर।
८८. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर।
८९. संत साहित्य—डॉ० सुदर्शनसिंह मजीठिया, १९६२
९०. सन्त-साहित्य—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, १९६५
९१. सन्त-वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, १९६२
९२. सन्त कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा, १९५७
९३. सरस्वती कंठाभरण—भोज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
९४. सन्देशरासक—सं० श्री जिनविजय मुनि तथा प्रो० हरिवल्लभ भायाणी, १९४५
९५. साहित्यदर्पण (विमलाटीका)—श्री विश्वनाथ, १९६१
९६. सिद्ध साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती, १९५५
९७. सिद्धान्त और अध्ययन—बाबू गुलाबराय, १९५५
९८. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, तृतीय संस्करण।
९९. सूर की भाषा—डॉ० प्रेमनारायण टंडन, १९५७
१००. सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ० शिवप्रसाद सिंह, १९५८
१०१. सूर सागर शब्दावली (एक सांस्कृतिक अध्ययन)—डॉ० निर्मला सक्सेना, १९६२
१०२. हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डॉ० ओम्प्रकाश, १९५६

१०३. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति—डॉ० संसारचन्द, १९६०
१०४. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (वामन कृत)—व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, सं०—डॉ० नगेन्द्र, १९५४
१०५. हिन्दी काव्यादर्श—व्याख्याकार—डॉ० रणवीरसिंह, १९५८
१०६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
१०७. हिन्दी काव्यधारा—पं० राहुल सांकृत्यायन, १९४५
१०८. हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, १९६१
१०९. हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, १९५२
११०. हिन्दी भाषा—डॉ० भोलानाथ तिवारी, १९६६
१११. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी, सं० २०१८
११२. हिन्दी भाषा का इतिहास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, १९४९
११३. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', १९५८
११४. हिन्दी अभिनवभारती—भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ० नगेन्द्र, १९६०
११५. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, सं०—डॉ० नगेन्द्र, १९५५
११६. हिन्दी व्याकरण—दुनीचन्द सं० २००७
११७. हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु, सं० २०१४
११८. हिन्दी समास-रचना का अध्ययन—डॉ० रमेशचन्द्र जैन, १९६४
११९. हिन्दी सन्त साहित्य—डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, १९६३
१२०. हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, प्रथम संस्करण।
१२१. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड)—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, १९५९
१२२. हिन्दी साहित्य का अतीत—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, २०१५
१२३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—सं० डॉ० नगेन्द्र, सं० २०१५ (षष्ठ भाग) रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य
१२४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१२
१२५. हिन्दी-साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५४
१२६. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५७

१२७. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (सं० ७५०-१७५०)— डॉ० रामकुमार वर्मा, १९५८

(२) अंग्रेजी—

1. A Basic Grammar of Modern Hindi—Govt. of India, Ministry of Education & Scientific Research, 1958.
2. A Course in Modern Linguistics—Charles F. Hockett, 1963.
3. A Grammar of the Hindi Language—Kellogg, 1938.
4. An Introduction to Descriptive Linguistics—H. A. Gleason, 1958.
5. An Introduction to Zen Buddhism—Dr. D. T. Suzuki 1949.
6. Bhoja's Srangara Prakasa—Dr. V. Raghavan, Vol. I—II. Karnatak Publishing House, Bombay.
7 Concise Grammar of the Hindi language—H. C. Schoolberg, Third Edition, 1962.
8. Elements of the Science of Language—Taraporewala, 1962.
9. Evolution of Awadhi—Dr. Baburam Saxsena, 1937.
10. Historical Grammar of Apabhramsa—Dr. V. G. Tagare, 1948.
11. Indo Aryan and Hindi—Dr. S. K. Chatterji, 1942.
12. Introductory Linguistics—Robert A. Hall, Jr., 1969
13. Kabir and The Kabir Panth—G. H. Westcott, 1953.
14. Language—L. Bloomfield, 1957.
15. Language and Reality—W. M. Urban, 1961.
16. Linguistic Peculiarities of Jnanesvari, Dr. M. G. Panse, 1953.
17. New Trends in Linguistics—Bestil Malmberb, 1964.
18. One Hundred Poems of Kabir—Rabindra Nath Tagore, 1923.
19. Principles of Literary Criticism—I. A. Richards, 1961.
20. Seven Types of Ambiguity—William Empson, 1956.
21. Some Concepts of The Alankara Sastra—Dr. V. Raghavan, 1942,

22. Symbolism and American Literature—Feidelson, 1962.
23. Formation of The Maithili Language—Dr. Subhadra Jha, 1958.
24. The Heritage of Symbolism—C. M. Bowra, 1954.
25. The Origin and Development of The Bengali Language—Dr. S. K. Chatterji, 1926.
26. Trends in Literature—J. T. Shipley, 1949.

(३) **कोश-ग्रन्थ**

अमरकोश—श्रीमदमरसिंह विरचित, १९५२

उर्दू-हिन्दी कोष—श्रीरामचन्द्रवर्मा, १९४०

वृहद् हिन्दी कोश

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४

A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language—R. L. Turner, 1931.

A Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English, I, II,—John T. Platts, 1884.

A Sanskrit-English Dictionary—Sir Monier Williams, 1956.

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12—Edited by James Hastings, 1958.

(४) **पत्र-पत्रिकाएँ**

कल्याण-संत अंक-सं० १९९४ का विशेषांक

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, परिषद् पत्रिका

हिन्दुस्तानी, हिन्दी अनुशीलन ।